बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

ए. अरविंदाक्षन

सह सम्पादक

कृष्ण कुमार सिंह, शंभु गुप्त

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक

सयुक्तांक : 26-27 (जुलाई-सितम्बर,2010 ; अक्टूबर-दिसम्बर,2010)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरणः कृति : पॉल क्ली, संयोजन : अशोक सिद्धार्थ

सम्पादकीय कार्यालय :
सम्पादक, बहुवचन
प्रतिकुलपति कार्यालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से म.गा.अ.हि.वि., वर्धा
या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत
फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903
तारः हिन्दीविश्व

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से इस पते पर भेजें —
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
Published by Mahatma Gandhi International Hindi University
P.B. NO. 16, PANCHTEELA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

अनुक्रम

सम्पादकीय / 5

जन्मशती का संदर्भ

नागार्जुन : और-और कवि, और-और छवि / 9
नामवर सिंह

शमशेर : एक नूतन काव्यशास्त्र की तलाश / 15
विजेन्द्र नारायण सिंह

वैकल्पिक आधुनिकता का कवि / 27
शंभुनाथ

कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति / 47
रविभूषण

समय संदर्भ

पूंजीवाद और जाति सापेक्षता / 60
रामशरण जोशी

बदलता ग्रामीण परिवेश / 69
गिरीश मिश्र

इतिहास और ऐतिहासिकता : सन्दर्भ १८५७ / 76
हितेन्द्र पटेल

एक दिन पेरिस / 85
कर्मेंदु शिशिर

रचना संदर्भ

कविता

आलोकधन्वा / 101
एकान्त श्रीवास्तव / 109
बोधिसत्व / 113

कहानी

मुसुआ / 121
हरि भटनागर

साहित्य-संदर्भ

भूमण्डलीकरण और साहित्य / 126
प्रभाकर श्रोत्रिय

कविता के भविष्य का प्रश्न / 132
अरुण कमल

भुवनेश्वर : भुला दिये जाने वाले साधारण लेखक नहीं / 141
अनिल राय

अन्तर्संवाद

गुरुदेव और महात्मा / 165
विनोद तिवारी

'गीतांजलि' : अनुवाद की समस्याएँ / 176
रणजीत साहा

.. 'तुम मुझे पुकार लो' / 179
केशुभाई देसाई

सम्पादकीय

इस संयुक्तांक के आरंभ में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह और अज्ञेय पर उनकी जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में चार लेख हम दे रहे हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ पर उन पर लेख देने के बदले हमने यह उचित समझा कि महात्मा गांधी और रवींद्रनाथ ठाकुर के बीच जो पत्राचार हुआ है, उस पर एक विस्तृत टिप्पणी दी जाए। इससे दो महत्वपूर्ण मनीषियों की विचारधाराओं का व्यापक क्षितिज हमें प्राप्त हो जाता है। अलावा इसके गीतांजलि के अनुवाद पर भी सामग्री दी जा रही है।

अन्य सामग्री के चयन में हमारी प्राथमिकता विषयवस्तु और प्रस्तुति की विविध आयामिता रही है। साहित्य से लेकर समाज तक, व्यवस्था से लेकर वैश्विकता तक की सामग्री इस अंक में शामिल है। इसका उद्देश्य सिर्फ इतना है कि हमारे बहुलतावादी समाज में ऐसे अनेकानेक विषय हैं जिन पर अधिकाधिक चर्चा संभव हों। एक विचारशील पत्रिका के नाते विचारों के दृश्यपट को सामने लाना ही बहुवचन की रचनात्मक भूमिका है।

एक स्वस्थ समाज में संवाद का महत्व सर्वाधिक है। लेकिन लगता यही है कि हमारा संवाद टूटता जा रहा है, बिखरता जा रहा है और स्वस्थ समाज की हमारी संकल्पना अधूरी-सी मालूम पड़ रही है। यह एक प्रीतिप्रद स्थिति नहीं है। आज हमारे समाज की पूरी दृश्यात्मकता जिस द्रुतगति से पतन की ओर उन्मुख दिखाई दे रही है वह अतिदारुण तो है ही; उससे ज्यादा वह अमानवीय है। शब्द और संवाद के अस्तित्व पर बल देने वाली पत्रिका के नाते बहुवचन ऐसी सामग्री के साथ सदैव प्रस्तुत होना चाहती है जिसमें अमानवीयता के प्रतिरोध में दर्ज किये गये शब्द रहें तथा संस्कृति को विकृत करने वाली अदृश्य शक्तियों का पर्दाफाश करने लायक अग्नि सुरक्षित रखी जा सके।

इतिहास-दृष्टि और प्रासंगिकता साहित्यिक पत्रकारिता का मेरुदण्ड होता है। सान्दर्भिकता इसी मेरुदण्ड को मज़बूत करती है। यहाँ सन्दर्भानुसार सामग्री का संयोजन इसी तर्क के तहत है।

बहुवचन का एक और लक्ष्य है। भारत के हर प्रदेश की वैचारिकता और रचनाशीलता को हम पत्रिका में स्थान देना चाहते हैं ताकि प्रत्येक पाठक अपना एक विशिष्ट 'स्पेस' पत्रिका में पूरी ऊष्णता के साथ महसूस कर सके। बहुवचन के आगामी अंकों में ऐसी सामग्री को विशेष प्राथमिकता दी जाएगी।

विचारशीलता एवं रचनाशीलता के और भी कई माध्यम हमारे यहाँ सक्रिय हैं जैसे फिल्म, चित्रकला, वास्तुशिल्प आदि। इन माध्यमों को भी बहुवचन में समेटने का सम्यक् प्रयत्न रहेगा।

इस अंक की सामग्री के संबंध में पाठकों की प्रतिक्रियाओं की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

ए. अरविंदाक्षन

जन्मशती का संदर्भ

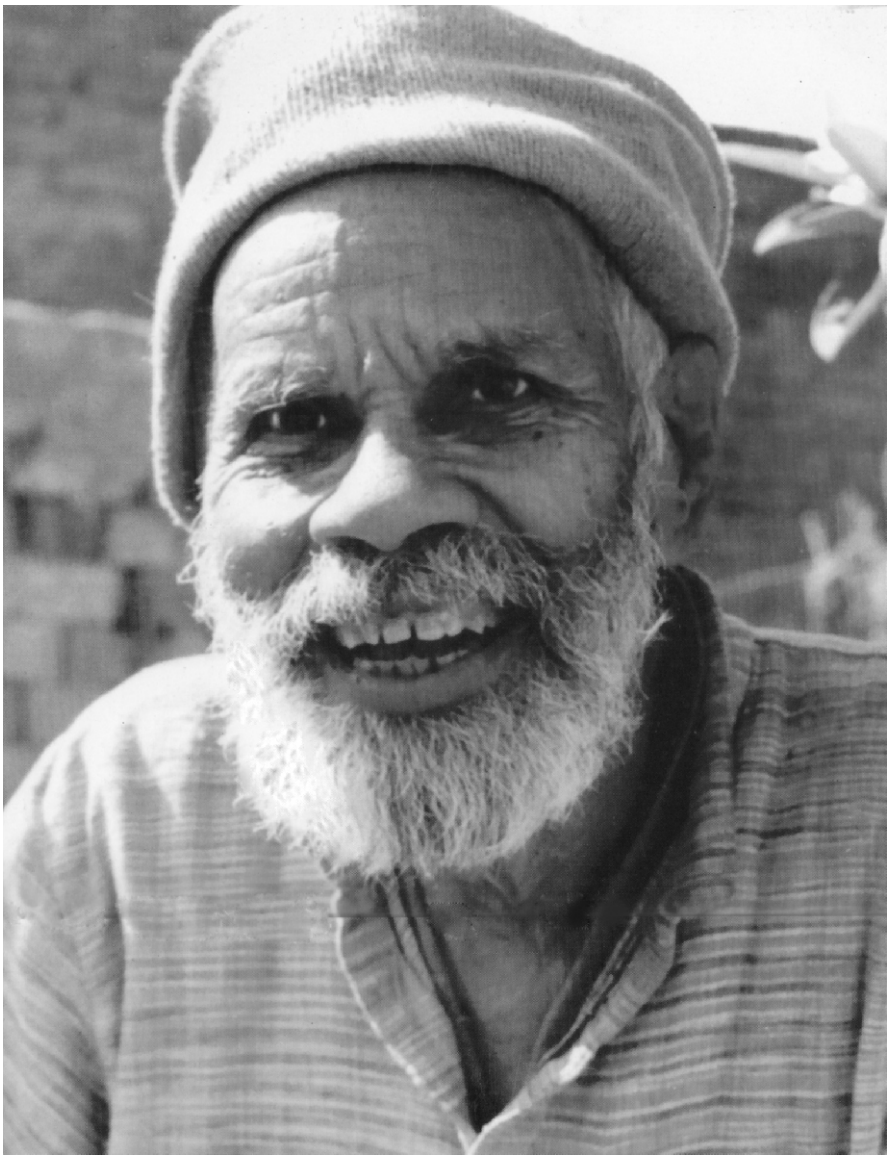

नागार्जुन

नागार्जुन : और-और कवि, और-और छवि

नामवर सिंह

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के हबीब तनवीर सभागार में दो-दिवसीय 'जन्मशती का सन्दर्भ' कार्यक्रम में दिनांक ०२ अक्टूबर २०१० को प्रस्तुत उद्घाटन-वक्तव्य के प्रमुख अंश।

२०वीं शताब्दी बहुत सी बातों के आरंभ की शताब्दी और बहुत सी बातों के अंत की शताब्दी है। २०वीं शताब्दी का अर्थ है दो विश्वयुद्ध। इसके पहले विश्वयुद्ध नहीं हुए थे और इस विश्वयुद्ध से पैदा क्या हुआ? इसी शताब्दी के खत्म होने से पहले समाजवाद का अंत भी हुआ। इसलिए यह शताब्दी बहुत सी बातों के आरंभ का सूचक है और अंत का भी सूचक है। एक ही शताब्दी में इतिहास कैसे करवट बदलता है। इसी शताब्दी में उपनिवेशवाद का अंत हुआ और जिसके कारण हमारा देश स्वतंत्र हुआ। इसलिए उपनिवेश का अंत भारत के लिए विशेष महत्व रखता है और साथ ही नये ढंग से नये उपनिवेशवाद का आरंभ भी हुआ है। उसी शताब्दी में फासीज्म का अंत हुआ है, जिसका अंत समाजवाद ने किया है। और इसी शताब्दी के ढलते-ढलते और उसके बीच में ही नवस्वतंत्र देशों में एक नये ढंग के फासीज्म की शुरुआत हुई जो धार्मिक फासीवाद है। और लगभग दिखाई पड़ रहा है कि उभरते हुए इस २१वीं शताब्दी में वह एक बहुत बड़ी चुनौती के रूप में हमारे देश में तो है ही दूसरी दुनिया के देशों में इसका असर क्या होगा मैं नहीं कह सकता। इसी शताब्दी में तीन दुनियाएं बनीं। पहले तो एक विश्व की बात थी जो वन वर्ल्ड नाम से किताब भी लिखी गयी। लेकिन इसी शताब्दी में पहली दुनिया, दूसरी दुनिया और तीसरी दुनिया बनी। और अंत में इसी शताब्दी में तीनों खत्म होकर सिर्फ एक दुनिया रह गयी। और उस एक दुनिया का स्वरूप क्या

है?और किन लोगों ने खत्म किया है? इस संदर्भ को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए। और इसी शताब्दी में एक और बात हुई जो १९वीं शताब्दी में हुई है- राष्ट्रवाद का उदय। और धीरे-धीरे हम लोग देख रहे हैं और अपने ही देश को हम लें तो राष्ट्र खण्ड-खण्ड हो रहा है, टुकड़े-टुकड़े भी हो रहा है। अब राष्ट्र का अर्थ केवल फासीवादी लोग लेते हैं। जो लोकतांत्रिक शक्तियां हैं वह एक राष्ट्र को नहीं बल्कि राष्ट्र की परिकल्पना बहुराष्ट्रीयता वाली बात है। मल्टीनेशनल कंपनियां ही नहीं बल्कि अपने ही देश में हम देखें तो जो राष्ट्रीय भावना आजादी की लड़ाई के बारे में एक भारत के रूप में थी वह अनेक भारत के रूप में है और उसमें से छोटी से छोटी इकाईयां; इसका अनुमान आप इसी से लगा सकते हैं कि संविधान जब हमारा बना था तब कुल कितने राज्य थे; कुछ दिनों बाद उससे और जुड़े। पुनः निर्माण हुआ। आज जो महाराष्ट्र दिखाई पड़ रहा है वह पहले महाराष्ट्र नहीं था, आज जो गुजरात दिखाई पड़ रहा है वह गुजरात नहीं था, और तो और टूटन जो हो रही है उसको भी नहीं भूलना चाहिए। लगभग राष्ट्र नाम की इकाई एक तरह से १९वीं शताब्दी की परिकल्पना रह गयी है। और राष्ट्र की वही अहमियत नहीं है वही अर्थ नहीं है क्योंकि हमारे यहां बहु राष्ट्र की परिकल्पना है। आज जब कोई राष्ट्र का नाम लेता है तो देखते हैं; वे फासीवाद की ताकतें राष्ट्र का ज्यादा नाम लेती हैं। वे लोग नहीं लेते राष्ट्र का नाम जो फासीवाद से लड़ रहे हैं।

इन सारे के सारे परिवर्तनों के बीच में, इस पूरे संदर्भ में बदली हुई शताब्दी में हम चार और एक पाँच कवियों की जन्म शताब्दी मना रहे हैं। मैंने जानबूझ के नार्गाजुन को चुना है। उनकी कविताओं का एक चयन मैंने राजकमल से छापा था। उसकी एक छोटी सी भूमिका मैंने लिखी थी। मुझे नार्गाजुन में दो पुरानी परंपराओं का मेल मिलता है; कई दृष्टियों से। एक हैं कबीर और दूसरे हैं निराला। यद्यपि नागार्जुन ने कोई 'राम की शक्ति पूजा' नहीं लिखी है 'सरोज स्मृति' भी नहीं लिखी हैं, 'तुलसीदास' भी नहीं लिखी है इसलिए तय है कि निराला, निराला हैं उनकी जोड़ का दूसरा कोई नहीं है। कोई उनकी प्रतिलिपि नहीं है। लेकिन इस पूरे दौर में जो मूल आधार है, जिन दो कवियों ने उस अपने मूल; जिसको लोक आधार मैं कहता हूँ; केदारनाथ और नार्गाजुन दो कवि हैं। उनकी भाषा बोलती है उनका अंचल बोलता है। चाहे केदार बाबू का वह बुन्देलखण्ड हो चाहे नार्गाजुन का। मैं ही नहीं बल्कि समूचा हिंदी प्रदेश बोलता है। इसलिए जमीन से जुड़े हुए और उस जमीन की जमीनी भाषा जो बोलता है। कविता किसी साहित्य की पहचान होती है जो कि वो जो बोलता है उसकी भाषा क्या है। किस भाषा में बात करता है। शास्त्र की भाषा में बात करता है या कहना चाहिए कि सरकारी हिंदी में कविता लिखने की कोशिश करता है;

विश्वविद्यालयी हिंदी जो हिंदी विभागों में या विद्यालयों में आजकल चलती है। ये ठेठ लोक जुबान से फूटी हुयी भाषा है। मैं कहता हूँ कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल की सूची उनके शब्दों, क्रियाओं की सूची आप लोग बनाएं। उनकी भाषा का पता; उनकी क्रियाओं से उनकी ताकत का पता चलता है। संज्ञाओं से नहीं पता चलता, विशेषणों से पता नहीं चलता। उन क्रियाओं से, एक जो मजबूत जनाधार है जिसे आत्मसात करके उसे जनता की बोली बल्कि उसके दुख-सुख, संघर्ष की पूरी की पूरी दास्तान लिखते हैं। अब देखें तो इस दौर की भारत की जो आम जनता है भूखी है जो लड़ रही है, दबी कुचली है और तन के खड़ी है। उन कविताओं को और यही नहीं बल्कि कहना चाहिए कि खड़ी बोली के अलावा जिन्होंने अपने अंचल मिथिला को भी नहीं छोड़ा है। मैथिली में भी कविता लिखी है। यद्यपि मुझे याद नहीं है कि केदारबाबू ने बुंदेलखंडी में लिखी है कि नहीं लेकिन छौंक तो उनमें बुंदेलखंडी की प्रचुर मिलती है, भले ही न लिखा हो। लेकिन नागार्जुन तो चूँकि

विद्यापति के देश के हैं इसलिए उनकी कविताएं उतनी ही महत्वपूर्ण हैं मैथिली की भी जितनी कि उनकी हिंदी की हैं। ये लोकनिष्ठा जो केवल दो कवियों का नाम लेकर के और सही हमारे परम्परा के सक्षम कवि हैं बल्कि अज्ञेय शमशेर; कोई इसमें विरोध नहीं है। सवाल ये है कि उस जनता की आवाज में वाणी में शब्दों में; और उन चीजों को लेकर और उनमें खास बात कि जो कविता के विषय नहीं हो सकते थे उनको कविता में प्रवेश कराया। साहित्य की जो ये पवित्र सी दुनिया है उस संभ्रांत दुनिया में कुछ ऐसे चरित्रों का समावेश कराया है जिसको प्रेमचंद ने कहानियों या उपन्यासों में जगह दी है। कविता में तो इनके लिए जगह थी नहीं जो कविता की दुनिया में प्रवेश करते। ऐसे लोग नहीं थे। नागार्जुन की कविताएं आप लोगों ने पढ़ी होंगी और जिसे कहें कि रसों में श्रृंगार रस रसराज होता ही है और प्रेम की कविता सबसे ज्यादा लिखी जाती है। कविता का मतलब प्रेम की कविता समझा जाता है गीत को खासकर समझा जाता है। लेकिन एक बीभत्स नाम का रस होता है और बीभत्स रस भी रस कहा गया है। अगर ढूंढे तो अज्ञेय ने या शमशेर की कविताओं में श्रृंगार रस ही ज्यादा मिलेगा; रसराज, नौ रसों में कविता लिखना। नागार्जुन में बीभत्स रस तो शीर्षरस की तरह है, उसे रस बनाया उन्होंने। कुछ उदाहरण देना चाहता हूँ- आत्मचित्र जो नार्गाजुन के जितने हैं उनको खास तरह से देखें। कवि की जो एक बनी बनायी प्रतिमा है; बड़ी सभ्य। छायावाद को पहचानते ही हैं पंत जी के बालों के कारण। तो कवि की जो छवि है उस छवि से अलग जो लोक कवि होता है उसकी क्या छवि है?अपनी छवि उन्होंने; एक छोटी सी कविता का टुकड़ा है कि - ये बनमानुष ये सत्तर साला उजबक उमंग में भरकर सिर के बाल नोंचने लग जाता है अकेले में बजाने लगता है सीटियां आए दिन। ये सत्तर साला उजबक जो है; अपने ऊपर ही या तो निराला हंस सकते थे या उसके बाद हंसने वाला केवल नागार्जुन है। दुनिया पर तो सभी हँसते हैं लेकिन अपने उपर कोई नहीं हँसता। कवि की बनी बनायी जो छवि होती है छायावादियों की खास अलग किस्म की। निराला की एक अलग छवि मालूम होती है। इसलिए मैंने कहा कि निराला की परंपरा के समूह में आते हैं। कवि की एक नयी छवि- कवि और और कवि दे वह और और छवि दे वह। ये पंक्तियां निराला की हैं। तो जब भी नागार्जुन को पढ़ता हूँ तो और और कवि और और-और छवि वाला पाता हूँ। उन्होंने दोहे लिखे और क्या दोहे लिखे हैं! आम तौर से रहीम के दोहे, कबीर के दोहे, तुलसी के दोहे, ये दोहा जो है हमारा हिंदी की विजातीय पहचान है। छंद; हर भाषा का एक अपना छंद होता है। मराठी का अपना छंद, बंगाली का अपना छंद। मराठी का एक अपना छंद है जिसमें तुकाराम ने लिखा है, बाकी लोगों ने भी लिखा है। हर भाषा का, कविता का एक अपना दुलारा छंद होता है। और दोहा को, जिसे हम संस्कृत का 'श्लोक' कहते हैं- 'अनुष्टुप्'। जिस 'अनुष्टुप्' में बाल्मीकि वाणी पहली बार फूटी। ये दोहा हमारा अपना हिंदी का छंद है और किसी अन्य भाषा में दोहा नहीं है। हिंदी से निकला है और अगर कहीं गया है तो हिंदी से होकर गया है। दोहा गाया भी अच्छा जाता है बहरहाल वह क्षमता मुझमें नहीं है। उनके दो दोहे मैं सुनाता हूं -

खड़ी हो गयी चापकर, कंकालों की हूंक।
नभ में विपुल विराट सी, शासन की बंदूक।।

तो एक चित्र बनता है इन दो पंक्तियों में .. कि खड़ी हो गयी चापकर कंकालों की हूक, हूक खड़ी हो रही है कंकाल नहीं खड़े हो रहे हैं। और आदमी नहीं खड़ा हुआ उसकी हूक खड़ी हो गयी।

जवाब दे रही है। कई शब्द आते हैं लेकिन बंदूक के जवाब में हूक का खड़ा होना ये है नागार्जुन।

जली ठूंठ पर बैठ कर गई कोकिला कूक।
बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक।।

इसलिए ये दमन अत्याचार की ताकत दिखाते हुए भी उसके विरुद्ध उठी हुयी आवाज रिरियाते हुए कुत्ते वाली आवाज नहीं है। ताकत देती है जो कविता की ताकत है इसे नागार्जुन ने इस दोहे के द्वारा सिद्ध किया है। आज के मूर्धन्य कवियों के दौर में केवल नागार्जुन के दोहे याद रखे जा सकेंगे और कोई दोहे नहीं।

बड़ा कवि वह होता है जो सौंदर्यबोध को बदलता है। आप इसे सुंदर मानते हैं तो यह सुंदरता है। ये ललित लवंगलता पद शीलन.... जहां सौदर्य का पददीप हुआ करता है, नागार्जुन में भी दिखता है। जिन लोगों को नेवले पर भी कविता लिखी जा सकती थी, मादा सुअर पर एक कविता है। एक सज्जन हमारे विनोद में कहा करते हैं एक ऐसी उमर आती है, हे सखी, खास उमर में यह कि सुअर भी सुंदर लगा करते हैं। मादा सुंदर। शीर्षक है पैने दाँतों वाली। भला कटहल भी शीर्षक हो सकता है? एक कविता कटहल पर लिखी है और रिक्शा चलाने वाले लोग जो हैं उसके जो खुरदरे पैर हैं जब रिक्शे पर बैठते हैं और डाँटते भी है जब धीरे-धीरे चलते हैं, गालियां भी देते हैं। नागार्जुन की नजर उसके खुरदरे पैरों पर है जिससे वह चलता है। और वह ड्राइवर जो सरदार जी गाड़ी ड्राइव कर रहे हैं और आगे गुलाबी चूड़ियां लटका रखी हैं। और अपनी बेटी, उसके लिए गुलाबी चूड़ियां रखता है। इसमें कहीं कुछ नहीं वात्सल्य रस किस तरह पैदा करता है आम आदमी। वो उसमें दिखाया उन्होंने। एक कविता लिखी है उन्होंने, घिन तो नहीं आती, बीभत्स रस की। बीभत्स रस जिसको कवियों ने छोड़ दिया है। बीभत्स का वर्णन सीमित कर दिया गया है कि वह श्मशान के समय ही उपयोग में लाया जा सकता है और कहीं नहीं। लेकिन जिसका जीवन संघर्ष, जिंदगी श्मशान ही बन गयी हो उस जिंदगी में श्मशान कौन-कौन सी चीजें हो सकती हैं!

गांधी जी के 'तीनों बंदर बापू के' वाली कविता जरूर पढ़ी जानी चाहिए। तीनों बंदर बापू के-तीनों बंदर बापू के... और किस तरह बाबा नाचते हुए यह कविता सुनाया करते थे। पूरी जनता उनके साथ गाया करती थी। इसलिए बापू को तो याद किया करते हैं पर तीनों बंदरों को कोई नहीं याद करता है। खासकर गांधी शांति प्रतिष्ठान वाले और राजघाट वाले और दुनिया भर के। चरखा कातते हैं लेकिन असल चीज तो गांधी जी के तीनों बंदर हैं। मुश्किल यह है कि जो याद करने वाले लोग हैं क्षमा करें बुरा न मानें.. बंदरों को नहीं समझ सके। इसलिए गांधी जी को इन्होंने अजीब निरामिष वगैरह-वगैरह तरह का प्राणी बता दिया है। नागार्जुन कैसे याद करते हैं गाधी जी को। इस तरह नागार्जुन की कविताएं हैं। एक कविता और सुनाकर; इसलिए कि अज्ञेय जी ने इस कविता का उपयोग किया है अपने ढंग से। प्रतीक जो निकाला था उन्होंने जो इलाहाबाद से; उसके सातवें अंक में; नागार्जुन का नाम नहीं लिया है। अति श्रेष्ठ आदमी थे, नाम नहीं लेते थे। बिना नाम लिए एक कविता लिखा, मैं उसकी पैरोडी प्रस्तुत करता हूँ, पांच पूत भारत माता के। वो सुनाकर मैं इजाजत लेता हूँ।

कविता आपको याद होगी, क्या कविता है! बहुत दावा करते हैं प्रगतिशील और नयी कविता

वाले लोग कि वह बहुत प्रयोग करते हैं। अकेले; मैं कहना चाहता हूं कि नागार्जुन ने जितने प्रयोग किए हैं कविता में उतने अज्ञेय ने नहीं किए, शमशेर ने नहीं किए हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने जितने प्रयोग किए हैं। प्रयोगवाद के नाम पर ये लोग जो हल्ला मचाते हैं; उससे ज्यादा कविता के रूप विधान में, भाषा में सबसे ज्यादा प्रयोग नागार्जुन, केदारनाथ ने किए हैं। और इस पर जोर देना चाहिए लोगों को। झूठा वाद है प्रयोगवाद, कोई प्रयोग-व्रयोग नहीं किया है इन लोगों ने। वैसे ही जैसे कोई वैज्ञानिक हो और उसके पास प्रयोगशाला हो ही नहीं। प्रयोगशाला सबसे बड़ी कवियों के लिए लोक जीवन है। लोक जीवन में वह प्रयोग को नहीं देखता है तो अपनी कोठरी में बैठकर चाहे जितनी दण्ड बैठक किया करे! उस प्रयोगशाला से पांच पूत भारत माता के दुश्मन था खूंखार, गोली खाकर मर गया एक बाकी बचे, पाठक कहते हैं चार। एक क्रांतिकारी कविता की पैरोडी उन्होंने किसी रूप में की है। ये पाठक और कवि के बीच जो होता है कि जो आप कहना चाहें वह पाठकों के बीच से निकलता है। चार पूत भारत माता के चारों चतुर प्रवीण और देश निकाला गया एक को बाकी रह गए तीन, तीन पूत भारत माता के लड़ने लग गए खुद। अलग हो गया एक उधर, अब बाकी रह गए दो। दो पूत भारत माता के, छोड़ पुरानी टेक, चिपक गया है एक गद्दी से, बाकी रह गया एक। जहां कविता खत्म होती है क्या क्रम चलता है- एक पूत भारत माता का कंधे पर है झंडा, नाम नहीं लिया है कि झंडा किसका है?नाम नहीं लिया है बता दिया है कि झंडा किसका है। उसे पकड़ कर ले गई पुलिस बाकी रह गया अंडा।

इसलिए झंडे के साथ आपके पास अंडे को रखे जा रहा हूं ताकि इससे मुझे उम्मीद है अच्छे-अच्छे बच्चे निकलेगे।

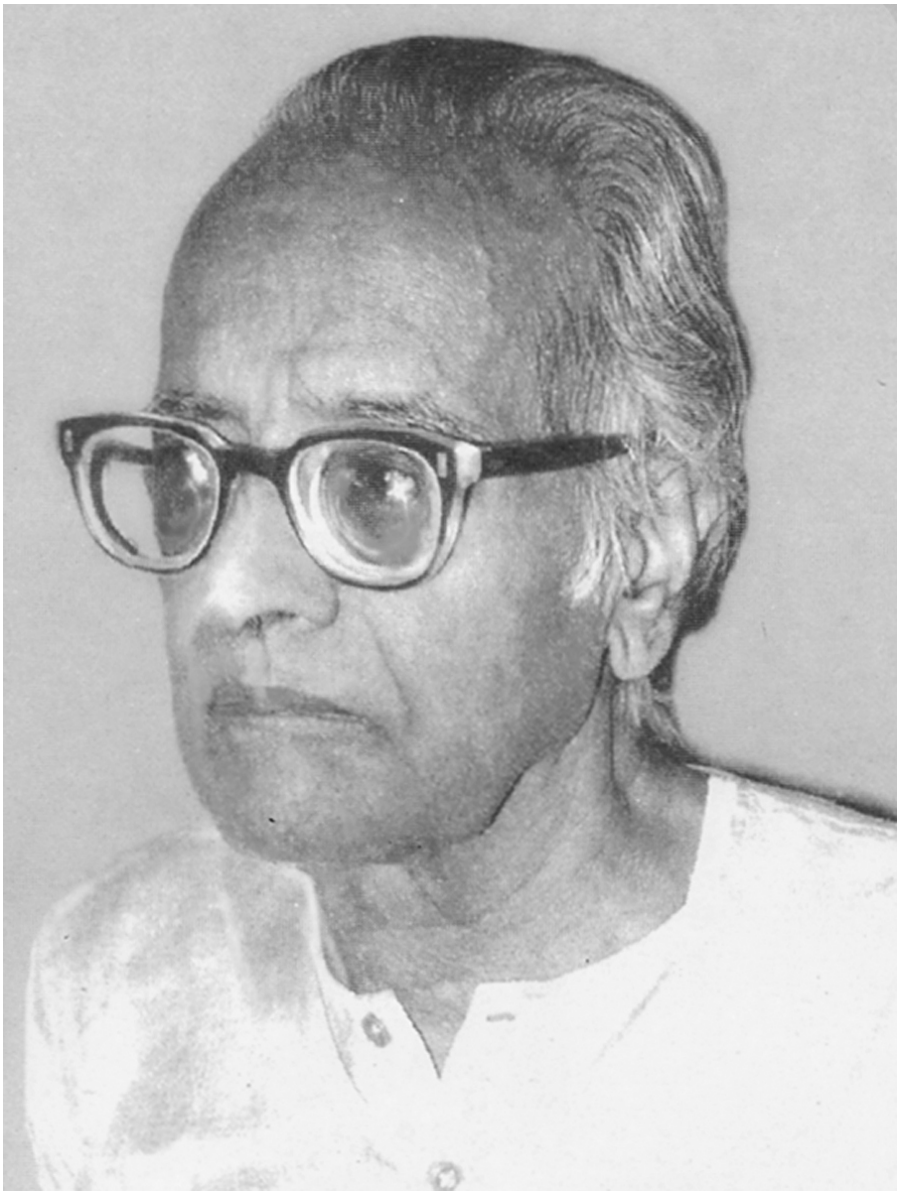

छायाचित्र : लक्ष्मीधर मालवीय

शमशेर

शमशेर : एक नूतन काव्यशास्त्र की तलाश

विजेन्द्र नारायण सिंह

शमशेर की कविता पर विमर्श कहाँ से शुरू करें इसकी एक कठिनाई तो है ही। वे कवि 'दूसरा सप्तक' के हैं न कि 'तार सप्तक' के। 'तार सप्तक' के सभी के सभी कवि किसी न किसी रूप में मार्क्सवादी थे पर 'दूसरा सप्तक' के कवियों के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती है। इन कवियों में विचारधारागत साम्य नहीं है। शमशेर विचारधारा से साम्यवादी हैं। 'समय साम्यवादी' उन्हीं का मुहावरा है जो हिन्दी में खरे सिक्के की तरह चला। बीसवीं सदी में हिन्दी के बौद्धिक परिवेश का इससे अच्छा मुहावरा हिन्दी के किसी अन्य रचनाकार ने नहीं दिया। पर, साम्यवाद उनकी विचारधारा है, उनकी चेतना और संवेदनशीलता नहीं। मार्क्सवाद उनके चित्त में समाहित नहीं है। इस कारण वह उनकी कविता में केन्द्रीयता प्राप्त नहीं कर सका है। यह उनका 'संवेदनात्मक ज्ञान' नहीं है। वह हाशिये पर रह गया है। यह मार्क्सवाद उनकी कविता में विचार की तरह आया है, यथार्थ की तरह नहीं। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं पर इसका प्रभाव बहुत क्षीण है जबकि मुक्तिबोध में यह प्रभाव बहुत अधिक है। मार्क्सवाद शमशेर में बाह्यजगत का अंश है। यह आभ्यन्तर से एकजुट होकर द्वन्द्वात्मक अद्वैत नहीं बन सका है। यहीं मुक्तिबोध उनसे भिन्न भूमि पर खड़े होते हैं। मार्क्सवाद मुक्तिबोध के चित्त में प्रवेश कर गया है। यह 'समय साम्यवादी' संवेदनशीलता के रूप में मुक्तिबोध की कविता में आता है। मुक्तिबोध वर्ग-संघर्ष के कोलाहल के बीच लिख रहे हैं। इस कारण मुक्तिबोध में एक बड़े कवि की प्रशांति का अभाव है। पाब्लो नेरुदा ने यह प्रशांति प्रेम कविता लिखकर प्राप्त की थी। मुक्तिबोध के लिए यह वर्जित क्षेत्र रहा। बाद की पीढ़ी उनके इस निषेध पक्ष पर विस्मय करती रहेगी। मुक्तिबोध के ठीक विपरीत शमशेर कोलाहल के नीचे, सतह के नीचे चले जाते हैं और वे प्रभाववाद और अतियथार्थवाद की छाया में रचने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि 'समय साम्यवादी' उनका निजी रुझान नहीं है वरन् यह हिन्दी साहित्य का बौद्धिक रुझान है। शमशेर की कविता में जो

विचारधारा की धार की कमी दीखती है, उसका कारण यही है।

शमशेर का 'समय साम्यवादी' हिन्दी में एक अमर मुहावरा बन गया है हालाँकि मुक्तिबोध की तरह वे धुर 'वाम पक्षवादी' नहीं हैं। उनके जैसे कोमल मन का व्यक्ति न तो विद्रोही हो सकता है, न क्रांतिकारी। आज जब हम इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में प्रवेश कर गये हैं तब मार्क्सवाद की आलोचना करना काफी आसान है। संचार माध्यम और मीडिया की इतनी बड़ी क्रांति ने इसकी अपूर्णताओं और सीमाओं को बहुत स्पष्ट कर दिया है। पर तब भी, मार्क्सवाद ने इतिहास में इतना गहरा प्रवेश पा लिया है कि बहुत लोग, जिनमें बुद्धिजीवी सबसे अधिक हैं, बिना जाने भी मार्क्सवादी हो जाते हैं। पिछले सवा सौ वर्षों से इतिहास मार्क्सवाद के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। हमारी नैतिकता, भविष्य की हमारी धारणा, वर्तमान के सम्बन्ध में हमारी राय, युद्ध या शांति, हर चीज जिसमें मार्क्सवाद का अस्वीकार भी शामिल है, मार्क्सवाद से संसेचित है। शमशेर का 'समय साम्यवादी' ऐसा ही बौद्धिक निषेचन है। उन्हें मुक्तिबोध से भिन्न कोटि में रखना चाहिए। आज जब कि वर्ग-संघर्ष साहित्य के केन्द्र में उस तरह नहीं रह गया है और मार्क्सवाद नयी पीढ़ी की मुख्य प्रेरक विचारधारा नहीं रह गयी है तब 'वाम वाम वाम दिशा' का भी आकर्षण क्षीण पड़ गया है। साहित्य में, कविता में विचारधारा की केन्द्रीयता क्षीण हुई है।

शमशेर बहादुर सिहं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी जैसी कविता की कोई परम्परा नहीं है। उन्हें कोई सीढ़ी नहीं मिली। जिस सीढ़ी से वे शिखर पर चढ़े वह उन्होंने स्वयं बनायी। जब कवि की कोई परम्परा नहीं होती तब कवि को समझने में कठिनाई होती है। साथ ही उन्होंने कोई परम्परा छोड़ी भी नहीं है। बाद की पीढ़ी के कवियों ने या तो अज्ञेय की तरह लिखा या मुक्तिबोध की तरह। पर उनमें से किसी ने शमशेर की तरह नहीं लिखा। कारण यह है कि वस्तु और शिल्प का अनुकरण तो शक्य है पर आत्म का अनुकरण शक्य नहीं है। शमशेर की कविता आत्म की कविता है। आत्म के निजत्व का अनुकरण संभव नहीं है।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''शिल्प की दृष्टि से, शमशेर एक अद्वितीय कवि हैं।'' यह तो ठीक है लेकिन शिल्प की अद्वितीयता वस्तुविन्यास की मौलिकता से उत्पन्न होती है। यह तभी संभव होता है जब उसका आत्म कुछ नया ग्रहण कर रहा है। आत्म नये का ग्रहण नवीन कोण से करता है। ग्रहण का यह नया कोण ही शिल्प है। नये कोण से वस्तु के भावन से एक नये शिल्प की रचना होती है। इसके बिना कवि अस्तित्ववान नहीं होता है। चीजों का समग्र रूप में भावन कवि या चित्रकार किसी के लिए भी संभव नहीं है। कवि या कलाकार भावन आंशिक रूप में ही करता है। शेष छूट जाते हैं, अध्याहार में रहते हैं। जो अध्याहार में रहता है उसके कुछ संकेत मिलते हैं जिसे सहृदय हृदयंगम करता है। इसे ही भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि कहा गया है। यानी न कहकर कह देने की कला ही ध्वनि है, व्यंजना है। शमशेर इसी व्यंजना के बड़े कवि हैं। शमशेर और मुक्तिबोध का यही बुनियादी अंतर है। मुक्तिबोध व्यंजित नहीं अभिव्यक्त करते हैं और इसी कारण वे 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात करते हैं। शमशेर अभिव्यक्त करते ही नहीं हैं, वे केवल व्यंजित करते हैं। इसी कारण उनकी कविता व्यंजना की कविता है। उनमें जितना कुछ मुखर है, उससे अधिक मौन है। शमशेर सभ्यता की उस परत के कवि हैं जिसमें कवि को समझने के लिए सहृदय को अर्थ की कई परत के नीचे जाना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि सृजनशील कल्पना कवि के पक्ष में ही नहीं वरन् सहृदय के पक्ष में भी आवश्यक है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शमशेर अज्ञेय या मुक्तिबोध से बड़े कवि हैं। केवल यह

निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि छायावाद के बाद बीसवीं सदी के चार बड़े कवि अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर और रघुवीर सहाय हैं। श्रेष्ठ कविता लिखने का कोई एक रचनात्मक सिद्धांत नहीं होता है। व्यंजना की कविता श्रेष्ठ होती है पर अभिधा का कवि भी ऊँचाई को छूता है। चूँकि शमशेर खंडों में प्रभाव ग्रहण करते हैं, इस कारण जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण वे नहीं करते हैं। यह उनकी प्रतिभा का क्षेत्र नहीं है। वे सौंदर्य की छवियाँ ग्रहण करते रहे और करुणा की बूँद-बूँद पीते रहे। न तो उन्हें इसका अजीर्ण, अपच है और न अफारा। उनकी ग्रहणशीलता में संतुलन है। इस कारण स्वच्छंदतावादी मन होते हुए भी उनके शिल्प में क्लासिक चुस्ती है। शब्दप्रयोग की बेमिसाल कृपणता उनमें मिलती है। बहुत जगह तो शब्द मंत्र की तरह स्पंदित होते रहते हैं और बहुत दूर तक मन ही नहीं वरन् स्नायुमंडल को भी शांत कर देते हैं। वे बीज के साथ छिलका या भूसा नहीं देते हैं। छिलका या भूसा से भी बीज की पहचान होती है। धान का छिलका या गेहूँ का भूसा एक जैसा नहीं होता। मक्के का छिलका अलग होता है। पर, छिलका हटा देने पर पहचान की कठिनाई बढ़ जाती है। शमशेर इसी कारण दुरूह लगते हैं। कविता में परिस्थिति का चित्र नहीं देते, उसे नहीं आँकते। इस कारण उनकी कविता को समझने में कुछ कठिनाई होती है। लेकिन उनके दाने काफी साफ सुथरे हैं। इस कारण वे संप्रेषित हो जाते हैं।

वस्तुजगत उनके अन्दर प्रभाव छोड़ता है और प्रभाव को वे अपने ढंग से चुनकर ग्रहण करते हैं। यह उनके जीवन और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार होता है। अतः उनकी कविता आत्मगत कविता है। वह प्रगीत की प्रजाति की है। छंद टूटने पर भी एक गहन लय में वह आबद्ध है। शमशेर यथार्थवादी बिल्कुल नहीं हैं। नयी कविता के मुक्तिबोध जैसे वस्तुगत मिजाज के कवि भी उस अर्थ में यथार्थवादी नहीं है जिस अर्थ में हम यथार्थवाद शब्द का प्रयोग करते हैं।

शमशेर का रचनात्मक सिद्धांत उपचार और व्यंजना है। 'सौंदर्य' नामक अपनी एक कविता में वे लिखते हैं :

ओ स्पर्श!
मुझे क्षमा करना
कि तुम मुझी में होकर मुझी से परे हो।
ओ माध्यम!
क्षमा करना
कि मैं तुम्हारे पार जाना चाहता हूँ।

स्पर्श से पार अस्पर्श तक यानी ऐन्द्रिकता से परे जाने की चाह और शब्द का अतिक्रमण कर व्यंजना के अनंत विस्तार को छूने की आकांक्षा यही उनका रचना सिद्धांत है। इस दृष्टि से उनकी कुछ कविताओं पर विचार करें।

उनकी एक प्रसिद्ध कविता 'उषा' है।

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)

ऐसा लगता है कि शमशेर प्रात और भोर में थोड़ा फर्क कर रहे हैं। उनके सादृश्य विधान को देखकर ऐसा लगता है कि अन्तिम बिन्दु फटने को है पर अंधकार जमा है। भोर वह है जिसे पौ फटना कहते हैं। पौ फटना वह है जब पूरब के आकाश में थोड़ी लाली छा जाती है। यही उषा है। कविता की पहली पंक्ति से पांचवी पंक्ति तक प्रात का भोर में, उषा में रूपांतरण की व्यंजना हे। यह रूपांतरण सादृश्य-विधान की रंग-योजना के पार्थक्य से व्यंजित होता है। प्रात का नभ नीले शंख के समान दीखता है। प्रात का लघुपात होता है। वह थोड़ी ही देर, बहुत थोड़ी देर रहता है। शंख ध्वनि के लिए, आवाज के लिए मुख्य गुण धर्म रखता है। यानी रात्रि के अंतिम प्रहर का सन्नाटा जो प्रकृति में सबसे गहन सन्नाटा होता है वह टूटता है। अतः 'नीला शंख' की उत्प्रेक्षा कम से कम दो व्यंजना देती है। एक तो आकाश का रंग काफी नीला है और एकदम साफ है, कोई भी बादल नहीं है, कुहरा नहीं है। दूसरा यह कि प्रात के पात से गहन सन्नाटा टूट गया है और आकाश अब ध्वनियों से पूरित होने लगा है। फिर पूजा का उपकरण होने के कारण शंख से एक पवित्रता, पावनता की भी व्यंजना होती है। लेकिन यह कुछ ही क्षणों में व्यतीत हो जाता है। यह इस मुहूर्त्त की गतिशीलता की ओर संकेत है। तब भोर हो जाती है। यानी सूरज उगा तो नहीं है पर उसका लाल बिम्ब पूरब के आकाश पर पड़ता है और पूरब का आकाश अरुणाभ हो जाता है। अरुण के आने से पहले जो आभा आकाश में पड़ती है, वही उषा है।

अब कवि इस सौंदर्य की व्यंजना के लिए चार सादृश्यविधान का चयन करता है। ये सादृश्यविधान दूरान्तर के सादृश्यविधान हैं यानी उपचार हैं। पहला सादृश्यविधान है राख से लीपा हुआ चौका। नीला शंख का नीलापन अब थोड़ा विगलित हो गया है। अब नीला न रहकर राख के रंग का रह गया है। चूँकि आकाश ओस से सिक्त है, ओस ऊपर से नीचे झर रहे हैं, इस कारण राख से लीपे हुए चौके को गीला बताया गया है। चौका तुरत लीपा गया है राख से, अभी सूखा नहीं है। यानी तुरत का लीपा हुआ कच्चा चौका। यह आकाश में प्रकृति के परिवर्तन का दूसरा चरण है। अब तीसरे चरण का आरंभ होता है। इस तीसरे चरण में ही प्रात का भोर में रूपांतरण की प्रक्रिया पूरी होती है। कवि इसके लिए दो सादृश्यविधान का प्रयोग करता है। काली सिल लाल केसर से जरा-सी धुल गई हो। यानी अब रात की कालिमा अरुण के पूर्व बिम्ब के कारण विगलित हो गई है और अब वह राख के रंग की तरह रह गई है। केसर- लाल केसर सिल पर पीसी जाती है और उसके पीसने से सिल की सतह का रंग, थोड़ा अरुणाभ हो जाता है। सिल का सम्बन्ध रसोई के चौके से है, न कि पूजा के चौके से। इस कारण यह चौका पूजा का न होकर रसोईघर का चौका है। तीसरा सादृश्यविधान है नील जल में जैसे गौर झिलमिल देह हिल रही हो। यह आकाश के रंग बदलने का चौथा चरण है। यानी अब आकाश पर मरीचि आसन्न है। अब आकाश का रंग और साफ हो गया है। किसी की 'गौर झिलमिल देह' व्यंजना से नारी देह और 'झिलमिल' से युवादेह का संकेत मिलता है। नीले आकाश में मरीचि जैसे गौर झिलमिल देह का जल में हिलना।

यह कविता उषा बेला के गतिशील परिवर्तनशील सौंदर्य की व्यंजना करती है। स्पष्ट ही आकाश के रंग परिवर्तन के चार चरण इसमें हैं। पहला है प्रात का नीला आकाश, उसके बाद राख से लीपे चौके की तरह भोर का आकाश, तीसरा चरण है लाल खड़िया के मले जाने का रंग। लाल केसर से सिल धुली है यानी लाली अपेक्षया कम है पर स्लेट पर लाल खड़िया मली गई है इससे लाली अपेक्षया अधिक है। पाँचवें चरण में फरीच का वर्णन है। यानी आकाश कुछ और अधिक साफ हो गया है। यह है गौर झिलमिल देह का हिलना। यानी जिसे हम ब्रह्म मुहूर्त्त कहते हैं उसका उषा में रूपांतरण के

पाँच चरण कवि ने गतिशीलता में व्यंजित किया है। यह जादू है जो सूर्योदय होने से टूट रहा है। यानी प्रात धीरे-धीरे धुलता, खुलता, फैलता जाता है। यह प्रकृति में सूक्ष्म किन्तु क्रमानुसार परिवर्तन का मुहूर्त्त है। 'सुबह' नाम की एक दूसरी बहुत छोटी कविता में कवि उस परिवर्तन का एक भिन्न सादृश्यविधान प्रस्तुत करता है :

जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था
वो पत्थर सजग सा होकर पसरने लगा
अपने आप।

रात का अंतिम प्रहर एक प्रकार का संकोच है- अंधकार जमा हुआ रहता है। यह सिकुड़ा हुआ बैठना है। यह पत्थर सजग होता है यानी जो जड़ था वह अब चैतन्य से पूरित होने लगता है और पसरने लगता है। इस छोटी कविता की प्रविधि अतियथार्थवाद की है। अतियथार्थवाद में बाह्य जगत, जड़ जगत चेतन जैसा गतिशील स्पंदनशील हो जाता है। इस पसरने के क्रम का पाँच चरणों में निरूपण ही 'उषा' नामक कविता में व्यंजित है।

उषा के ठीक विपरीत 'एक पीली शाम' नामक कविता है। उषा के ठीक विपरीत कवि सांझ को मृत्यु का, अंत का प्रतीक मानता है। जीवन का, चिन्मयता का जो प्रसार सुबह से शुरू होता है, उसका सांझ में अंत हो जाता है। इस प्रकार सांझ अस्तित्व के विघटन का प्रतीक हो जाती है। शाम को कवि पीली कहता है। पीला रंग मृत्यु का प्रतीक है। पतझर बसंत का प्रतिलोम है। बसंत में नये पत्ते आते हैं और पतझर में वे पीले पड़कर झर जाते हैं। पतझर में जरा अटका हुआ पत्ता का अटके हुए आँसू में स्थिति का सादृश्य है। यह सादृश्य दूरान्तर का है। पत्ता और आँसू में निकट का सादृश्य नहीं है। अटका हुआ आँसू सांध्य तारक सा अतल में गिरने को ही है। सांध्य तारक थोड़ी ही दूर में क्षितिज के नीचे गिर जाता है। यही अतल है। अटका हुआ आँसू भी उसी तरह गिरने की स्थिति में है। ''इस बिम्ब का पूर्ण संयोजन है, क्योंकि संध्या के तारे का पतझर के पत्ते-सा अटका होना और उसकी 'अब गिरा अब गिरा' की स्थिति पूरी कविता को आंतरिक संगति देती है।'' इसी संदर्भ में 'भावनाओं में कृश क्लांत मुखकमल' प्रमुख हो जाता है।

व्यंजना की एक प्रमुख कविता है 'होली-रंग और दिशाएँ'। शमशेर सौंदर्य के कवि हैं पर संभोग का वर्णन उनकी कविताओं में विरल है। पर, यह कविता होली के प्रसंग में युगनद्ध प्रसंग तक गई है लेकिन संकेत की अल्पता और व्यंजना से ही यह संभव हो सका है। इस कविता में वृत्तांत या वर्णन की विच्छिन्नता, खंड-खंड संरचना और प्रतीकवाद की व्यापक संरचना है। ये सब मिलकर आधुनिक प्रतीक व्यंजना की रचना करते हैं। संरचना की इतनी संश्लिष्टता उत्तरशती के किसी कवि में नहीं मिलती है। अति सुसंस्कृत व्यक्ति की भोगेच्छा ही इतना संवृत रचाव कर सकती है।

इस कविता के तीन खंड हैं। पहले खंड में युवती नारी का रूप वर्णन है। समय रात का है। चाँदनी रात है। सौंदर्य अंग-अंग से फूट रहा है। यानी युवती अंगना है- वह जिसका प्रत्येक अंग सुंदर हो। इस खंड का आरम्भ जांघ के सौंदर्य के वर्णन से होता है। यह धूप के स्तम्भ ही तरह है, संगमरमर के स्तम्भ की तरह। पहले बाहें- उनके तीन सादृश्यविधान हैं। एक धूप से, दूसरा केसर से, तीसरा आरसी से। ये तीनों सादृश्यविधान पीताभ प्रकाश को व्यंजित करते हैं। यानी युवती की बाहें कांचन वर्ण हैं। ये बाहें गोरी की हैं, साँवरी की नहीं। धूप का रंग और उष्मा, केसर की आभा और

आरसी की उज्ज्वल गोराई। सब मिलकर कांचनवर्ण बाहें। दूसरा अंग है युवा वक्ष : उठता और गिरता है। ढला हुआ वक्ष नहीं। आँखें उस उभार के आकर्षण को अनझिप देख रही हैं। वक्ष का आकर्षण ऐसा कि पलक भी न झपकती है। 'स्तन का पुलक' युवती के पक्ष में भी आकर्षण की व्यंजना करती है। आकाश में पीला चाँद है- रोमांस का प्रतीक। यह आत्मा की खिड़की है। यानी चाँद आभ्यन्तर के प्रेम के वस्तुगत प्रतीक के रूप में आकाश में हैं। रात होली की है। इसका प्रमाण है गुलाल। जैसे सुबह की किरणें धूल पर फैलने से धूल गुलाबी आभा लिए हो जाती है, उसी प्रकार गुलाल है। यानी 'धूप में फैली सुबह' जैसी गुलाल है।

बाहें और वक्ष के बाद कवि मुख के सौंदर्य की व्यंजना करता है। काली जुल्फें हैं सघन घन। उनके बीच भास्कर मुख सूर्य के टुकड़े के समान। सूर्य के टुकड़े कह सूर्य को अपेक्षया लघुता प्रदान कर कवि मुख के उपमान के उपयुक्त बना डालता है। मुख की आभा प्रखर किरणों की तरह। यहाँ नारी को चंद्रमुखी नहीं कहा। उसकी भास्वरता की उपमा सूर्य से दी है। निराला ने लिखा थाः 'बादलों में घिर अपर दिनकर रहे।' 'सूर्य के टुकड़े' बता कर सादृश्यविधान में थोड़ा परिष्कार शमशेर ने किया है। साथ ही आगे एक पंक्ति है 'एक चौपड़ की सड़क अंतस् में खाई जा रही है' इससे स्पष्ट ही एक निर्वसन नारी की व्यंजना होती है जो समर्पण के आसन में है सड़कें विविध वर्ण गहरी' का सम्बन्ध 'चौपड़ की सड़क' से जुड़ता है। सारा प्रसंग युगनद्ध का हैः पर वर्णन नहींः संकेत हैं। नये प्रतीक के कारण अस्पष्टता बनी रहती है। साथ ही शब्दों की किफायतसारी तथा असातत्य (discontinuity) के शिल्प के कारण यह प्रतीकवादी हो जाता है न कि रीतिवादी। प्रतीकवाद और ध्वनि के सम्बन्ध बहुत ही गहरे हैं। 'समय के अगणित चरण' से युगनद्ध मुद्रा की सुदीर्घकालिकता व्यंजित होती है।

इस कविता के दूसरे खण्ड में भोगकाल के उल्लास का वर्णन है। एक विस्मय से हिलने में सुख की मुग्धता का भाव है, कोष्ठक में 'हँस रहे चौखटे द्वार' आदि से असीम उल्लास का प्रसार व्यंजित होता है। उन क्षणों में जैसे केश हवा में दूर तक लहरा रहे हैं, वैसी ही लहराती है रात। 'हम खो गए हैं अलग-अलग हरेक में' - यह मदन लहरी (orgasm) की व्यंजना है। सब क्षण उल्लास में डूबे हुए हैं। अब काल और देश के संदर्भ एक दूसरे से मिल गये हैं।

अब कविता के तीसरे खण्ड पर विचार कर लें। अनुभव के ऐसे क्षणों में शताब्दियाँ ही नहीं वरन् युग झांकते हैं। मनुष्य जाति का सारा प्रवाह रुधिर में बहने लगता है- द्वापर, सतयुग और मध्ययुग सब एकमेक हो उठे हैं। यानी केवल अनुभूति की निजता ही नहीं होती है वरन् उसका सातत्य भी होता है। सौंदर्य प्रकाश है : ऐसे क्षणों में दृष्टि मिलती है। पर्व भी प्रकाश है, सौंदर्य भी प्रकाश है। पर्व प्रकाश हैः यह आलोक हमें उत्सवों में मिलता है। उत्सव हमारे जीवन का सम्बल, प्रकाश और सौंदर्य बन जाते हैं। पर्व हमें समाज से, संस्कृति से, समग्र जीवन से जोड़ते हैं। वासना की लपट फूल के समान कोमल है। इससे जीवन में कोमलता का, संस्कृति का संचार होता है। इस तरह यह जो क्षण है, वह एक तरह से सब कुछ है। जीवन का सार है। बसंत की यह ऋतु जीवन की वास्तविक ऋतु है। अभिधा में अर्थ केवल शब्द से निष्पन्न होता है लेकिन ध्वन्यार्थ संदर्भ से तथा कुछ अन्य तरह के प्रयोगों से निष्पन्न होते हैं जैसे लघु कोष्ठकों 'हँस रहे चौखटे द्वार' या चरम साक्षात्कार के तन्मय क्षण के उल्लास को व्यंजित करता है। दो युगबद्ध प्राणियों का उल्लास 'हँस रहे चौखटे द्वार' में व्यंजित होता है। यह उल्लास व्यंजना से निःसृत है, अभिधा द्वारा यह संभव नहीं है।

सौंदर्यपरक परिप्रेक्ष्य में कविता के प्रति प्रतिक्रिया उसकी समग्र अन्विति में होती है। अलग-अलग ढंग से संघटक के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होती है। समग्र अर्थ कार्य-कारण सम्बन्ध से

निष्पन्न नहीं होता है। व्यंजना कहीं न कहीं कार्य-कारण सम्बन्ध का अतिक्रमण करती है और अर्थ संबुद्धि (intuition) द्वारा व्यंजित होता है। इसे छठी इंद्रिय का जागरण भी कहते हैं। बुद्धि कारण-कार्य सम्बन्ध से गुजरती हुई अनुमान के सहारे कार्य करती है और उसमें थोड़े क्षण जरूर लगते हैं, पर सुबुद्धि क्षणांश में कृतकार्य हो जाती है। कविता का क्षेत्र, कला का क्षेत्र ही संबुद्धि के संचरण का क्षेत्र है। व्यंजना इसी का अर्थक्षेत्र है। व्यंजना का असल सौंदर्य असंलक्ष्यक्रम में निष्पन्न होता है और अनेकार्थता इसकी विशेषता होती है। अनेकार्थता एक समय की नहीं होती है, समय-समय पर उसमें नयी अर्थ छवियाँ आती रहती हैं।

यह एक प्रतीकवादी कविता, ध्वनि की कविता है। अर्थ नहीं, मात्र संप्रेषण। संप्रेषण तो होता है, पर अर्थ नहीं किया जा सकता है। पदान्वय संभव नहीं है। प्रतीकवाद और ध्वनि सगोत्री होते हैं। मलार्मे ने आनंदबर्धन से आगे जाकर ध्वनि सिद्धांत के सहारे प्रतीकवाद का विकास किया। शमशेर की कविताओं की सजातीयता सबसे अधिक मलार्मे से है। मलार्मे की ही तरह शमशेर ने भी बहुत ही सूक्ष्म संवेदनाओं की व्यंजना की है। चूँकि वे परिवेश की तफसील नहीं होने देते और संवेदना को ही अधिक व्यंजित करते हैं, इस कारण कहीं भी ये प्रसंग अश्लील नहीं होते हैं। शरीर तक वे जाते नहीं, अतः शरीर की निर्वसनता का सवाल नहीं आता है।

शमशेर प्रतीकवादी हैं या नहीं यह कहना मुश्किल है पर वे प्रतीक रचते जरूर हैं। कवि जब नया प्रतीक रचता है तब शब्द के अर्थ रूढ़ नहीं रह जाते हैं वरन् अर्थ विस्तार पाता जाता है। इस कारण अर्थ की संभावनाएँ चुकती नहीं हैं। इससे व्यंजना की असीमता का उद्घाटन होता हे। मध्यकाल में आनंदवर्धन प्रतीकविधान की बात तो नहीं कर रहे थे पर प्रतीकविधान का व्यंजना से अपरिहार्य सम्बन्ध है।

शमशेर की दो छोटी कविताएँ- 'एक पीली शाम' और 'लौट आओ धार'- बहुउद्धृत हैं अपनी तराश के कारण। इन दो छोटी कविताओं में मृत्यु और जीवन- जो कि परस्पर विरोधी चीजें हैं- उनका सामंजस्य मिलता है। ये बिम्ब विरुद्धों का सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं। एक ही उक्ति में एक ही बिम्ब में जीवन और मृत्यु का सामंजस्य है। कविता में समय का प्रवाह ही है और यह समानांतर रूप से मृत्यु और जीवन की पुष्टि है। मृत्यु और जीवन, अस्तित्व और अनस्तित्व विलग नहीं हैं। निषेध और स्वीकार, अभाव और बहुलता इसमें सहअस्तित्व रखते हैं। अस्तित्व में अनस्तित्व निहित है। अस्तित्व अनस्तित्व से निःसृत होता है। शमशेर 'लौट आओ धार' में संप्रेषित यह करते हैं कि मृत्यु की उपस्थिति में जीना वस्तुतः जीवन में मृत्यु को समाहित करना है। चूँकि मृत्यु जीवन से निःसृत है, हम इसे नामित कर सकते हैं। हम अस्तित्व तक अनस्तित्व के द्वारा ही पहुँच सकते हैं। कविता इस बात की तसदीक करती है कि मनुष्य जीवन मरने के लिए नहीं है- 'लौट आओ पंखुड़ी'। जिजीविषा की यह अकुलाहट, अस्तित्व की यह आहट पूरी हिन्दी कविता में अद्वितीय है। इन दो छोटी कविताओं में दोनों बिम्ब अद्वितीय हैं। कवि कहता नहीं है संप्रेषित करता है। बिम्ब साधन नहीं है, यह इसका अर्थ ही है। कविता के तात्पर्य का आरम्भ और अन्त दोनों बिम्ब में होता है। कविता का तात्पर्य स्वयं कविता ही है। यानी कविता अव्याख्येय है। बिम्ब की कोई व्याख्या नहीं हो सकती है। किसी चीज को गद्य में कहने के कई ढंग हो सकते हैं लेकिन कविता में कहने का एक ही ढंग हो सकता है। यही शब्द-पाक है। बिम्ब शब्दपाक है। कविता में शब्द में उपस्थापन का विन्यास भी नहीं बदला जा सकता है। शब्द उपस्थापन को बदलने से कविता के प्रवाह का तनाव नष्ट हो जाता है। बिम्बों, शब्दों का परिवर्तनसहत्व नहीं रहता है। बिम्ब में विरुद्धों का सामंजस्य हो जाता है पर यह सामंजस्य शब्दों में

व्याख्यायित नहीं हो सकता है। बिम्ब तनाव में रचा जाने वाला शब्दविधान है। यह तनाव संप्रेषित हो जाता है पर इसकी व्याख्या नहीं हो सकती है।

धर्म की तरह कविता का उत्स संचार की अल्पकालिकता, ससीमता है। एक निषेधात्मक पथ से कवि भाषा के सीमांत पर आ जाता है। यह सीमांत मौन कहलाता है, एक मौन जो झील की सतह की तरह है, चिकना और सघन। सतह के नीचे शब्द प्रतीक्षा कर रहे हैं। बहुलता के पूर्व शून्य होता है। कवि के शब्द इस जीवन की पुष्टि करते हैं। 'लौट आओ धार' में मृत्यु के ऊपर जीवन की स्थापना है। शमशेर सौंदर्य के कवि हैं। जीवन की स्थापना का कवि ही सौंदर्य का कवि होता है।

'एक पीली शाम' कविता की ही अगली कड़ी 'लौट आओ धार' नामक कविता लगती है। दोनों की रचना में कालानुक्रमिकता तो है ही। इस कविता में सांझ में जीवन की परिणति-जीवन की संध्या में परिणति है। सांझ तक जीवन अपनी कोमलता खो देता है। जीवन यात्रा की कठिनता में वह कठोर बनता जाता है। वह शिशुता और बचपन की कोमलता और निर्दोषता खो देता है। कवि व्याकुल होकर पुकारता है कि सांझ के पत्थर हृदय पर गिरकर धार टूट न जाय। और फिर फूल की पंखुड़ी जो शाम के समय झड़ गयी है उससे फिर फूल में लगने का आग्रह है। इस कविता में विगत को पाने की आकांक्षा है। समय का सादृश्य धार से है, जो जल बह कर आगे निकल जाता है वह वापस नहीं होता। एजरा पाउंड ने अपनी किसी कविता में लिखा था : 'The fallen blossom flies back to its branch' यही है 'लौट आओ पंखुड़ी फिर फूल में लग जा'। कवि प्रभाव अपनी मनोरचना के अनुकूल ही ग्रहण करता है। सौंदर्य क्षण में होता है, नश्वर होता है, पर वह बहुत मोहक होता है। उस सौंदर्य को वापस पाने के लिए ही कवि काल से होड़ लगाता है। काल की सुदीर्घता में सौंदर्य नष्ट हो जाता है। इस कारण कवि कहता है: 'सौंदर्य यही तो है, जो तू नहीं है, ओ काल'। इसलिए पंखुड़ी तू लौट आ डाल पर और फिर डाल में लग जा। जिजीविषा कविता बन गई है।

शमशेर में चित और उचित का भेद मिटता-सा दीखता है। साथ ही चेतना और अचेतन तथा आभ्यंतर और बाह्य पार्थक्य भी समाप्त हो जाता है। उनमें कालानुक्रमिकता का भी अन्त दिखलाई पड़ता है जो इधर विकसित ऐतिहासिक बोध की मुख्य पहचान है। इन सबसे बिल्कुल नयी, विलक्षण और अद्वितीय संवेदनशीलता की रचना होते दीखती है। इतनी अद्वितीय संवेदनशीलता पुराने शिल्प में निवास नहीं कर सकती है। अन्तर्वस्तु की इतनी अद्वितीयता एक बिल्कुल नये प्रतीक, लय, बिम्ब और वाक्य विन्यास को जन्म देती है। अतः उनकी कविताओं में अर्थ करने में कठिनाई है। इस कारण अपने लिए एक नया काव्यशास्त्र रचते हैं। इस काव्यशास्त्र का व्यावर्तक लक्षण है कि कविता का अर्थ नहीं होता है वरन् वह संप्रेषित हो जाती है। 'राग' नामक कविता की ये पंक्तियाँ अर्थ का तिरस्कार कर केवल संप्रेषण की महिमा प्रतिष्ठित करती है। छठा पदबंध है :

वह अनायास मेरा पद गुनगुनाता हुआ बैठा
रहा, और मैंने उसकी ओर
देखा, और मैं समझ गया।
और यह संग्रह उसी के हाथों में खो गया।

इसके बाद सातवाँ पदबंध है :

तब उसने मुझसे पूछा, इन शब्दों का क्या
मतलब है? मैने कहा : शब्द
कहाँ है?वह मौन मेरी ओर
देखता चुप रहा। फिर मैंने
श्रमपूर्वक बोलते हुए कहा कि :
शाम हो गई है। उसने मेरी ओर
आँखों में देखा, और फिर एकटक देखता
ही रहा। क्यों फिर उसने मेरा संग्रह
अपनी धुंधली गोद में खोला और
मुझसे कुछ भी पूछना भूल गया।

तात्पर्य यह कि अर्थ करने की जरूरत नहीं, वह संप्रेषित हो गया। कविता में यह बुनियादी स्थापत्यपरक (techonic) खिसकाव है। अपनी गहनता में यह ध्वनि के समीप है। बिम्ब, प्रतीक और लय आदि मिलकर जो नया रचते हैं वह विस्फोट करता है और संप्रेषण हो जाता है। व्यंजना उनका रचना-सिद्धांत है- 'बात बोलेगी, हम नहीं'। यह व्यंजना का काव्यशास्त्र है। प्रभाववाद और अतियथार्थवाद दोनों व्यंजना को पुष्ट करते हैं। उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली की परिणति व्यंजना में ही हो सकती है। इसलिए सहृदय को एक नूतन स्तर की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ दुरूह कही जाती हैं। कविताओं की दुरूहता का अर्थ यह है कि सहृदयता की व्याप्ति एक सीमित तबके तक है।

शमशेर का प्रिय रंग साँवला है। इस पसंद का सम्बन्ध उनकी प्रकृति और अभिव्यंजना की पद्धति से है। मन के गहन ग्रहृय से जन्म लेने वाले अतियथार्थवाद का रंग साँवला ही हो सकता है। मन के गुहृय लोक का अंधकार बाहर में भी साँवला ही दीखेगा। रचना के क्षण में हमारे आत्म का सबसे गोपनीय भाग चेतना की सतह पर आ जाता है। रचना के क्षण में हमारे अस्तित्व से निःसृत शब्द सतह पर आ जाते हैं। 'साँवला' शमशेर का ऐसा ही रंग है। यह सतह पर का शब्द नहीं है। यह अस्तित्व की गहराई से निःसृत शब्द है। शमशेर जब उषा का भी चित्र देते हैं तब 'राख से लीपा हुआ चौका', 'बहुत काली सिल' या 'स्लेट' का फलक जरूर लाते हैं। 'साँवला' जीवन की गहराई का रंग है। उसका प्रभाव संवेदना के स्तर का है।

विजयदेव नारायण साही ने ''शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'' नामक अपने अतिख्यात निबंध में लिखा है कि शमशेर की कविताओं में ''देश की ही तरह काल में भी फाँक है। प्रसंगतः उन्होंने 'अमन का राग' और 'गिन्सबर्ग के नाम' कविताओं का जिक्र किया है। उन्होंने कविताओं के नाम तो दिये हैं पर उन प्रसंगों के उद्धरण नहीं दिये हैं। ऐसा लगता है कि उनका तात्पर्य 'अमन का राग' की इन पंक्तियों से है :

देखो न हक़ीकत हमारे समय की कि जिसमें
होमर एक हिन्दी के कवि सरदार जाफरी को
इशारे से अपने करीब बुला रहा है
कि जिसमें फैयाज खाँ बिटाफेन के कान में कुछ कह रहा है

मैंने समझा कि संगीत की कोई अमरलता हिल उठी
मैं शेक्सपियर का ऊँचा माथा उज्जैन की घाटियों में
झलकता हुआ देख रहा हूँ
और कालिदास को वैभर के कुंजों में विहार करते
और आज तो मेरा टैगोर, मेरा हाफिज, मेरा तुलसी
मेरा गालिब
एक-एक मेरे दिल के जगमग पावर हाउस का
कुशल आपरेटर है।

शमशेर ने यह कविता उच्च आधुनिकता के दौर में लिखी थी और साही ने भी यह टिप्पणी उच्च आधुनिकता के काल में की थी। फर्क यह है कि शमशेर उच्च आधुनिकता के काल में उत्तर आधुनिक कल्पनाशीलता को स्वायत्त कर रहे थे और साही यह टिप्पणी आधुनिक बोध की विश्वदृष्टि के अनुरूप कर रहे थे। उत्तर आधुनिक ने काल की फांक को ध्वस्त कर दिया है। मैक्सिको के प्रसिद्ध कथाकार कार्ल्स फूटेन्स और चेक कथाकार मिलान कुंडेरा काल की दूरी को पाट देते हैं और यथार्थवाद के रचनात्मक सिद्धांत का अन्त कर देते हैं। कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' हिन्दी में एक ऐसा उपन्यास है जो यथार्थवाद के रचनात्मक सिद्धांत का अतिक्रमण करता है। आधुनिकता के बुद्धिवाद और इकहरी काल चेतना के आधार पर शमशेर की व्याख्या करने में कठिनाई है। सब काल एक हैं, उनमें फांक नहीं है, हम एक अस्तित्व में नहीं, अनेक अस्तित्वों में जीते हैं। यही कारण है कि शमशेर उच्च आधुनिकता के काल में समझे नहीं जा सके।

शमशेर बार-बार काल के इकहरेपन का अतिक्रमण करते हैं। यही उन्हें इतिहास से बाहर कर देता है। समय साम्यवादी उनकी चेतना का ऊपरी स्तर है, भीतरी स्तर है उससे भिन्न। वे अनंत के समीप पहुँच जाते हैं जहाँ काल इकहरा नहीं रहता है। दो काल के व्यक्तियों की ही समय में उपस्थिति एक साहित्यिक प्रविधि नहीं है वरन् विश्वदृष्टि का उलट जाना है। यह एक नये ब्रह्मांड की तलाश है: तीसरा ब्रह्मांड। एजरा पाउंड ने सबसे पहले इस तकनीक का प्रयोग 'कांटोज' (Cantos) में किया था। आधुनिक युग के संकट के क्षण में जिसकी कविता 'अमन का राग' है और जो द्वितीय महायुद्ध के काल (१९४५ ई.) में लिखी गयी थी, शमशेर को लगता है कि हर युग यही युग है। यानी शमशेर अतीत को वर्तमान बना देते हैं। तब भी वे प्रगतिशील ही हैं, प्रतिक्रियावादी नहीं: 'समय साम्यवादी' के कवि। उनके लिए इतिहास एक प्रमाण है न कि एक प्रदक्षिणा।

कविता अब संगीत से विच्छिन्न हो गयी है। कविता का अपना संगीत होता है : वह है शब्द। कविता शब्द के संगीत से अधिक सिक्त होती जाएगी और कविता शब्द ही रहेगी। यथा :

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
.....
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य तारक-सा
अतल में।

यहाँ करुणा शब्द से निःसृत है : मंत्रवत्, समास शैली में। शमशेर की कविता संयोजन, तनाव और विलगाव से पोषण प्राप्त करती है। यह पद्य और गद्य के बीच होता है। शमशेर की कविताओं ने गद्य की भ्रांत संरचना को ध्वस्त कर दिया है और वाक्यविन्यास सौंदर्य की छवियों से जुड़ जाता है। उनमें संवाद है, मनोविज्ञान है और विडंबना भी। वे बीसवीं सदी के एक विलक्षण, अद्वितीय कवि हैं।

शमशेर भीतर झांकनेवाले कवि हैं : मार्क्सवाद की वस्तुगतता उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उनकी प्रकृति स्वप्नों में खो जाने और बिम्ब रचने की है। इस कारण कई जगह उनमें अतियथार्थवादी तत्व प्रवेश पा लेते हैं। जो कवि इतना अभ्यंतरमुखी होगा। सौंदर्य और प्रेम उसकी प्रमुख अंतर्वस्तु होगी ही। शमशेर अतियथार्थवादी कवि तो नहीं हैं, हिन्दी में कोई भी अतियथार्थवादी कवि नहीं है, पर अतियथार्थवाद की कटोरी से थोड़े रंग उन्होंने ग्रहण किये हैं। इस कारण उनका बिम्बविधान अद्वितीय बन पड़ा है।

हालाँकि मुक्तिबोध का प्रभाव बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की कविता पर बहुत पड़ा है पर शिल्प के क्षेत्र में उन्होंने अनेकशः प्रयोग नहीं किये। उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि वे एक ही कविता बार-बार लिख रहे हैं, जबकि शमशेर में शिल्प के अनेकशः प्रयोग हैं। शमशेर का अनुकरण नही ंके बराबर हुआ है, पर शिल्प के उनके अनेकशः प्रयोग की संभावनाएँ अधिक हैं। संभव है कि नयी सदी के कवि मुक्तिबोध से अधिक उनसे प्रेरणा लें। उनकी कविताओं में जितने प्रयोग हुए हैं उनकी संभावनाएँ निचोड़ी नहीं गयी हैं।

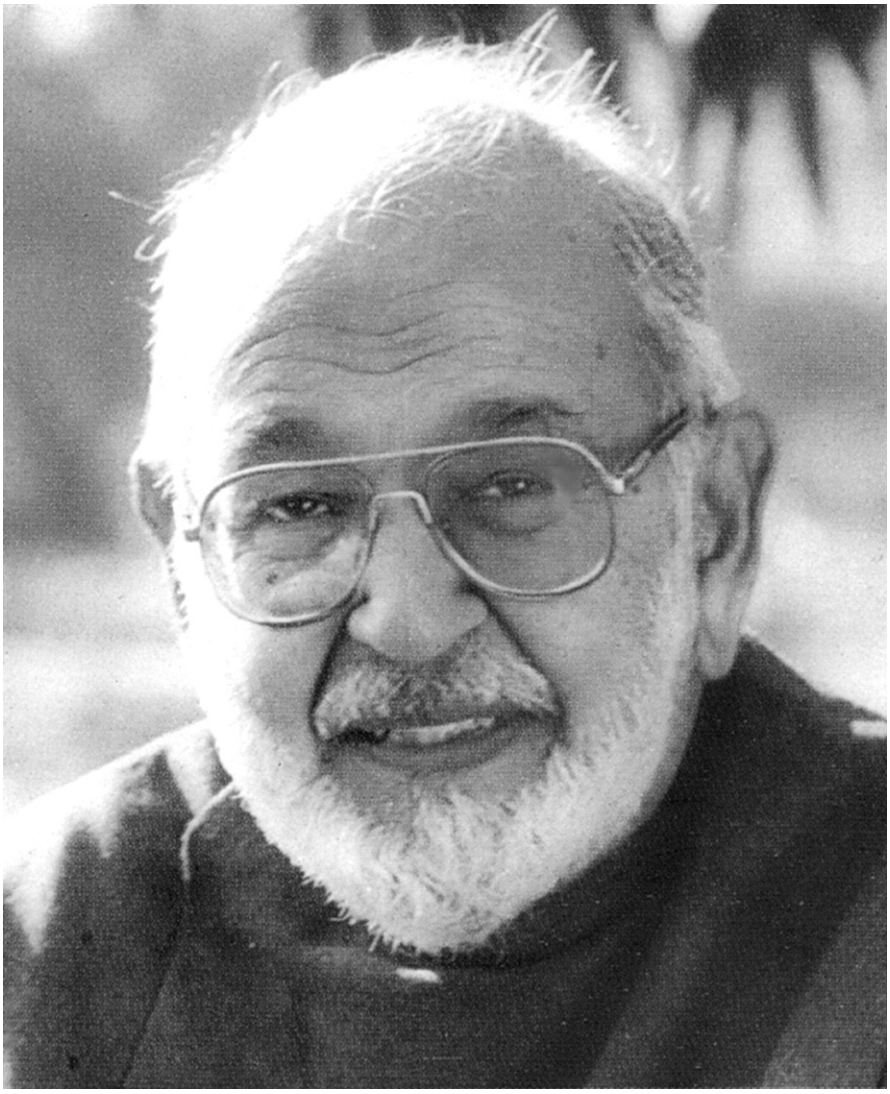

अज्ञेय

वैकल्पिक आधुनिकता का कवि

शंभुनाथ

> भाषा हमारा बारूदी गोला है और हमारी एंटीना भी जो दूसरों से हमारी सुरक्षा करती है और उनके बारे में हमें सूचित करती है। भाषा हमारे संवेदनों का विस्तार है.... हम भाषा में वैसे ही रहते हैं जैसे अपनी देह में।
>
> सार्त्र, ह्वाट इज़ लिटरेचर

अज्ञेय की सबसे निर्मम आलोचना किसी प्रगतिवादी लेखक ने नहीं, निर्मल वर्मा ने की है, ''अज्ञेय अधिकांश समय 'मैं' से उठकर 'अन्य' की ओर जाते हैं, 'अन्य' से मुड़कर 'मैं' की ओर। 'मैं' हमेशा सुसंस्कृत, सतर्क और शालीन है, 'अन्य' हमेशा उच्छाड़, गलत और हास्यास्पद। इस लड़ाई में अज्ञेय हमेशा जीत जाते हैं, बिना यह जाने कि जिस 'अन्य' का उन्होंने निर्माण किया है, वह उनके 'मैं' का ही अंधेरा पक्ष है।'' उनका प्रहार थोड़ा और तीखा होता है, ''जिस यातना और अकेलेपन की चर्चा अज्ञेय इतनी करते हैं, वह आगे बढ़कर हमें साझा करने के लिए उत्प्रेरित नहीं करती, आत्मा की टीस बनकर टिपटिपाती नहीं, झकझोरती नहीं, सिर्फ अज्ञेय की अर्जित, मूल्यवान, प्रेशस अनुभूति बनकर रह जाती है, प्रेशस अनुभवों का संचय, जो लगते हैं, सच हैं भी, लेकिन अपनी सच्चाई हमारे भीतर भोंकते नहीं।'' एक जमाने में अज्ञेय पर निर्मल वर्मा का यह आक्रमण स्वाभाविक है। उनके कथन में कितनी सत्यता है, यह जानना मुश्किल नहीं है, क्योंकि अज्ञेय आधुनिक युग के ऐसे चंद लेखकों में थे, जिनके होने, दिखने और लिखने में फर्क न था।

अज्ञेय ने जब कविता की दुनिया में कदम बढ़ाए, एक नारा छा रहा था 'हर चीज राजनीतिक है।' अब राजनीति प्रमुख होती जा रही थी। आदमी की जिंदगी के सभी पहलू, भाषा, साहित्य और सौन्दर्यबोध भी राजनीति द्वारा निर्धारित होने लगे थे। बौद्धिक स्वतंत्रता संदेह से देखी जाने वाली

चीज बन गई थी। किसी गंभीर राष्ट्रीय संकट या विषमता के समय ऐसा हो सकता है कि राजनीतिक कार्रवाई ही अधिक प्रधान हो जाए। यदि उपनिवेशवाद हो, थोपा युद्ध हो या राजनीतिक दमन की घटनाएं हों, राजनीतिक आचरण को सबसे प्रासंगिक और श्रेष्ठ आचरण के रूप में देखा जाना संभव है। हम जानते हैं कि स्वाधीनता आंदोलनों के दिन में खुद अज्ञेय की एक लंबी संघर्षपूर्ण जिंदगी थी। वे नौजवानी में काफी समय लाहौर और दिल्ली जेल में थे। कुछ समय नजरबंद भी थे। उनकी कविताओं में इन स्मृतियों की कोई झलक नहीं मिलती, मानो एक समय की अतिशय सक्रियता दूसरे समय में अतिशय उदासीनता में तब्दील हो चुकी हो।

एक गहरे राजनीतिक समय में भी अज्ञेय की कविताएं प्रत्यक्ष या छिपे रूप से राजनीतिक नहीं हैं, बल्कि इससे काफी दूर हैं। वे प्रगतिवाद के उभार के दिन थे, जब राजनीतिक सक्रियता एक प्रधान कसौटी बनी हुई थी। शिक्षा और रोज की जिंदगी का तेजी से राजनीतिकरण हो रहा था। जीवन में जब 'पहली चीज राजनीति' हो उठी और राजनीति सर्वग्रासी बन गई, साहित्यिकता का स्थान तभी से सिकुड़ना शुरू हुआ। आज साहित्य समाज के हाशिए पर है। साहित्य ही नहीं सिद्धांत की भी दुर्दशा है। निश्चय ही साहित्य राजनीति के आगे मशाल लेकर चलने वाली सच्चाई है, यह कहना भी उतना ही संदेहास्पद है, जितना यह कहना कि 'पहली चीज राजनीति'। इनकी जगह साहित्य और राजनीति के गतिशील संबंध को समझना ज्यादा जरूरी है, यह न हो सका। ध्यान में रखना होगा कि बौद्धिक और साहित्यिक गतिविधियों पर राजनीति की बढ़ती प्रधानता के जमाने में अज्ञेय ने राजनीतिक प्रचारवाद से दूरी रखकर शब्द में नई जान डालने का जोखिम उठाया था। उन्हें अपने लेखन के कारण बहुत आलोचना सहनी पड़ी, यहां तक कि अमेरिका का पिट्ठू कहा गया। यह मान लिया गया कि वे निरा प्रयोगवादी और व्यक्तिवादी हैं। देखा जाना चाहिए कि अज्ञेय ऐसी चीजों से क्या कुछ भिन्न हैं, और उनके 'मैं' का क्या कोई उजला पक्ष भी है।

एक समय नेहरू भारत को 'डिस्कवर' कर रहे थे और अज्ञेय आत्मजगत को। उन वर्षों के 'डिस्कवरी आफ इंडिया' और 'आत्मान्वेषण' में एक स्वाभाविक रिश्ता था। भारत को जानना, पश्चिम से इसके रिश्ते को पुनर्परिभाषित करना और इसके नवोदित मध्यवर्गीय 'व्यक्ति' की भूमिका को पहचानना उस समय के प्रमुख बौद्धिक मुद्दे थे। यह नवोदित मध्यवर्गीय व्यक्ति सृष्टि के अत्यंत सुन्दर विस्तार के बीच भी कितनी कठोर रूढ़ियों और बंधनों से घिरा हुआ है, इस प्रश्न ने अज्ञेय को काफी हांट किया। उनमें निश्चय ही सामाजिक सोच का विघटन झलकता है, वे सोच के नए औजारों की तलाश करते हैं। छायावाद में सामाजिक सोच की परंपरा थी, भले वहां वैयक्तिकता हो। प्रगतिशील धाराओं ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। अज्ञेय की विलक्षणता है, उनके यहां मनोजगत प्रधान है। उन्होंने कविता के केन्द्र में सामाजिक समस्याएं रखने की जगह व्यक्ति के आंतरिक पहलुओं, आत्मान्वेषण को महत्त्व दिया। उन्हें 'आत्मा' की लेबोरेटरी में जीवन का जो बोध हासिल हुआ, वह एक निहायत व्यक्तिबद्ध संसार का संकुचित बोध है या वह समाज और सभ्यता के केन्द्रीय प्रश्न भी सामने लाता है, यह देखने की जरूरत है।

नेहरू का व्यक्तित्व कभी रवींद्रनाथ को अपने जमाने के संपूर्ण माहौल से अधिक सच्चा लगा था। वे आकर्षक थे, उन पर लोग फिदा थे। इसी तरह साहित्य की दुनिया में एक समय अज्ञेय को पसंद करने वाले काफी लोग रहे हैं। यह आकर्षण उपलब्ध करना आसान नहीं होता, खासकर तीव्र विरोधों और चुनौतियों के बीच। अज्ञेय एक ऊंचे कद-काठी के दर्शनीय कवि थे।

उन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा कठिन, दुस्साहसी और समझौताहीन रास्ता चुना था, वे

स्वनिर्मित थे। ये चीजें भी उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती थीं। हालांकि यह मूलतः संभव हुआ था प्रचलित परंपराओं को अस्वीकार करके व्यक्ति की विवेकशील अंतर्सत्ता को गरिमा देने और छायावाद युग के सामंतवाद-विरोधी संघर्ष को आगे बढ़ाने के कारण। क्या अज्ञेय का साहित्य व्यक्ति की आत्ममुक्ति का उद्घोष है? क्या उसे जीवन की जनतांत्रिक प्रक्रिया के एक अंग के रूप में देखा जा सकता है? अज्ञेय सदा भीड़ से अलग खड़े एक स्वयंरचित संसार में बसे दिखाई देते हैं, वे अतिपरिचित पुरानी पहचानों को तोड़ते हुए अपनी एक अलग आधुनिक अस्मिता निर्मित करते हैं। क्या इसका संबंध वैकल्पिक आधुनिकता की खोज से है?

'तारसप्तक' (१९४३) जितना विवादास्पद हो, कविता को एक नई आधुनिक जमीन पर खड़ा करने में उसकी एक बड़ी भूमिका है। इससे उन आधुनिक प्रवृत्तियों की सूचना मिल जाती है, जिनका आजादी के बाद विभिन्न दिशाओं में विकास हुआ। छायावाद का दौर बीत चुका था। साहित्य पर प्रगतिवाद का असर बढ़ रहा था। कवि मानस में 'इतिहास के औपनिवेशिक पाठ' और 'निजी साहित्यिक अनुभव का तनाव' भी उभर आया था। यही वजह है कि 'तारसप्तक' में विविध स्वरों के ऐसे कवि थे, जो राह पा न चुके थे, बल्कि 'राहों के अन्वेषी' थे। वे हिटलर के फासीवाद से परिचित थे। दूसरे विश्व युद्ध में उसका सामना पूंजीवादी देश इंग्लैण्ड-अमेरिका और समाजवादी देश रूस मिलकर कर रहे थे। यह मिलाजुलापन 'तारसप्तक' में भी था। निश्चय ही 'तारसप्तक' के कवि आत्मपहचान, स्वतंत्रता और प्रगति-इन सभी मुद्दों पर चिंतित थे।

हम नहीं कह सकते कि 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद की शुरुआत हुई। इसमें प्रयोग की भावना होते हुए भी कविता और समाज के बीच संबंध बना हुआ था। उस जमाने में हिंदी कविता जनतांत्रिक मूल्यबोध से इतनी ज्यादा संबद्ध थी- नरेंद्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन सरीखे कवि ही नहीं, निराला और पंत जैसे वरिष्ठ कवि भी कविता और समाज का इतना घनिष्ठ रिश्ता स्थापित कर चुके थे कि 'तारसप्तक' को इस उभार से बाहर निकालकर एक भिन्न दिशा में ले जाना संभव नहीं था। अज्ञेय १९३८ से पश्चिमी असर में नए युग को संशय और अस्वीकार के युग के रूप में देखने लगे थे, पर वे अपनी कविता में न रोमांटिसिज्म से बच पा रहे थे और न यथार्थवाद से। वे इस समय तक उतने व्यक्तिकेंद्रित न थे। 'तारसप्तक' के कवियों में रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल और नेमिचंद्र जैन स्पष्ट मार्क्सवादी पृष्ठभूमि वाले कवि थे। दो मराठी परिवार से आए कवि मुक्तिबोध और प्रभाकर माचवे मार्क्सवादी झुकावों के बावजूद अभी खुलकर सामने नहीं आए थे। गिरजाकुमार माथुर रोमांटिक पृष्ठभूमि वाले कवि थे। अज्ञेय रोमांटिसिज़्म से भरे थे, पर बुद्धिवाद और पश्चिमी आधुनिकता के कुछ नए विचारों से भी प्रेरित थे। निश्चय ही वह युग ऐसा था, जब कई विचार धाराएं कहीं साथ-साथ थीं और कहीं आमने-सामने थीं। इसलिए 'तारसप्तक' को प्रगति की जमीन पर प्रयोग का प्रस्फुटन कहा जाना चाहिए।

इसमें संदेह नहीं कि अज्ञेय की बुनियादी काव्यात्मक मनोभूमि 'तारसप्तक' के समय ही बन चुकी थी। वह जीवन भर संवेदन और संप्रेषण की जिन समस्याओं से घिरे थे, उनसे हमारा परिचय 'तारसप्तक' में हो जाता है, ''समस्याएं अनेक हैं-काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की, आदि- उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कवि कर्म की मौलिक समस्या है साधारणीकरण और कम्यूनिकेशन (संप्रेषण) की समस्या। कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति यही है।'' नई आधुनिक कविता में 'साधारणीकरण' की बात पीछे छूट गई, 'संप्रेषण' केंद्रीय समस्या बन गई। २० साल बाद के 'पुनश्च' में अज्ञेय इसी मुद्दे

को अधिक आधुनिक तल्खी से उपस्थित करते हैं, 'आज भी मेरे सामने जो समस्या है,.....वह अर्थवान शब्द की समस्या है। काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।'' अज्ञेय अपने वक्तव्य में भाषिक सर्जनात्मकता को केंद्रीयता देते हैं बल्कि कई आलोचकों के लिए अज्ञेय की कविता में शब्द ही धुरी है, पर अज्ञेय की कविताएं ध्यान से देखी जाएं, उनमें संवेदना के पुनःसंस्कार पर भी समान वजन है। निःसंदेह काव्य संवेदना और भाषा में दो-तरफा संबंध है, भले कुछ नए आधुनिक आग्रहों के चलते कविता को शब्दों से खेल कहा जाए और एक खास दौर में शब्द इतिहास से अधिक महत्वपूर्ण हो जाए।

अज्ञेय ने अपनी काव्य भाषा में सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़ियों से टकरा कर उदित हो रहे 'भारतीय व्यक्ति' की संवेदना को व्यक्त किया था। उस युग में 'व्यक्ति' का अस्तित्व में आना एक सामंतवाद-विरोधी घटना है। आज के सामुदायिक कट्टरवाद और उपभोक्तावाद के युग में आदमी के भीतर व्यक्ति-सत्ता का विलोप होता जा रहा है, जो एक बड़ी क्षति है। इससे वस्तुतः सामाजिक रूढ़ियों, कूपमंडूकता और बौद्धिक उपनिवेशन को चुनौती देने की संभावना मिटती जा रही है। अज्ञेय का आत्मान्वेषण एक अधूरे, यातनाग्रस्त और अहं-जर्जरित व्यक्ति द्वारा परिपूर्ण मानव-सत्ता की खोज है, जिसमें भटकन और उपलब्धियां दोनों संभव हैं। यह अलग बात है कि अज्ञेय के सृजनात्मक अन्वेषण को सिर्फ संदेह से देखा गया। उनकी चिंताएं आम जनता और निम्न-मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के जीवन संघर्ष और संवेदना से निश्चय ही भिन्न हैं। मुक्तिबोध ने एक महत्वपूर्ण बात कही है, ''नई कविता के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियां हैं, कई शिल्प हैं और कई भाव पद्धतियां हैं।'' (नई कविता का आत्मसंघर्ष)। अज्ञेय का भी अपना एक स्वर और शिल्प है। यह संभव है उनकी मानवता की कल्पना अमूर्त्त हो। लेकिन यह नही कहा जा सकता कि अज्ञेय की कविता में लोकतंत्र की आत्मा नहीं है, उन्होंने किसी रूढ़ि को चुनौती नहीं दी, वे बेईमान बुद्धिजीवी थे या उन्होंने नुकसान के डर से अनुभव से पाया कोई सत्य नहीं कहा।

मुख्य सवाल है, जनतांत्रिक चेतना से गुजर रहे भारतीय समाज में अज्ञेय की साहित्यिक धारणाओं से असहमति हो सकती है, पर उन्हें रिंग से बाहर फेंकने के प्रयासों को उचित नहीं कहा जा सकता। मेरी समझ से हिंदी में बहसें साहित्यिक ऊंचाइयों तक पहुंचने के पहले ही जकड़नों का शिकार हो जाती हैं और संवाद की जगह एक सरलीकृत ध्रुवीकरण होता रहा है। यह लक्षित किया जा सकता है कि 'तारसप्तक' में अज्ञेय उस तरह के आधुनिकतावादी न थे, जिस तरह से उनके आधुनिकतावाद को देखा गया है और उन पर इसका टैग लगा दिया गया है। यह अध्ययन रोचक हो सकता है कि आधुनिकीकरण को लेकर अज्ञेय के मन में कैसी बेचैनी थी और वे वैकल्पिक आधुनिकता का अन्वेषण कितनी तरह से कर रहे थे।

यह अक्सर देखने को मिला है कि आधुनिकीकरण से गुजरता भारतीय भद्रलोक पश्चिम को अपने भौतिक जीवन की कसौटी बनाकर भी सामंती सामाजिक रूढ़ियों, रीतिवादी सौंदर्यदृष्टि और यौन वर्जनाओं का शिकार रहा है। अज्ञेय ने खास कर इन विडंबनाओं को हमेशा चुनौती के रूप में लिया। वह अपनी नवीनता के आग्रह की ठोस सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर 'तारसप्तक' की भूमिका में संकेत देते हैं, ''आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ियों की लंबी परंपरा।'' वह दूसरा पक्ष भी सामने लाते हैं, ''इस आंतरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर बाह्य संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है।'' यह ज्यादा सोचना कहा जाएगा यदि इसी आधार

पर अज्ञेय को वर्गचेतस कवि कह दिया जाए, पर उनकी रचनाओं से यह जाहिर है कि उनकी नजर किसान, सांप्रदायिक समस्याओं और युद्ध की तरफ भी गई है। अज्ञेय यथार्थवादी लेखक न थे, पर उन्हें एक बिल्कुल समाज-विमुख लेखक भी नहीं कहा जा सकता। उनके सृजनात्मक मानस को पश्चिम की कसौटी जितना तंग करती थी, सामाजिक रूढ़ियाँ, वर्जनाएं और कभी-कभी विषमता भी कचोटती थी। इसमें संदेह नहीं कि उनकी चिंता के केंद्र में मनुष्य था।

१९४७ में जब हिंदुस्तान के असंख्य लोग भारत या पाकिस्तान में शरणार्थी बन गए थे-कत्लेआम मचा था, कविता की दुनिया में सिर्फ अज्ञेय थे, जिनकी नजर इस वहशीपन की तरफ गई थी। उन्होंने उसी समय घृणा, वैर और हिंसा के उस रक्तरंजित खेल पर 'शरणार्थी' शीर्षक से ११ कविताएं लिखी थीं। ऐसा नहीं है कि वे उस समय अपने 'मैं' में कैद थे। उनकी आधुनिकता मानवीय संवेदना से भरी थी। वे वस्तुतः इस घटना से विचलित थे। उन्होंने धर्मांधता का विरोध किया। उनका लंबा जीवन लाहौर में बीता था, इसलिए विभाजन देखकर उनका मानसिक उद्वलेन स्वाभाविक था।

कहीं पर रौंदा हुआ अब भी तड़पता है
सनातन मानव-
खरा इन्सान-
क्षण भर रुको तो उसको जगा लें
नहीं यह धर्म ये तो पैंतरे हैं उन दरिंदों के
रूढ़ि के नाखून पर मरजाद की मखमल चढ़ा कर,
जो विचारों पर झपट्टा मारते हैं

अज्ञेय की आधुनिकता पर शुरू में प्रगतिशील जीवनदृष्टि का दबाव था। यही वजह है, वे 'तारसप्तक' (१९४३) में कह सके थे, ''सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है और जितना ही व्यापक है काव्योत्कर्षकारी है। किंतु हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्‌भावना करते हैं और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।'' अज्ञेय व्यक्ति स्वाधीनता और सामाजिक चेतना के बीच रिश्ता रखना चाहते थे।

छायावाद के बाद नए ढंग की जो कविताएं लिखी जा रही थीं, वे 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' के बीच कहीं न कहीं अपना स्थान बनाती थीं। यह अमेरिका और रूस के बीच का शीतयुद्धीय खेल था, जिसके असर में कवियों को राजनीतिक तौर पर हड़पने की चेष्टाएं हुई। फिर भी कविता लिखना जिस तरह हमेशा सत्ता-समीकरणों से एक स्वतंत्र मामला रहा है, शायद ही उस युग का कोई महत्वपूर्ण कवि शिविरबद्ध होने के बावजूद हड़पा गया हो। कवि का हड़पा जाना कविता का समाधिस्थ होना होता।

नई कविता के कवियों में अज्ञेय का काव्यात्मक विकास जटिल है। वे एक तरफ 'मैं' का कवि, आत्मान्वेषण का कवि हैं। दूसरी तरफ एक कविता में लिखते हैं, ''यह जो मिट्टी गोड़ता है/कोदई खाता है और गेहूं खिलाता है/उसकी मैं साधना हूँ/.....जो भी जहां भी पिसता है/पर हारता नहीं, न मरता है-/पीड़ित श्रमरत मानव/अविजित दुर्जेय मानव/कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा/उसकी मैं कथा हूँ।'' (मैं वहाँ हूँ, १९५४ 'इंद्रधनु रौंदे हुए ये', १९५७, में संकलित) यह 'तारसप्तक' और

'दूसरा सप्तक' के बाद की कविता है, जब प्रयोगवाद का शोर था। उपर्युक्त कविता में अज्ञेय आश्चर्यजनक रूप से पहली बार कहते हैं, 'मैं सेतु हूँ', अन्यथा वे अपने लिए मुख्य रूप से 'द्वीप', 'हारिल', 'सोनमछली', 'बूंद', 'वन' जैसे प्रतीक चुनते रहे हैं।

अज्ञेय की सामाजिक चिंता के कुछ उदाहरण उनके आखिरी कविता संग्रह 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (१९८६) से हैं, ''वे फिर आएंगेः/सुंदर होंगे/सुंदर यानों पर सवार दीखेंगे/दस हाथ उनकी संवेदन भरी उंगलियों से/कर सकते होंगे सौ-सौ करतब/पर जबड़ों से उनके टपक रहा होगा/जो सर्प रक्त/वह जहां गिरेगा/मिट्टी हो जाएंगी मानव कृतियां.....'' (वे तो फिर आएंगे)। इस संग्रह में अज्ञेय युद्ध को लेकर चिंतित हैं, ''हम अपने दुश्मनों को मारेंगे/यदि वे ही पहले हमें मार न गए।'' (हम जरूर जीतेंगे)। इन कविताओं में स्पष्ट दिखता है कि अज्ञेय ने अपने 'मैं' में मनुष्य को ही खोजना चाहा है या मनुष्यता की पहचान ही उनकी ईहा है। कहा जा सकता है कि ऐसी कविताएं उनके बंद 'मैं' की खिड़कियां हैं, जिनसे वे समाज के हवा-पानी का जायजा लेते हैं। इनका संबंध उनके मूल स्वर से नहीं है, क्योंकि यह कवि वस्तुतः अपनी इन कविताओं की वजह से नहीं पहचाना गया। यह भी संभव है कि राजनीतिक कारणों से उसे अधूरा देखा गया। अज्ञेय के साहित्यिक व्यवहार कइयों को चिढ़ाने वाले होते थे। उन्हें किनारा करने की एक वजह यह हो सकती है। यह भी संभव है कि अपने आखिरी संग्रह तक आते-आते वे अपने को कुछ अधिक खोलना चाहते हों, उनका मौन चुक गया हो। फिर भी उनका आत्मान्वेषण अर्थात् अपने को तलाशना जारी है। उपर्युक्त संग्रह में यह अधिक मूर्त्त, पारिवारिक और पीड़ामय हो गया है, जैसे उनका आत्मान्वेषण अंततः एकाकी अन्तर्नाद हो।

इस भीड़ में व्याकुल भाव से खोजता हूँ उन्हें
मेरे माता-पिता, मेरे परिवार जन
मेरे बच्चे
मेरे बच्चों की मां
एक एक चेहरे में झांकता हूँ मैं
और देखता हूँ
केवल आंखों के कोटरों में भरा हुआ दुख
बेकली, तड़पन, छटपटाती खोज
खोजता हूँ अपनों कोः पाता हूँ
अपने ही प्रतिरूप

जब तक नहीं पा लूंगा अपने से इतर अपने को
कैसे होगी मुझे अपनी भी पहचान?

क्या अज्ञेय को जीवन के अंतिम समय में यह अहसास हुआ कि उन्होंने इतना आत्मान्वेषण करके अंततः जो पाया, वह बेकली, तड़पन और छटपटाहट से भिन्न कुछ नहीं है?

स्पष्ट करना उचित होगा कि अज्ञेय ने अपनी श्रेष्ठ कविताएं १९३५-६७ के बीच ही लिख ली थीं। निःसंदेह 'भग्नदूत' से 'कितनी नावों में कितनी बार', तक उनकी कविताओं में सामाजिक चिंता

के चिह्न जहां-तहां ही हैं। उनकी कविताओं में सामाजिक चिंता केन्द्रीय स्वर नहीं है और वह सदा प्रत्यक्ष रूप में नहीं है। फिर भी 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' के बीच अनगिनत स्तरों पर अज्ञेय कहां और कैसे खड़े हैं, यह उद्घाटित करने में किसी सरलीकरण का परिचय देना उचित नहीं होगा। आमतौर पर उन पर सम्मोहन या गुस्से में ज्यादा लिखा गया है। यह भी कहना जरूरी है कि इसका अवसर वे खुद देते थे।

कविता का काम मनुष्य के सौंदर्यबोध और संवेदना का परिष्कार ही नहीं है, इनका विस्तार करना भी है। पहले विज्ञान और बाद में संस्कृति-उद्योगों का विकास यह अहसास कराने लगा कि अब जीवन में 'विशिष्ट' कुछ भी नहीं बचेगा। कविता सैकड़ों साल से समाज का एक विशिष्ट मामला रहा है, उसका समाज में ऊंचा स्थान रहा है। नए आधुनिक युग में लगने लगा कि वैयक्तिक रचनात्मकता का धीरे-धीरे महत्व कम होता जा रहा है। शब्द संकट में है। इसलिए अज्ञेय ने ही नहीं, नई आधुनिक कविता के सभी रचनाकारों ने शब्द को लेकर चिंताएं व्यक्त कीं, जो जीवन को लेकर चिंताएं हैं। शब्द का महत्वपूर्ण हो उठने का अर्थ था परंपरा, अन्वेषण और परिर्वतन सबकुछ को भाषा के सृजनात्मक उपयोग में ही निहित मान लेना। अज्ञेय की दृष्टि में कवि शब्दों का प्रयोगकर्ता है। शब्द के बीच अंतराल और अर्थगर्भित मौन के उपयोग में उसकी सृजनात्मकता निहित है। इसलिए वह कहते हैं, 'कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है'। यह 'बिटविन द लाइन्स' का मुखर होना है। रोलां बार्थ ने एक उपमा दी थी कि देह का वह अंग अधिक आकर्षक होता है, जहां पोशाक उसे किंचित खुला छोड़ देती है। इस अंतराल, मौन या 'बिटविन द लाइन्स' का मुखर होना पाठक पर निर्भर करता है। ऐसे मौके पर उसकी सृजनात्मक कल्पना का सक्रिय होना जरूरी होता है। हम अज्ञेय की कविता में सुस्पष्ट अर्थ से भिन्न अनुगूंजें, संकेत और अर्थ की धुंधली प्रतिच्छायाएं पाते हैं। इसलिए अज्ञेय की कविताएं सामान्य रीति से अलग हट कर पाठ की मांग करती है।

अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में अपने वक्तव्य की इस धारणा का विस्तार कभी नहीं किया, ''अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ।'' हालांकि उन्होंने अपने को तुरंत बंद करते हुए यह सवाल उठा दिया, ''यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो- क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अंश दूसरे अंश के लिए लिखे?'' पूछा जा सकता है कि फिर कवि अपनी रचनाएं क्यों प्रकाशित कराता है या सुनाता है? कविता न शून्य में जन्म लेती है और न पाठक-श्रोता के बिना उसका भविष्य है। कहना यह चाहिए, पाठक अर्थ उत्पन्न करने वाला, खुद भी एक सृजनकर्ता होता है- उसके बिना कवि की गति कहां?

दुनिया में पिछली लगभग तीन सदियों से स्वतंत्रता को लेकर सबसे ज्यादा चिंतन और संघर्ष हुआ है, क्योंकि स्वतंत्रता ही इन शताब्दियों में सबसे ज्यादा खतरे में रही है। अज्ञेय स्वतंत्रता की बात करते रहे हैं, जो आज बाजार द्वारा स्वतंत्रता की दी जा रही परिभाषाओं से भिन्न है। अज्ञेय स्वतंत्रता को आधारभूत मूल्य मानते हैं। वे इसे व्यक्ति से जोड़ते हुए भी कहते हैं, ''दूसरे की स्वतंत्रता का आत्मचेतन दावा ही स्वतंत्रता का वास्तविक दावा है। इस 'दूसरे' के मुकुर में ही व्यक्ति अपनी अस्मिता को पहचान सकता है। 'मैं' के अधिकार का दावा तो एक जैविक प्रेरणा है, 'ममेतर' का दावा ही मनुष्यता की पहचान है।'' (व्यक्ति और व्यवस्थाः व्यक्ति और समाज, 'स्रोत और सेतु' में संकलित) मनुष्य की यह विवेकशील आत्मचेतना ही ''उसे आत्यंतिक रूप से पशु से अलग करती है।'' (वही)। आज का भोगपशु अपनी स्वतंत्रता के प्रति ही नहीं, 'दूसरे' के आईने में अपनी अस्मिता की खोज के प्रश्न पर भी बेहद कठमुल्ला है। अज्ञेय की स्वतंत्रता की अवधारणा व्यक्तिकेंद्रित होते

हुए भी बुद्धिवाद और सामाजिक उत्तरदायित्व से विच्छिन्न नहीं है। वह बृहत्तर मनुष्यता से प्रेरित है और व्यक्तिवाद में बंद हो जानेवाली नहीं है। पश्चिम के बुद्धिवाद और भारतीय परंपरा के 'आत्मबोध' को जोड़कर अज्ञेय ने उत्तरदायित्व से भरी स्वतंत्रता की जो धारणा दी, उसे कोरे व्यक्ति स्वातंत्र्य से एकांतिक रूप से जोड़कर देखने पर भ्रम पैदा होगा। अज्ञेय की लोकप्रिय कविता 'यह दीप अकेला' (१९५२) एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। यह भावना उनके पूरे काव्य में गूंजती है।

यह अद्वितीय; यह मेराः यह मैं स्वयं विसर्जितः
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

यदि व्यक्ति को 'दूसरे' के दर्पण में अपनी अस्मिता तलाशनी है तो वह अकेला क्यों होता है?वह अद्वितीय कैसे है, यह प्रश्न है। व्यक्ति का अकेलापन पूंजीवादी व्यवस्था, आधुनिकीकरण और नगरीय जीवन की देन है। मनुष्य सामाजिक संगठनों में रहते हुए भी अकेलेपन का अनुभव करता है, यह एक यथार्थ है। अज्ञेय ने यह बार-बार दिखाना चाहा है कि अकेलेपन में भी आदमी कैसे जी सकता है। रूसी कवि युव्तेशेंकु ने साम्यवादी समाज में मनुष्य का अकेलापन देखा था, 'आइ लव माइ लोनलीनेस, बिकाज इट इज मोस्ट फेथफल एमांग ऑल फेथफुलनेस।' अकेलापन वस्तुतः एक संकट है, पर यह अज्ञेय को उद्विग्न की जगह सम्मोहित ज्यादा करता है। यह सकून भी देता है। कवि इसका औचित्य ही नहीं स्थापित करता, बल्कि इसकी कातर यंत्रणा उद्घाटित करने की जगह वस्तुतः इसका महिमामंडन करता है। उसकी धारणा है, व्यक्ति के पास एक खुला आत्मबोध हो, तो वह अपने अकेलेपन में भी संपूर्ण सृष्टि का अनुभव कर सकता है। 'यह दीप अकेला' में इस बुनियादी धारणा को उजागर करने वाले दृश्य हैं। एक अकेला अंकुर धरती को फाड़ कितना निर्भय होकर सूरज को देख रहा है, इस अकेलेपन में भी समिधा कैसे हठ के साथ सुलग रही है, लघुता में भी व्यक्ति अपने भीतर कितना अडिग विश्वास रख सकता है, ये बाते कही गई हैं। व्यक्ति में अकेलेपन में भी मनुष्यता है। वह द्रवित होता है, प्रेम करता है, जागरूक है और दूसरे व्यक्तियों के साथ है। आधुनिकीकरण मनुष्य के ये गुण मिटा नहीं सकता, वह चाहे जितना अकेला कर दिया जाए।

यूरोप और एशिया का फर्क दिखाते हुए कहा गया है कि यूरोप वस्तुवादी होने की वजह से बहुकेंद्रित है, जबकि एशिया आत्मपरक होने की वजह से केंद्रीयतावादी है- केंद्राभिसारी है। यह तर्क आगे बढ़कर भारत को एक ऐसा देश साबित करता है, जहां सदियों से निरंकुश स्वेच्छाचारी केंद्रवाद रहा है। अज्ञेय को पश्चिम की तरफ देखने में कोई सकुचाहट नहीं है, पर वह भारत को औपनिवेशिक दृष्टि की जगह अपनी आंखों से देखते हैं। कबीर ने कहा था-'अनहद नाद', पर अज्ञेय ने एक विदेशी रहस्यदर्शी की उलटवांसी की सहायता से भारत की सांस्कृतिक विशिष्टता का चित्र स्पष्ट किया है, ''एक ऐसा वृत्त जिसका केंद्र सर्वत्र है और जिसकी परिधि कहीं नहीं है।' कुछ सच्चाइयां रहस्य में लिपटी हो सकती हैं, रहस्य को छांट दीजिए। अज्ञेय अपने विचार-विश्लेषण और कविता में कई बार रहस्यमय शैली में जीवन की सच्चाइयां कहना चाहते हैं। उपर्युक्त उलटवांसी से उनका वास्तविक अभिप्राय है, ''हमारी परंपरा में गौरव की बात केवल राजनीतिक प्रामाण्यों की अनेक केंद्रीयता नहीं है, बल्कि उससे भी अधिक सांस्कृतिक अनेक केंद्रीयता है।'' (वही)। वह 'अनेक केंद्रीयता' के साथ तुरंत 'सार्वभौमता' का प्रश्न उठाते हैं, जिस तरह 'दीप' के साथ 'पंक्ति' की बात

करते हैं।

आज भारत में केंद्र अपने कारणों से कमजोर होता जा रहा है, एक खास तरह से बहुत कुछ खंड-खंड हो रहा है। इसका अर्थ है, सामाजिक विभाजन और अनेक केंद्रीयता एक नहीं हैं। अज्ञेय ने कहा था, ''केवल राजनीतिक लक्ष्यों अथवा आदर्शों की पूर्ति के लिए अनेक केंद्रीयता की मांग काफी नहीं है। ''(वही)। वह केंद्रवाद का विरोध एक खास उद्देश्य से करते हैं'' सत्ता के श्रृंखलित तर्क को निरंकुश एकाधिकार के समर्थन की युक्ति बना लिया जा सकता है। ''(वही)। औपनिवेशिक दृष्टिकोण रखने के कारण यूरोप और अमेरिका अपने को 'केंद्र' तथा दुनिया के बाकी हिस्सों को 'परिधि' समझते आए हैं। भारत में भी केन्द्र और परिधि की समस्याएं हैं। अज्ञेय के निबंध संग्रहों के एक खंड का शीर्षक ही है 'केंद्र और परिधि'। इसका अर्थ है केन्द्रवाद ने उन्हें बड़े पैमाने पर विचलित किया था। वे व्यक्ति और समाज के रिश्ते के स्तर पर भी इस सोच को ले जाते हैं। इसलिए उनके व्यक्ति स्वातंत्र्य का एक अर्थ है, व्यक्ति की हर किस्म के केंद्रवाद से मुक्ति- वह चाहे प्राचीन निरंकुश केंद्रवाद हो, औपनिवेशिक केंद्रवाद हो या जनतांत्रिक केंद्रवाद हो। देखा गया है कि जनतांत्रिक केंद्रवाद में भी अंततः केंद्रवाद रह जाता है, 'जनतांत्रिक' का धीरे-धीरे क्षय हो जाता है।

दुनिया में व्यक्ति को हर तरह की आजादी हासिल हो, कलाएं पूर्णतः स्वतंत्र हों, ऐसी और इसी तरह की अनगिनत काल्पनिक इच्छाएं पूंजीवादी समाज में पैदा होती हैं। विडंबना यह है कि पूंजीवाद बड़े पैमाने पर व्यक्ति की स्वतंत्रता और सृजनशीलता को कुचलता भी है। वह केंद्र और परिधि की चिंतनीय स्थिति पैदा करता है। कहना न होगा कि एक बहुलतावादी समाज और विश्व-व्यवस्था में खंड-खंड को जोड़ने के सूत्र होने चाहिए, सामाजिक विभाजन मनुष्यता और जनतंत्र दोनों के लिए घातक है। क्या हम अज्ञेय को पूंजीवादी मानसिकता का कवि कह सकेंगे?क्या उन्होंने इसका थोड़ा भी अहसास किया था कि पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर व्यक्तिवाद पनपता है, व्यक्ति कोई सच्ची मानवीय गरिमा हासिल नहीं करता, बल्कि खुदगर्जी और दिखावा में डूबा होता है?सबसे पहले यह देखें, किस तरह अज्ञेय अक्सर एक शून्यता और अकेलेपन का अहसास करते हैं। मनुष्य के जीवन में पूंजीवाद ही ये चीजें पैदा करता है। मनुष्य को इस तरह की चीजों का अहसास विलगाव की वजह से होता है। मनुष्य अपने विलगाव से उबरने के लिए पूंजीवाद का सामना कैसे करे, अज्ञेय कैसे करते हैं?उनकी एक कविता है 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ'।

पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ
उसी के लिए स्वर-तार चुनता हूँ
....
यों बुन जाता है जाल सन्नाटे का
और मुझमें कुछ है कि उससे घिर जाता हूँ
सच मानिये, मैं नहीं है वह
क्योंकि मैं जब पहचानता हूँ तब
अपने को उस जाल के बाहर पाता हूँ।

अज्ञेय 'मौन' और 'सन्नाटे' का वही उपयोग करते हैं, जो मुक्तिबोध 'अंधेरे' का करते हैं। अज्ञेय 'मौन' में 'अहं ब्रह्मास्मि' के तर्ज पर अपने उच्चतर 'मैं' को खोलते हैं, जबकि मुक्तिबोध के

लिए 'अंधेरा' पूंजीवादी व्यवस्था को बेपर्द करने की जगह है। मौन अज्ञेय का एक दूसरा संसार है। यह चुप और वेध्य होना नहीं है, बल्कि मन को विराट बनाना है। यह मौन है जो कवि को झरने के साथ बहाता है, पक्षी के साथ गाने की जगह देता है, वृक्ष की कोंपलों के साथ थरथराने का अवसर देता है, पत्तों के साथ उसे मृत्यु और पुनर्जन्म देता है। यह मौन एक अन्तर्सक्रिय और अंतर्वैयक्तिक जगह है। यह अपने में एक संपूर्ण भाषा है। यह 'बिटविन द लाइन्स' का मामला नहीं है। यह वह जगह है, जहां व्यक्ति अपने को पुनःउपलब्ध करता है और भाव-प्रसार करता है। 'चक्रांत शिला' में इसका एक रूप इस प्रकार है-

वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ-
क्योंकि वही मुझे बताता है कि मैं कौन हूँ
जोड़ता है मुझको विराट से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सबको समोता है।

अज्ञेय 'मौन' में विलगाव से मुक्त होकर अपने को प्रकृति, पशु-पक्षी, काल के अविच्छिन्न प्रवाह ऐतिहासिक कल्पना (इतिहास नहीं), दुनिया की अनगिनत चीजों से जोड़ते हैं। वह पूंजीवाद से कन्फ्रंट नहीं करते, अपने मनःसंसार में एक अलग स्वयंरचित दुनिया बनाते हैं। इसमें परिवार, सामाजिक बंधन और राजनीति के लिए जगह नहीं है। यदि देश आया भी है तो आत्मधिक्कार के लिए, जैसे-'तू एक बार तन कर खड़ा तो होता मेरे लुजलुज भारतवासी?(केले का पेड़ १९६८)। अज्ञेय ने हर चीज को, बाहर को प्रवासी-भाव से, देखा 'तौल अपने पंख, सारस दूर के इस देश में तू है प्रवासी।' (सांझ के सारस, १९८६)। 'सदानीरा' की भूमिका में अज्ञेय की एक महत्वपूर्ण आत्मस्वीकृति है, ''मैं परिस्थितिवश आरंभ से ही समाज से बाहर रहा और पुस्तकों का समाज ही मेरा समाज रहा।'' अज्ञेय ने एक आधुनिक जिंदगी जी, पर पूंजीवादी समाज को स्वीकार कर लिया, यह नहीं कहा जा सकता। वह पूंजीवाद से टकराते नहीं तो उसके आगे आत्मसमर्पण भी नहीं करते।

अज्ञेय की हर कविता में उनकी अपनी स्वयंरचित दुनिया का महिमामंडन है। वह लगभग एक जैसी है, इसलिए मोनोटोनस भी। अज्ञेय अपनी स्वयंरचित दुनिया का विस्तार करते हुए अपनी स्वतंत्रता का भी विस्तार करते हैं। वे किसी दूसरी जगह स्वतंत्रता का अनुभव नहीं करते। वह शहर, सेक्योरिटी और अतीत को आलोचनात्मक नजरिये से देखते हैं। 'पहले' मैं सन्नाटा बुनता हूँ' कविता संग्रह में यही मामला है।

गाड़ी ठहराने के लिए
जगह खोजते-खोजते
हम घूम आए शहर
बीमे की किस्तें चुकाते
बीत गई जिंदगी
अतीत से कट गए
चढ़ाकर फूल चंदन

अब जिसमें जीते हैं
उससे मिले तो क्या मिले?

शहरीकरण ने मनुष्य की बेगानगी बढ़ाई है, भले यहां कई सुख हों। बहुत मुश्किल है शहर में आत्मीयता का कोई कोना मिलना। शहर वे आधुनिक जगहें हैं, जहां बुद्धिवाद और पश्चिमी सभ्यता का असर व्यापक रूप से पड़ा है। यह भी एक वास्तविकता है कि आधुनिकता की छाया में यहां मानवता का बुनियादी रूप से व्यापक पतन घटित हुआ है। अज्ञेय ने सांप से पूछा है- 'तुम सभ्य तो हुए नहीं/नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया/ एक बात पूछूं-उत्तर दोगे?/फिर कैसे सीखा डसना/विष कहां पाया?' यह व्यंग्य गहरी मानवीय पीड़ा से निकला है।

शहर में अब भी स्पेस है। 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९) में घास 'आधुनिक मानव-मन की भावना' बन जाती है। यह एक समानांतर आधुनिकता है, जिसमें सभ्यता की दरारें नहीं हैं। इस कविता में घास पर बैठना, आपस में धीरे-धीरे बातें करना, आधुनिक सभ्यता से बाहर निकल कर क्षण भर प्रकृति में तल्लीन होना, कुछ अनायास याद करना- चीड़ों के वन के साथ स्टीमर की भर्रायी सीटी की भी, शिरीष के रेशम के साथ मस्जिद के गुंबद के पीछे सूर्य को भी, आंधी-पानी लू के साथ संथाली झूमर को भी यह सब सीमाहीन खुलेपन की चाह है। अज्ञेय का कहना है कि जीवन में सीमाहीन खुलेपन के बिना मानवीय बोध का विस्तार नहीं होगा, संवेदना का संस्कार नहीं होगा। उनके निकट स्वतंत्रता का अर्थ है मानवीय संवेदना का विस्तार। वह स्मृति चुनते हैं, पर 'याद कर सकें अनायासः और न मानें/हम अतीत के शरणार्थी हैं।' यह कविता क्षण के साथ स्मृति को महत्व देती है, पर कवि को अतीत का शरणार्थी होना पसंद नहीं है। उसे शहर में रहते हुए भी शहर पसंद नहीं है। इसका अर्थ गांव में लौटना, प्रकृति में लौटना नहीं है। अज्ञेय का आक्रमण शहर के माध्यम से नागरिक समाज, बुद्धिवाद और आधुनिकता की दुर्दशाओं पर है।

नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में अतिशय चिकनाई है साबुन की
किंतु नहीं है करुणा
उठो, चलें प्रिय!

शहरीकरण, इतिहास और राष्ट्र-आधुनिकीकरण की ऐसी कई चीजों से एक घनघोर आधुनिक समय में उदासीनता दुनिया के पिछले तीन-चार सौ साल के विकास पर संदेह है। यह विकास एक घटना है, फिर भी कोई इस पर संदेह कर सकता है। इस पर संदेह पीछे लौटने की सूचना नहीं है, अधिक मानवीय संवेदना, अधिक स्वतंत्रता के लिए आवाज है।

एक आधुनिक कवि के रूप में अज्ञेय जितना अतीत को प्रश्नांकित करते हैं, वे आधुनिकता को भी संदेह से देखते हैं। मानवीय गरिमा के लिए आधुनिकता के भीतर चली आ रही औपनिवेशिक आधुनिकता और मनुष्य को नए बंधनों से जकड़ने वाली आधुनिक रूढ़ियां खतरनाक हैं। यही वजह है कि अज्ञेय ने परंपरा और आधुनिकता की टकराहट के साथ आधुनिकता और आधुनिकता की टकराहट को भी महत्व दिया। वह एक वैकल्पिक आधुनिकता की तलाश करते हैं। इसके लिए वह वह इतिहास को भी त्यागने के लिए तैयार दिखते हैं, क्योंकि यह मनुष्य को सीमित करता है और

कभी-कभी हिंसक भी बना देता है। अज्ञेय ने बड़ी उग्रता से लिखा है, ''एक विशेष नरक था/पर ये इसे/अपना इतिहासबोध कहते हैं।'' इसी नरक से धर्मोन्माद का जन्म हुआ, जिसका अज्ञेय ने विरोध किया।

इन सबका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञेय शहरों में नहीं रहे, इतिहास में कुछ नहीं है, राष्ट्र एक गैर-जरूरी जगह है या आधुनिकता अछूत हो गई। उनकी चिंता का विषय है इन सभी का अमानवीय जगह हो उठना- मनुष्य की स्वतंत्रता के विस्तार में इन सभी का साधक की जगह बाधक बनते जाना। वे महसूस कर रहे थे कि नए जमाने की सभ्यता ने शहर, इतिहास, राष्ट्र और आधुनिकता को बदसूरत बना दिया है, ऐसा उसने सृजनात्मक कल्पना के अवसर लगातार छीन कर किया है। मनुष्य की स्वतंत्रता की एक कसौटी यह है, वह 'गोचर अनुभवों की भूमि' पर खुद कल्पना कर पाता है या नहीं।

खासकर २१वीं सदी में मनुष्य की निजी कल्पनाशीलता का बड़े पैमाने पर ह्रास हुआ है, इसी तरह स्वतंत्रता का भी। मनुष्य उपभोग के स्तर पर आधुनिक है- वह शहर, इतिहास और राष्ट्र का खूब उपभोग कर रहा है, पर उसकी संवेदना आधुनिक संस्कारों से कोसों दूर है। उपभोग के स्तर पर आधुनिक होते जा रहे मनुष्य की संवेदना में न उदारता है और न गतिशीलता।

क्या मनुष्य की स्मृति उसकी यात्रा में रुकावट है? अज्ञेय लिखते हैं, ''काल पर विजय यदि संभव है तो स्मरण के द्वारा नहीं है, आकांक्षा के द्वारा भी नहीं है, वह अत्यंत वर्तमान में एक आत्मचेतन अस्ति के द्वारा ही संभव है।'' (काल का डमरू नाद) । मनुष्य अपने अस्तित्व को भूलकर अतीत में ज्यादा जीता है या भविष्य में। वह वर्तमान को हेय समझता है। अज्ञेय के अनुसार हमारी काल चेतना ''अनिवार्यतया स्मरण पर अथवा प्रतीक्षा पर आधारित है।'' बीते हुए का स्मरण और अनागत की प्रतीक्षा वर्तमान वह क्षण है, ''जिसकी न स्मृति है, न प्रतीक्षा अथवा कामना। कोई ऐसा क्षण पाया जा सके- ऐसे क्षण को कोई पा सके, आत्मचेतन होकर स्मृति और आकांक्षा से परे जी सके, तो वह ऐसा व्यक्ति हो जाएगा, जिसकी छाया नहीं होती है'' (वही)। क्या व्यक्ति ऐसा हो सकता है इतिहास से न कुछ ले और न उसके लिए कोई चिह्न छोड़े? खुद जिस भाषा में अज्ञेय यह सब लिख रहे हैं, वह उनका या किसी एक क्षण का अन्वेषण नहीं है। इलियट ने लिखा था, 'टू बि कांशस इज नाट टु बी इन टाइम'। आधुनिकता का शुरू में अर्थ था 'वर्तमानता', बाद में इसका अर्थ वस्तुओं और मूल्यों से जुड़ गया। आधुनिकता ने ही इतिहास दिया। अब इसी इतिहास से ऐसे हिंसक प्रेत जाग उठे और किसी-किसी देश में जैसा कि भारत में धर्म चेतना का मन पर बोझ इतना बढ़ता गया कि अतीत आततायी हो उठा। इसलिए एक नई आधुनिकता आई, जिसने इस पर जोर दिया कि मनुष्य क्षण को महत्व दे। वह इस रास्ते से अपने गोचर अनुभव-अस्तित्व के अनुभव को महत्व दे, क्योंकि इसके बिना उसकी स्वतंत्रता अधूरी है।

स्मृति भी है यातना
या कि हो सकती है-
पर जिनके पास रह गई उनको
सिवा हांकने, दुहने
या कि बलि देकर खाने के
और कुछ नहीं आता

यह सही है कि स्मृति के दुरुपयोग हुए हैं, यह अमानवीय सत्ता का उत्स बनी है। यह भी उतना ही सही है कि यदि स्मृति न हो, न देश होगा, न परिवार, न प्रेम, न संस्कृति और न भाषा। स्मृति नहीं होगी तो चारों तरफ सिर्फ उपनिवेश होंगे। स्मृति का बोझ हो उठना एक चीज है और इसका जीवन का जीवंत अंग होना एक बिल्कुल दूसरी चीज। खासकर भारत न स्मृतियों के बोझ से लद कर और न स्मृतियों के बिना अस्तित्वमान रह पाएगा। अतीत में सकारात्मक स्मृतियां हैं और नकारात्मक स्मृतियां भी। सवाल है, हम क्या याद कर रहे हैं। आधुनिक युग में छायावाद तक स्मृतियों के बिना कोई राष्ट्रीय आत्मछवि मुश्किल थी। आजाद भारत में स्मृतियां जकड़न बनने लगीं।

हम ६० और ७० के दशक की ओर दृष्टि ले जाएं, जब अज्ञेय का श्रेष्ठ लेखन सामने आ रहा था, आधुनिकता जो कुछ प्रचलित था और बंधन बन रहा था, उससे विद्रोह के रूप में सामने आई थी। इतिहास ही नहीं, समाज भी असुविधाजनक जगह होता जा रहा था। 'व्यक्ति' विपद में था। मनुष्य में वैयक्तिकता का बचना जरूरी था। आधुनिक लेखकों को औद्योगिक भौतिकवाद, राजनीति और धार्मिक नैतिकता उद्विग्न करने लगी थी। वे परंपरा और आधुनिकीकरण दोनों पर संदेह कर रहे थे। उन्होंने बाहर के भौतिक जगत से निराश होकर आत्मजगत में आश्रय ले लिया था। यह आत्मजगत ही सब कुछ था। कहीं भी जाकर इसी में लौटना था, बसने की एक जगह तब बची हुई थी।

कांट ने आत्मजगत-केंद्रिकता की धारणा को एक बिंब के माध्यम से स्पष्ट किया है। एक उड़ता पक्षी जब उसी हवा को अवरोधक के रूप में देखता है, जिसके जरिये वह उड़ रहा है तो उसके मन में यह विचार आ सकता है कि वह हवारहित शून्य में शायद बेहतर उड़ान भर सकता है।

मनुष्य के लिए देश और काल अर्थ रखते हैं। वह कवि जो आत्मजगत-केंद्रित है, वह भी बाह्य संसार की वस्तुओं के बिना न कोई अनुभव कर सकता है, न संवाद कर सकता है और न रचना कर सकता है। अज्ञेय ने कोई देश नहीं चुना। वह काल को भी टाल गए। वह दरअसल अपने अनुभव के देश काल में थे। इसी जगह वह अपने को एक रहस्यमय तरीके से संपूर्ण सृष्टि और मानवजगत से जोड़ते थे, क्योंकि अपनी चेतना में एक मानवीय अखंडता का अनुभव करना चाहते थे। आधुनिकता जितनी बड़ी संकीर्णताएं पैदा कर रही थी, मानवता का स्पेस जितना सिकुड़ता जा रहा था, उतनी ही तल्खी से अज्ञेय संपूर्ण भौतिक सृष्टि को अपने घर के आंगन के रूप में देखते थे। आंगन में द्वार हैं, पर वे खुले हुए हैं। द्वार पर कोई द्वारपाल नहीं है, सत्ता की धौंस नहीं है। कोई आगे नहीं है, कोई पीछे नहीं है। कोई कम महत्वपूर्ण कोई अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। सृष्टि के ओर-छोर में सभी एक दूसरे से घुले मिले हुए हैं और अखंड हैं। इस सीमाहीन खुलेपन के भीतर भवन का जो देवता है, वह खुद कभी पूजित होना नहीं चाहता, बल्कि वह समर्पण से भरा है और द्वार के रक्षक की पायलगी कर रहा है। यह भीतर का देवता व्यक्ति का निरहंकारी 'मैं' है, आत्मबोध है। द्वार का प्रतिहारी व्यक्ति की बुद्धि है। 'आंगन के पार द्वार' (१९६१) एक प्रतीकात्मक कविता है, जो अज्ञेय के जीवनबोध की विशिष्टता को व्यक्त करता है। उनके 'मैं' का विराट भवन उस आंगन में था भी और एक आलोक में खो भी गया था।

आंगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आंगन।

भवन ओर-छोर
सभी मिले-
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।
कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा-लागन।

आधुनिकतावादी लेखकों ने बाह्यजगत में असहजता का अनुभव करके अपने जीवन को आत्मकेंद्रित किया, क्योंकि वे सोचते थे कि केवल तभी वे स्वतंत्रता का अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने ऐसे भाववादी रूपाकारों का अन्वेषण किया, जिनका सामाजिक जीवन से लेना-देना न था। ये रूपाकार निश्चय ही कुछ ठोस मानवीय चिंताओं से जन्मे थे, भले यथार्थपरक न हों। आज के उत्तर-उपभोक्तावादी समय में जब मानवीय अंतःकरण का निरंतर संहार किया जा रहा हो और सामुदायिक झुंडों में शामिल आदमी में 'व्यक्ति' या व्यक्ति-विवेक का कोई अता-पता न हो, शहरीकरण, इतिहास और राष्ट्र से विद्रोह करने वाली वैकल्पिक आधुनिकता मानवीय अस्तित्व और मूल्य-चिंता के कुछ सकारात्मक तत्वों से भरी-पूरी दिख सकती है। यह नई आधुनिकता अमूर्तन और पारदर्शीकरण पर टिकी थी। यह सही है कि कला के भीतर से एक आत्मसंपूर्ण आधुनिक दुनिया की कल्पना रहस्यमयी और यूटोपियन है। निश्चय ही हर आधुनिकता अपना एक यूटोपिया बनाती है, जबकि उत्तर-आधुनिकतावादी स्वप्नहीन होता है।

रहस्यवाद काल से कालातीत में छलांग है, यह इतिहास से बाहर निकलना है। अज्ञेय के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे पिछले युगों के रहस्यवादियों से भिन्न हैं। वह खुद कहते हैं, 'मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है।' मुख्य बात है, एक तरफ विज्ञान से प्रभावित होकर 'सत्यान्वेषण' के लिए प्रयोग पर जोर और दूसरी तरफ विज्ञान के युग में ही रहस्य की अनुभूति। दूसरी बात है, उनकी कविता में रहस्यवाद नहीं है, रहस्यमयता है। अज्ञेय की कविता में रहस्य का जोन वहां बनता है, जहां आत्मान्वेषण के एक खास बिंदु पर वह किसी असीम भौतिक-मानवीय सत्ता से संबंध जोड़ना चाहते हैं और आत्मान्वेषण एक आत्म-अभिभूत दशा में ढल जाता है। अज्ञेय की रहस्यमयता एक खास किस्म की साहित्यिक संरचना है। इसे मानव-रहस्य कहा जा सकता है, जिसका रिश्ता एक भिन्न नैतिकता से है और अमूर्त्तन से है। उनकी रहस्यमयता के पीछे विश्व की कुछ वे आधुनिक कला-प्रवृत्तियां काम कर रही थीं, जिनकी टकराहट अति-भौतिकवादी सभ्यता और इसकी पूंजीवादी प्रणाली से थी। इसलिए यदि अज्ञेय की कविताओं में विराट, अपौरुषेय, भीतर का देवता, आत्मा, स्वयंसिद्ध, मौन जैसे भारतीय जीवन के आध्यात्मिक शब्द आए हों, यह आश्चर्यचकित होने की चीज नहीं है।

नेहरू ने १९५९ में आजाद मेमोरियल लेक्चर देते हुए एक सवाल रखा था, ''क्या हमलोग विज्ञान और टेक्नोलॉजी की प्रगति के साथ मन-आत्मा की उन्नति भी करते हैं? मेरा मुख्य सरोकर सिर्फ भौतिक प्रगति से ही नहीं है, बल्कि लोगों के आंतरिक गुणों और उनकी गहराई से भी है। औद्योगिक प्रक्रिया के जरिये सत्ता अर्जित करके लोग क्या संपत्ति और सुख की आकांक्षाओं के बीच

अपने आपको खोते नहीं जा रहे हैं?'' नेहरू खुद आधुनिकीकरण के एक बहुत बड़े समर्थक थे। यह भारत की खोज का समय नहीं था, भारत के नव-औपनिवेशिक आत्मविर्सजन का दौर था। नेहरू आधुनिकीकरण को पश्चिमीकरण से अलग नहीं कर पा रहे थे। अज्ञेय की कविता नेहरू युग की 'क्रिटीक' है। उस युग में मनुष्य की आधुनिक जिंदगी से जो खोता जा रहा था, उसे ही वे खोजते थे। वे कुछ पुनःआविष्कार कर रहे थे। वे चाहते थे, संकट से घिरे मानव अस्तित्व को एक नए रास्ते से अर्थ मिले। उनका रास्ता यथार्थवादियों के रास्ते से अलग था। वे सही थे या गलत थे, ऐसा कोई सरलीकृत निष्कर्ष देने की जगह यह देखना ज्यादा जरूरी है कि वे एक समय कला, साहित्यिकता, स्वातंत्र्य, मानवीय संवेदना, उच्चतर मूल्य जैसी चीजों के पक्ष में इतनी दृढ़ता से क्यों खड़े थे।

६० और ७० के दशक के पूंजीवादी समाज में मध्यवर्गीय जीवन रोमांटिसिज्म, यथार्थवाद और अस्तित्ववाद के बीच कसमसा रहा था। वह कभी उदात्तता, कभी संघर्ष और कभी निस्सहायता के तट पर होता था। वह एक द्वैध और अंतर्विभाजन के लिए अभिशप्त था। नई कविता मुख्यतः ऐसे ही मध्यवर्गीय जीवन के आत्ममंथन, संघर्ष और सौंदर्य को लेकर सामने आ रही थी। उस जमाने में परिवर्तन की राजनीति तेज थी, जन-आंदोलन उभर रहे थे। इन स्थितियों के बीच अज्ञेय की चिंता यह थी कि सामाजिक जीवन में व्यक्ति का सही स्थान क्या हो, बिखर रहे मानव जीवन में लय कैसे पैदा हो, व्यक्ति के बाहरी और आंतरिक संसार में कैसे एक सामंजस्य हो, व्यक्ति की स्वतंत्रता पर परंपरा और आधुनिक सभ्यता के बुर्ज से हो रहा आक्रमण कैसे रोका जाए, व्यक्ति की जिंदगी सभी तरह के अमानवीय हस्तक्षेपों से कैसे मुक्त हो, उसकी मानवीय अस्मिता पर कोई कृत्रिम सामूहिक पहचान कैसे न लदे। समाज को बदलने की जगह व्यक्ति स्वाधीनता की ऐसी चाहतें पूंजीवादी व्यवस्था से टकराहट थीं या उसका अंग थीं?

प्राचीन काल से ही अति भौतिकवादी झुकावों के कारण जन्मा अहंकार मिथकीय चिंता का विषय रहा है। रावण, हिरण्यकश्यप, कंस प्राचीन अहं के प्रतीक थे। आधुनिक युग के अति-भौतिकवाद और ज्ञान की सत्ता ने व्यक्ति-व्यक्ति में अहंकार पैदा किया है। यह कई बार 'ईगो' के रूप में आता है। अज्ञेय के लिए आधुनिक युग का अहंकार चिंता का विषय रहा है।

अज्ञेय अपने व्यावहारिक जीवन में स्वयं कुछ अधिक स्वाभिमानी या अहंवादी रहे हों, पर उनके साहित्य में अहंवाद नहीं है। उनकी कविता में ऐसे सवाल होते हैं-''अहं। अंतर्गुहावासी! स्वरति क्या मैं चीन्हता कोई न दूजी राह/जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह?'' उनमें एक आधुनिक मिजाज का अहं स्वाभाविक वजह से है, पर यह बार-बार उच्चतर मानवीय जीवनबोध में विसर्जित हो जाता है। यह उनके लिए अन्य वस्तुओं की तरह ही महज एक वस्तु है, जो आत्मबोध में अंततः खो जाती है। अज्ञेय कई बार 'अपना नहीं होने' का बोध करते हैं। यह कहना सही नहीं है कि 'अहं' उनका सुरक्षात्मक कवच है। उनकी 'निरस्त्र' कविता में है- ''यों मैं अपने रहस्य के साथ रह गया सन्नाटे से घिरा/अकेला, अप्रस्तुत/अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र/निष्कवच/बध्य/'' अज्ञेय का अहं निरस्त्र ही नहीं निष्कवच भी है। वह मानवीय चेतना की क्रियाओं पर नियंत्रण नहीं रखता, बल्कि उनसे मंजता है, संस्कार प्राप्त करता है और अपने को लुटा देता है। अज्ञेय में एक बड़ा ही अर्थपूर्ण द्वैत है- 'मैं हूँ और दे दिया गया हूँ।' उनका अहं मानवीय चेतना की अनगिनत लहरों से मंजे मोती की तरह है, जो एक तरफ वैयक्तिकता का प्रतीक है और दूसरी तरफ विश्वप्रतिम है। यह भले सही हो कि अज्ञेय का 'मैं' आत्म-आलोचनात्मक नहीं है, आत्मश्लाघात्मक है, पर उनका 'मैं' अहं का प्रतिरूप नहीं है। अज्ञेय अपने 'मैं' के जरिये किसी स्वेच्छाचारिता की

तरफ बढ़ना नहीं चाहते, बल्कि मानवीय जीवन की कुछ उच्चतर चीजों की रक्षा करना चाहते हैं। उनमें अपने को अन्य से, 'मैं' को 'ममेतर' से जोड़ने की बेचैनी है। यह कहना सही नहीं है कि अज्ञेय का 'अन्य' हमेशा उच्छाड़, गलत और हास्यास्पद है या यह उनके 'मैं' का अंधेरा पक्ष है। वह जिस 'अन्य' या 'ममेतर' से जुड़ना चाहते हैं, उपर्युक्त के ठीक विपरीत एक विराट चराचर सृष्टि है, उसमें समाज के लोग भी हैं।

ओ निस्संग ममेतर
ओ अभिन्न प्यार,
ओ धनी,
आज फिर एक बार
तुमको बुलाता हूँ-
और जो मैं हूँ, जो जाना-पहचाना
जिया-अपनाया है, मेरा है,
धन है, संचय है, उसकी एक-एक कली को
न्यौछावर लुटाता हूँ।

क्या ऐसा कवि पूंजीवादी या स्वेच्छाचारी हो सकता है? अज्ञेय जब मरे, उनके पास अपना कुछ नहीं था। लंबे समय तक उन्हें ठीक से याद करने वाला कोई नहीं था, क्योंकि बौद्धिक स्वातंत्र्य का प्रवक्ता होने के कारण उनके पीछे कोई दल न था। यह भारत में आधुनिकता की दयनीय स्थिति का द्योतक है, लेखक दोनों तरफ से कुचला जाता है।

क्या अज्ञेय को प्रेम का कवि कहा जा सकता है- मानवीय प्रेम का कवि?उनके काव्यात्मक मन की बुनियाद ही ऐसी पंक्तियां हैं- 'आज प्राण मेरे प्यासे हैं आज थका हिय हारिल मेरा/आज अकेले ही उसको इस अधियारी संध्या ने घेरा।' (१९३६)। एक रोमांटिसिज्म उनके अंतःस्थल में था, जो वस्तुतः कभी नहीं चुका। उनके नजदीक प्रेम और सच दो अलग शब्द नहीं हैं। उनका सत्यान्वेषण विश्व में प्रेम का ही अन्वेषण है। उनकी बुनियादी समझ यह है, 'मैंने आहुति बन कर देखा यह प्रेम यज्ञ की ज्वाला है।' (१९३७)। वह साधारण तिनके को भी पावन मानते हैं। उनमें अकेले का साहस है, 'उड़ चल हारिल, लिए हाथ में यही अकेला ओछा तिनका/...कांप न यद्यपि दसों दिशा में तुझे शून्य नभ घेर रहा है।' (१९३८) यह ओछा तिनका आगे पावन तिनका हो जाता है। सृष्टि की साधारण से साधारण चीज के प्रति, जिससे निर्माण हो सकता है, पावनता का बोध और जोखिम ही अकेलेपन की कठिन स्थिति में व्यक्ति का आत्मसंबल होता है। दसों दिशाओं से शून्य नभ का घेरना व्यक्ति को मिलने वाली कठोर औपनिवेशिक सामंती चुनौतियां है। यह अनुभूति पर परंपरा और औपनिवेशिक आधुनिकता का सम्मिलित कसाघात है। हारिल एक समय कवि का बड़ा ही प्रिय रूपक था, यह प्रेम से भरे सृजनशील व्यक्ति की आकांक्षाओं का रूपक था। अज्ञेय के काव्य मानस की बुनियाद में यदि प्रेम की अनुभूति थी, कोई वजह नहीं है कि 'मैं' और 'ममतेर' के अंतर्संबंध में प्रेम ही मूल प्रेरणा न हो।

यह उल्लेखनीय है कि अज्ञेय बाद में नभ में उड़ते 'हारिल' को छोड़कर सागर की 'मछली' को अपना प्रिय प्रतीक बना लेते हैं। हारिल के साथ में घर बनाने के लिए साधारण तिनका था, उसमें

रोमांटिक साहस था। 'टेर रहा सागर' में मछली अकेलेपन की किसी गहरी यातना में है, ''अर्थ हमारा/जितना है, सागर में नहीं/हमारी मछली में है/सभी दिशा से सागर जिसको घेर रहा है।'' (१९५९)। यह अकेलेपन का रोमांटिक प्रभामंडल से बाहर निकल कर यातना के प्रदेश में पहुंचने का संकेत है। ७० के दशक में जगमग आधुनिकीकरण पूरे विश्व में अपने निर्मम रूप में था, व्यवस्था भी अधिक कठोर होती जा रही थी। 'कितनी नावों में कितनी बार' (१९६६) में आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन का निर्मम रूप पाते हैं- ''कितनी बार कितने जगमग जहाज/मुझे खींच कर ले गए हैं कितनी दूर/किन पराये देशों की बेदर्द हवाओं में/जहां नंगे अंधेरों को/और भी उघाड़ता रहता है/एक नंगा, तीखा निर्मम प्रकाश/जिसमें कोई प्रभामंडल नहीं बनता।'' रोमांटिक साहस का पुराना जमाना बीत गया था, अब आदमी खिन्न, विकल और संत्रस्त था। अज्ञेय को 'पूर्व अज्ञेय' और 'उत्तर अज्ञेय' के रूप में बांट कर कहा गया है कि बाद में अज्ञेय की कविताओं में साहसिकता, विविधता और खुलेपन का अभाव है। बाद के अज्ञेय के विकास को आधुनिक जीवन में छाती जा रही रिक्तता और तुच्छता के संदर्भ में देखना होगा। वह प्रकृति की ओर अधिक से अधिक जाने लगते हैं, ताकि अपने विलगाव से लड़ सकें। अब पुराने रोमांटिक साहस की संभावना कम रह गई थी। कवि की कला शोकात्मक हो गई थी। यह सिलसिला उनके अंतिम कविता संग्रह तक जारी है ''घर मेरा कोई है नहीं/घर मुझे चाहिए/घर के भीतर प्रकाश हो/इसकी मुझे चिंता नहीं है/प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो-/इसी की मुझे तलाश है/ऐसा कोई घर आपने देखा है?''उनकी तलाश अब उदास है।

अज्ञेय का विश्वास है, प्रेम की मिट्टी से ही पीढ़ी-दर पीढ़ी मूल्यों का सृजन होता आया है। प्रेम अंततः एक सृजनशील आत्मविस्तार है। यह जीवन को सबसे महान संगीत में अपने को डुबो देना है, आज की तरह उपभोग की एक चीज भर नहीं है। यह सही है कि उनकी शुरू की कविताओं में ही स्त्री से प्रेम है। उनके ऐसे प्रेम में सबसे प्रधान चीज है स्त्री को गरिमा, उसके स्वत्व का आदर। अज्ञेय के लिए बाद में प्रेम एक बिल्कुल निजी, एक गोपन, एक मौन मामला बन गया। यह जैसे सृष्टि की एकतानता और उसके ऐश्वर्य को अपने भीतर अनुभव करना हो, उसकी संपूर्णता को अपने भीतर समोना। उनकी कविता 'कलगी बाजरे की' में उपमानों की विशिष्टता ही नहीं है, भाषा के जादू का ही कमाल प्रदर्शन नहीं है। इसमें एक नए प्रेम और नए सौंदर्यबोध का आविष्कार है- ''मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगीः/तुम्हारे रूप के-तुम हो निकट हो इसी जादू के-/निजी किस सहज, गहरे बोध से/किस प्यार से मैं कह रहा हूँ-/अगर मैं यह कहूँ/बिछली घास हो तुम/ लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की।'' निश्चय ही रूप का जादू प्रेम के जादू से अलग नहीं है। यह रूप शहरातियों का उपभोक्ता सामान नहीं है। इसीलिए प्रेमिकर एक ऐसी हरी चिकनी घास लगती है, जो 'सृष्टि के विस्तार का- ऐश्वर्य का- सौंदर्य का' प्रतीक है। अज्ञेय प्रेम को सृष्टि की एक विराट पृष्ठभूमि में देखते हैं, जहां अकेलापन और विश्व अंतर्क्रियाशील हैं।

मुश्किल यह है कि अज्ञेय नागर-रुचि की भाषा में लिखते हुए भी कभी किसी नागरिक से संवाद करना नहीं चाहते। उन्हें आदिम जीवन व्यतीत करते संथाली जरूर याद आते हैं। वे चट्टान, बावरा सूरज, ऐतिहासिक खंडहर, कार्तिक के चांद, नदी, सागर, रेत, सोनमछली, चिड़िया, फूल और उन सारी चीजों से बात करते हैं, जहां सत्ता के रूप नहीं है। वह कहते हैं- 'वहां समस्या नहीं है/क्योंकि वहां सत्ता नहीं है'। (आर्फ़ेउस)। सत्ता जहां है, वहां दमन है। हिंदी का दूसरा कोई कवि नागरिक-समाज से इतना विमुख नहीं हुआ। वह इस पर व्यंग्य करता, तब भी इससे एक रिश्ता

बनता।

अज्ञेय का काव्य वर्तमान का एक आलोकमय संगीत है। उनके लिए 'स्मृति' एक कारागार है। इसलिए यह संगीत न स्मृति है और न आशा। यह प्रकृति का ही सूक्ष्म प्रतिरूप है। अपने समय के औद्योगिक-राजनीतिक युग में अज्ञेय का प्रकृति-प्रेम जीवन के पर्यावरण की सुरक्षा के लिए है। यह गहरी जिजीविषा से जन्मा है। पर्यावरण-रक्षा के इतने प्रचार के बावजूद औद्योगिक संस्कृति प्रकृति के प्रति क्रूर है। अज्ञेय की कविता 'नंदा देवी' (१९७२) बादलों और नदियों के बीच खड़े नंदा शिखर के सौंदर्य पर मुग्ध होकर लिखी गई कविता ही नहीं है। वे इसमें कटते पेड़ों, सूखे झरनों और धुएं में आधुनिकीकरण का आततायी रूप भी देखते हैं और दुखी होते हैं- ''कल के लिए हमें/नाज का वायदा है-/आज ठेकेदार को/हमारे पेड़ काट ले जाने दो।'' जंगल के पेड़ अखबार के पन्ने बन रहे हैं। अज्ञेय की पर्यावरण-चिंता विकास के लिए जरूरी माने जा रहे अंधे आधुनिकीकरण को प्रश्नांकित करती है और एक विश्व-चिंता में साझा करती है।

नंदा
जल्दी ही-
बीस-तीस-पचास बरसों में
हम तुम्हारे नीचे एक मरु बिछा चुके होंगे
और तुम्हारे उस नदी-धौत सीढ़ी वाले मंदिर में
जला करेगा
एक मरु दीप!

उस युग के कवियों ने अपने भागदौड़ की जिंदगी में महज एक सौंदर्यात्मक स्पेस पैदा करने के लिए प्रकृति पर कविताएं नहीं लिखीं। उन्हें जीवन से प्रेम था, इसलिए उन्होंने प्रकृति का सौंदर्य देखा। अज्ञेय के लिए प्रकृति उनके जीवन का आंगन है। यह उनके व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करती है और उनके प्रेम को भी। प्रकृति की गोद में जीवन एक आलोकमय संगीत बन जाता है।

मैं
यहीं गाऊं। गाता रहूँ
तुम
वहीं आओ। आती रहो।
धूप की थिगलियां। तितलियां। बसंत।
एक पाले का परदा। शिलित अंधकार।
अंधेरा संगीत। संगीत में आलोक की तड़पन। प्रतीति।
उधर
पग पग टटोलता
कांपता प्रकाश। ललक। प्रीति।

हम अज्ञेय से साझा नहीं कर सकते, उन्हें थोड़ा समझ जरूर सकते हैं। वे समाज से जितने भी

अलग होकर अपने अकेलेपन में बसे रहे हों, उसमें आधुनिक जीवन के संकुचित होते जाने का गहरा दर्द है। वे समाज से उतने अलग भी नहीं हैं। यह उनका 'मैं' है, यह बाहरी संसार के कठोर आक्रमणों से बड़ी मुश्किल से सुरक्षित 'व्यक्ति' है, जो प्रकृति, संगीत और प्रेम में अपने होने का अहसास करता है। वह इस अहसास को मिटने देना नहीं चाहता। जीवन का आलोक छुआ अपनापन ही अज्ञेय का आत्मान्वेषण है। वह अपने 'मैं' से बार-बार टकरा कर निरंतर इसे उदास बनाते हैं, ताकि व्यक्ति बचा रहे। व्यक्ति के मिटने पर झुंड ही बन सकता है, समाज नहीं।



केदारनाथ अग्रवाल

कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति

रविभूषण

अर्जुन सेन गुप्ता की रिपोर्ट के अनुसार भारत की लगभग अस्सी करोड़ की जनता की दैनिक आय मात्र बीस रुपये है। केदारनाथ अग्रवाल और नार्गाजुन इस जनता के अपने कवि हैं। हिंदी की जिस प्रगतिशील काव्यधारा का जन्म और विकास बीसवीं सदी के चौथे दशक से हुआ, वह काव्यधारा इक्कीसवीं सदीं के दूसरे दशक में अत्यन्त क्षीण हो चुकी है। वास्तविक स्वातन्त्रय-कामना का कवि-स्वर इन कवियों को छोड़कर स्वतंत्र भारत के आरंभिक दो-तीन दशकों के बाद गौण हो गया, राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात् आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न कवियों-लेखकों के लिए भी महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, कवियों के राजनीतिक स्वर और राजनीतिक कविताएँ चंद अपवादों को छोडकर आलोचकों की दृष्टि से ओझल होती गयीं। जिस प्रकार राजनीति ने किसानों और मजदूरों से अपनी आँखें फेर लीं',उसी प्रकार कवियों-लेखकों-आलोचकों के व्यापक समूह ने भी इधर अधिक ध्यान नहीं दिया। ऐसे में प्रगतिशील जनवादी कवियों का समय पर मूल्यांकन न होना स्वाभाविक था, पिछली सदी के सातवें दशक से कुछ जनान्दोलनों के कारण केदारनाथ अग्रवाल की कविता का समुचित मूल्यांकन संभव हो सका, शमशेर ने 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' की समीक्षा के आरंभ में ही यह लिखा था कि इस कविता-पुस्तक के प्रकाशन (१९६५) के पौने दो साल के बाद भी ''सुनता हूँ अभी तक उसकी कोई रिव्यू नहीं निकली, न कोई चर्चा कहीं हुई'' अब केदारनाथ अग्रवाल की जन्मशती के अवसर पर भी अशोक वाजपेयी इनकी कहीं चर्चा नहीं कर रहें हैं।उनकी दृष्टि में अज्ञेय और शमशेर के सामने केदार-नार्गाजुन की कविताएँ कम महत्त्वपूर्ण हैं, इस धड़ेबाजी से कविता और आलोचना का जनतांत्रिक रूप क्षतिग्रस्त होता है।

केदारनाथ अग्रवाल (१ अप्रैल,१९११-२२ जून,२०००) को अपनी कविताओं की दीर्घजीविता और कालजयिता पर विश्वास था, ''मैं मरकर भी कविताओं में अमर रहूँगा'' की भविष्यवाणी करने

के पूर्व 'युग की गंगा'(१९४७) और 'नींद के बादल' (१९४७)काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। 'प्रेम-निवेदन' (१९३१) कविता से अपना काव्य-जीवन आरंभ करने वाले इस कवि ने आरंभ में यह निर्णय कर लिया-'मेरा जीवन कवि का जीवन' (१९३४)। इसके पूर्व अपनी एक कविता में वे कवि को 'देवदूत' कह चुके थे और कविता की 'महान' शक्ति से परिचित भी हो चुके थे-''जिसके संदेशों से होता/ जग-जीवन कल्याण।'' १९३५ में रामविलास शर्मा से मैत्री और बाद में निराला से संबंध के कारण उनका काव्य-संसार समृद्ध हुआ। ''रामविलास ने ही मुझे विवेक दिया, आदमी बनाने में मदद की।'' वे निराला के प्रिय थे और निराला ने १९४३ में उनकी प्रशंसा की थी।

केदारनाथ अग्रवाल का कवि-जीवन ६५ वर्षों का है, रामविलास शर्मा से उनकी मैत्री भी इतने ही वर्षों की है। उनके काव्य-विकास और काव्य-मूल्यांकन में रामविलास शर्मा की भूमिका पर अभी विचार नहीं किया गया है। शमशेर के लेख और रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल'(१९८६) के बाद उनकी उपेक्षा संभव नहीं रही। एक पत्र में उन्होंने विष्णुचंद्र शर्मा को लिखा था- ''आप लोगों ने मुझे(यानी मेरे कवि को) तहा कर संदूक में बंद कर दिया है।'' संदूक खुल चुका है, पर यह भी सच है कि हिंदी की प्रगतिशील काव्यधारा के विरोधी आज भी मौजूद हैं और वे शक्तिशाली हैं।शमशेर ने १९६६-६७ में ही इसे लक्षित किया था- ''प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का विरोध अंग्रेजी और उसके उत्तराधिकारी शासक वर्ग के लिए स्वाभाविक ही था- और है।'' शमशेर ने आजादी के बाद के माहौल की चर्चा करते हुए लिखा है-''क्या ऐसे माहौल में केदार की चर्चा होती या त्रिलोचन की?... एक अन्य कारण जो बुनियादी नहीं है, इन कवियों (केदार,त्रिलोचन,मुक्तिबोध और नागार्जुन) का गहरा स्वाभिमान ही है, इन्होंने बड़े-बड़े आलोचकों संपादकों प्रकाशकों और रेडियो आदि सरकारी संस्थाओं की उसी प्रकार उपेक्षा की जिस प्रकार बड़े-बड़े आलोचकों, संपादकों, प्रकाशकों और सरकारी संस्थाओं ने इनकी की।'' ('कुछ और गद्य रचनाएँ')

केदारनाथ अग्रवाल ने 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' की शमशेर द्वारा की गयी समीक्षा पर अपने पत्र में शमशेर को लिखा था-''क्या खूब हैं हिंदी के हिमायती आलोचक कि मुँह में ताला डालकर बैठे हैं और साजिशी बेइमानी से मुझे और मेरी कविता को मार डालना चाहते हैं, लेकिन मैं मरने का नहीं सबके सिर पर चढ़कर बैठा हूँ और हमेशा रहूँगा।'' जनता से केदार को यह शक्ति प्राप्त हुई। कविता ने उन्हें शक्तिवान बनाया-''दुःख ने मुझको जब-जब तोड़ा/मैंने अपने टूटेपन को/कविता की ममता से जोड़ा/जहाँ गिरा मैं/कविताओं ने मुझे उठाया/हम दोनों ने वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।''

केदार की कविता 'अनास्था पर लिखा आस्था का शिलालेख' और 'कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति' है। उनकी कविता में कहीं भी निराशा-हताशा और थकान का स्वर नहीं है। अनेक कविताएँ जनांदोलनों से जुडी हैं और जनांदोलनों के लिए प्रेरित भी करती हैं।उनके लिए 'जीवन की आन' 'हमारी शान' है।उनकी कविताओं में आस्था का अदम्य स्वर है-'हार न मानो जीना मानो'। कोटि-कोटि जन-कंठों की बात उनके बाद केवल नागार्जुन में है। केदार-नागार्जुन मैत्री का यह एक ठोस आधार है। हिंदी के किसी भी कवि ने अपने मित्र-कवि के साथ अपने को 'जनकवि' नहीं कहा है।'नागार्जुन के बाँदा आने पर' केदार की प्रसन्नता के पीछे दो जनकवियों का मिलन है-''अहोभाग्य है दो जनकवियों के हृदयों का/जिनकी धड़कन गरज रही है खन-गरजन थी।'' यह हिंदी के इन दो कवियों की मैत्री का अप्रतिम उदाहरण है। सामान्य भारतीय जन दोनों कवियों की मैत्री का आधार है। नागार्जुन ने केदार पर लिखी कविता 'ओ जन-मन के सजग चितेरे'

में केदार के संबंध में जो लिखा है, वह उनके कवि-व्यक्तित्व के साथ काव्य-वैशिष्टय को भी रेखांकित करता है-''केन-कूल की काली मिट्टी,वह भी तुम हो!/कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो!/ ग्राम-वधू की दबी हुई कजरारी चितवन वह भी तुम हो!/ कुपित कृषक की टेढ़ी भौहें वह भी तुम हो!/खड़ी सुनहली फसलों की छवि-छटा निराली,वह भी तुम हो!/लाठी लेकर काल रात्रि में करता जो उनकी रखवाली/ वह भी तुम हो!/'' नागार्जुन ने केदार को 'जन -गन मन के जाग्रत शिल्पी' धरती के पुत्र और गगन के जामाता'।'नक्षत्रों के स्वजन कुटुम्बी' और 'नद-नदियों के सगे बंधु' कहा है।

केदार की कविता में प्रेम, प्रकृति और समाज महत्त्वपूर्ण है, ये तीनों एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हैं। केदार गति,श्रम, कर्म, साहस, संघर्ष, आस्था, संकल्प-शक्ति, आन्दोलन, परिर्वतन और मुक्ति के कवि हैं। किसान के अलावा यह सब और किसमें है?युवाओं के अतिरिक्त यह सब न तो बालक में है, न वृद्ध में। इस कारण उनकी कविताओं में शैशव और वृद्धावस्था के चित्र-चित्रण नगण्य हैं। उनका काव्य-सौदंर्य श्रम सौन्दर्य से अविच्छिन्न है। हिंदी में 'हाथ', और 'भुजाएँ' केदार के यहाँ सर्वाधिक सक्रिय हैं। नाजिम हिकमत, नेरुदा आदि की कविताओं का उन्होंने अनुवाद किया है। उनका काव्य जन-जीवन का काव्य है। भुजाओं और लेखनी की शक्ति उनके यहाँ एक है। उन्होंने इन दोनों शक्तियों को एक दूसरे से जोड़ा है-''शक्ति मेरी बाहु में है/ शक्ति मेरी लेखनी में/ बाहु से,निज लेखनी से/ तोड़ दूगाँ मैं शिलाएँ'। केदार उनके कवि हैं 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं'। पेशे से वकील होने के बाद भी केदार में यह कर्मठता कहाँ से आई? पूरी पृथ्वी का सौदंर्य इस हाथ से जुड़ा है। हाथ शरीर का अंग भर नहीं है। केदार के यहाँ मानव-शरीर का यह प्रमुख अंग पूरे सम्मान के साथ मौजूद है। मजदूरों के फौलादी-इस्पाती हाथ का इस कवि के यहाँ सर्वाधिक सम्मान है-''हाथ जो/ चट्टान को/ तोड़े नहीं/वह टूट जाये/लौह को/ मोड़े नहीं/सौ तार को/ जोड़े नहीं/ वह टूट जाये।'' उनके यहाँ हाथ 'मौत का मुँह तोड़ देने वाले' हैं। ये कृषकों के नहीं, मजदूरों के हाथ हैं। निराला की 'तोड़ती पत्थर' कविता में मजदूरिन के हाथ में 'गुरु हथौड़ा' था, जिससे वह पत्थरों पर 'बार-बार प्रहार' करती थी। रामविलास शर्मा ने लिखा है ''वह तोड़ती पत्थर' की परम्परा केदार और नागार्जुन की रचनाओं में विकसित हुई'', नागार्जुन में कम, केदार में अधिक। केदार ने किसानों के हाथों पर भी ध्यान दिया है, पर वे मजदूरों, श्रमिकों और श्रमजीवियों के हाथों पर अधिक ध्यान देते हैं। उनके यहाँ कोमल और कठोर हाथ दोनों कार्यरत हैं। ''छोटे हाथ/सबेरा होते/लाल कमल से खिल उठते हैं,'' इन छोटे हाथों से ही नये बीज बोये जाते हैं। ये हाथ छोटे-छोटे पत्तों पर मकड़ी का जाला होते हैं।, दही मथते हैं और काँटों को चूमा करते हैं ''छोटे हाथ/ गुन-ग्यानी हैं/ मौलिक ग्रंथों को रचते हैं/ जीवन के साथ ग्रंथों का/ हिंदी में उत्था करते हैं/ भाषा को झकृंत करते हैं/ जीवन को चित्रित करते हैं।''केदार के यहाँ एक ओर 'छोटे हाथ' हैं और दूसरी ओर इस्पाती हाथ, ये हाथ श्रम से जुड़े हैं। ये कपड़े बुनने वाले श्रमिक से लेकर गंगातट के मछुआरों के हाथ हैं, जो कि 'मांस काटकर रीझते' हैं। जो कामचोर आराम तलब हैं, उनके हाथ निष्क्रिय हैं। इन हाथों को केदार ने 'कर्म के करतार' और 'रुचिर रचनाकार' कहा है। कई कविताओं में वे फौलादी हाथों/ पंजों की भूमिका बताते हैं।ये 'फौलादी पंजे, 'करोड़ों की संख्या' में हैं, ये फौलादी पंजे, 'आर्थिक शोषण के गुंडों से' लड़ते हैं। ये हाथ शिलाएँ तोड़ने वाले, खदानें खोदनेवाले, प्रभंजन हाँकने वाले, प्रलय को रोकने वाले और जिन्दगी को गढ़ने वाले हैं। एक साथ ध्वस्त और निर्माण करने वाले-''पूरब में पश्चिम प्रदेश में/ दक्षिण भारत के त्रिकोण में/ असंतुष्ट फौलादी पंजे/ अधिकारों का निर्माण

करते।''

केदार आस्थावान कवि हैं। सामान्य जन में उनका सदैव विश्वास रहा है। हमारा समय उपभोक्ताओं का है। केदार की कविता में उत्पादक शक्तियों का मान-सम्मान है। जीवन उनके कारण ही महान है। कर्ममय जग में कर्म की प्रमुखता है और किसान-मजदूर कर्मठ हैं वर्गीय चेतना,दृष्टि और संघर्ष के कई चित्र केदार की कविताओं में हैं। सामान्य जन से गहरे जुडाव, किसान से आत्मीय संबंध और श्रमजीवियों के प्रति अटूट निष्ठा के कारण उनमें दृढ़ता और आत्मविश्वास है। जनविरोधी सत्ता, व्यवस्था और सरकार बने रहने के बाद भी उनकी आस्था जनता और जन-संघर्ष में है। ''कभी नहीं जनता मरती है/ के हाने से/ लोहू के बहाने चुसने से/ बोटी-बोटी नुच जाने से/ किसी देश या किसी राष्ट्र की/ नहीं जनता मरती है।'' केदार जन्मशती वर्ष में ही ट्यूनीशिया के शासक और मिस्र के राष्ट्रपति होस्नी मुबारक को न केवल अपनी गद्दी छोड़नी पडी, अपने देश से बाहर भागना और जाना पड़ा अन्य अरब राष्ट्रों में प्रदर्शन जारी है। जनता में केदार के इस अटूट विश्वास के ठोस कारण हैं ''जनता सत्यों की भार्या है/ जागृत जीवन की जननी है/ महामही की महाशक्ति है।'' केदार का विश्वास सच में है। उनकी एक कविता हैं ''झूठ नहीं सच होगा साथी'' चाहे ''शासन.... बदल ले/ राम बना रावण-सा चल ले।''

प्रेमचन्द ने किसान को अपने कथा-साहित्य में अमर किया और केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में, केदार धरती को केवल किसान की मानते हैं। क्योंकि वही उसमें फसल उगाता है। मिट्टी से संबंध केवल किसान का है।'यह धरती है उस किसान की' कविता में केदार किसान को 'मिट्टी का पूर्ण पारखी' कहते हैं, जो 'मिट्टी की महिमा गाता है' और ''मिट्टी के ही अन्तस्तल में/अपने तन की खाद मिलाकर/ मिट्टी को जीवित रखता है,'' यह किसान अपराजेय है। हिंदी कविता में किसान और उसका परिवेश केदार के यहाँ प्रमुख है। रामविलास शर्मा केदार की कविता को 'प्रेमचंद की विरासत का, अन्य विधा में क्रान्तिकारी विकास' मानते हैं। उस समय तक किसानों की आत्महत्या का प्रश्न नहीं था। केदार के जन्मशती वर्ष में अब तक लगभग दो लाख किसानों की आत्महत्या को याद किया जाना चाहिए।गाँवों की दशा आज भी पुरानी है। 'दिनकर' ने दिल्ली को 'कृषकमेध की रानी' कहा था। हिंदी के अनेक कवि-लेखकों का पहले गाँवों से संबंध था, कई कवि-लेखक-आलोचक गाँव में ही जन्मे और पले-बढ़े थे,आज उनमें से कितने गाँवों को याद करते हैं?मिट्टी से संबंध-सरोकार अब कितने कवियों को है?'कमासिन' केदार का गाँव था, जिस पर उन्होंने १९६८ में एक कविता लिखी-'कमासिन-मेरा गाँव',जो ''वर्तमान में-/दिल्ली से दूर-/बहुत दूर-/पीड़ित-/पराजित-/अपमानित और त्रस्त/ भय और भूख/ और बीमारियों से ग्रस्त/जी रहा है/मेरा गाँव कमासिन/ टिमटिमाती हुई लालटेन की तरह।'' दैन्य और अर्थाभाव के कारण मजदूरी की तलाश में गाँव से सब बाहर जाते रहते हैं। सत्तर-अस्सी के दशक तक- भूमंडलीकरण और नवउदारवादी अर्थ-व्यवस्था के पहले तक गाँवों की स्थिति आज जैसी नहीं थी। 'डंका बजा गाँव के भीतर' कविता में सभी चमार इकट्ठा होते हैं- ''एक उठा बोला पहाड़ को भी उखाड़कर रख सकते है।'' फिर गाँव से बाहर जाने का सवाल कहाँ था?'गाँव छोड़कर नहीं जायँगें/ यहीं रहे हैं, यहीं रहेंगें/ और मजूरी पूरी लेंगे'।केदार का साहस और शक्ति में अटूट विश्वास है। केदार ने किसानों के जीवन को,उसके श्रम को, खेत और फसल को न केवल ध्यान से देखा है, अपितु उसके श्रम से उत्पन्न सौदंर्य को भी अपनी कई कविताओं में प्रस्तुत किया। उनकी सौदंर्य-दृष्टि श्रम-दृष्टि से जुड़ी है।उनका कवि-व्यक्तित्व ऐकांतिक नहीं था। अपने पहले काव्य-संग्रह 'युग की गंगा' की भूमिका में

उन्होंने लिखा ''कवि के व्यक्तित्व को भी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से निर्लिप्त मानना भूल होगी। वास्तव में आर्थिक आधार पर ही तो समाज का निर्माण होता है,देश की राजनीति बनती है और संस्कृति का अभ्युदय होता है।''

छायावाद और छायावाद-पूर्व के कवियों ने गाँव को भिन्न दृष्टि से देखा था।गाँव और किसान के जीवन को उसकी विविधता-संपूर्णता में नहीं देखा गया था।केदार की कविताओं में गाँव और किसान अपने संपूर्ण रूप में उपस्थित हैं। 'कमासिन' गाँव पर केदार और 'तरौनी' पर नागार्जुन ने जो कविता लिखी है, उसमें गाँव से इन कवियों के गहरे आत्मीय लगाव के चित्र हैं। अपने गाँव पर कम कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। केदार को 'किसानी चेतना का कवि' (रामविलास शर्मा)कहा गया है। इस चेतना से श्रम,संघर्ष,सौदंर्य सब जुड़े हैं।उनके आरंभिक काव्य-संग्रहों-'युग की गंगा' (१९४७)' 'लोक और आलोक'(१९५७)में श्रम- सौदंर्य है। किसान और श्रमिक निराश होकर जीवन नहीं जी सकता और उसके जीवन को श्रमविहीन, कामचोर और आरामतलब लोग नहीं समझ सकते। लोहा और हथौड़ा केदार की कविता में बार-बार उपस्थित है-''मार हथौड़ा/ कर कर चोट/ लाल हुए काले लोहे को/ जैसा चाहे वैसा मोड़।'' जो पर्वत तोड़ सकते और लोहे को मोड़ सकते हैं, वे व्यवस्था-परिवर्तन क्यों नहीं कर सकते?इन्हीं के बूते कवि ने कामना की थी-''जनवादी सरकार करेंगें।''किसान उनके यहाँ 'चट्टानी छाती वाला' है और है 'प्यारी धरती का शक्ति-पुत्र।' केदार वर्गीय चेतना और दृष्टि के कवि हैं। आज 'वर्ग' (क्लास) की चर्चा मार्क्सवादी भी नहीं करते। वर्गीय दृष्टि से लैस कवि के यहाँ स्पष्ट कथन होगा,केदार के यहाँ वह है। वे 'खरी-खरी' कहने वाले कवि हैं। नागार्जुन भी साफ शब्दों में कहते हैं ''जनकवि हूँ मैं, क्यों हकलाऊँ?''।केदार ने अपनी कविताओं से मुक्ति-संग्राम की ओर हमारा ध्यान दिलाया,पाठको में चेतना विकसित की,अमरीकी साम्रज्यवाद का मुकाबला करने वाले वियतनाम और बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम पर कविता लिखी। १९६८ में वियतनाम पर लिखी कविता में वे डालर के साथ हो ची मिन्ह और वियतनामियों को याद करते हैं। यहाँ 'डालर' अमरीकी साम्राज्यवाद का प्रतीक है। केदार हिंदी के अकेले कवि हैं जिन्होंने अपनी कविताओं में कई बार डालर का जिक्र,उसके विश्व-प्रभुत्व और उसको चुनौती देने वाली शक्तियों का उल्लेख किया है। डालर ने हो ची मिन्ह को भुनगा, वियतनाम को केचुआ,वियतनामवासियों को मुरदा और वहाँ की आबादी को जाहिल समझा था, पर वियतनाम ने अमरीका के छक्के छुडा दिये-''उस भुनगे ने/ डालर को मसल दिया/ केचुए ने/ डालर को कुचल दिया/ मुरदों ने डालर को पोस दिया/जाहिल आबादी ने डालर का खून किया।''वियतनाम में साम्राज्यवादी अमरीका परास्त हुआ।

केदार की कविता के तीन प्रमुख विषय हैं-'सामाजिक यथार्थ, प्राकृतिक परिवेश,श्रृंगार और प्रेम।' सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत किसान,मजदूर, और वर्ग-विभक्त समाज है। चालीस के दशक में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद १९४५-४७ में जो जन-उभार आया था वह कई रूपों में उनकी कविताओं में है। उनकी राजनीतिक कविताएँ आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता कल से आज कहीं अधिक है। केदार की कवि-दृष्टि उनकी जीवन और विचार-दृष्टि से जुड़ी है। अशोक त्रिपाठी के सम्पादन में उनके जो पाँच काव्य-संकलन (कहें केदार खरी-खरी,१९८३, जमुन जल तुम,१९८४,जो शिलाएँ तोड़ते हैं, १९८६, वसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी,१९९६ और कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह १९९७) प्रकाशित हैं, उनमें पहले संकलन में राजनीतिक कविताएँ हैं। और दूसरे संकलन में प्रेम- संबंधी कविताएँ हैं। केदार और नागार्जुन की कविताओं में वास्तविक आज़ादी का प्रश्न प्रमुख है। भारतीय नेताओं के लंदन से लौटने के और

आजादी लाने पर केदार ने दिसम्बर १९४६ की एक कविता में यह प्रश्न किया-''नकली मिली या कि असली मिली है''? कितनी दलाली में कितनी मिली है?'' दिल्ली की अंतरिम सरकार पर हिंदी में संभवतः केदार ने ही कई कविताएँ लिखी हैं। अंतरिम सरकार को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा-''हमारा पियारा है भारत हमारा/ तुमका पियारा फिरंगिया।'' नागार्जुन और केदार अपने गहरे और किसी से भी अधिक देश-प्रेम के कारण किसी भाषा विशेष के कवि मात्र न रह कर भारतीय कवि के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय ही केदार और नागार्जुन ने अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध में जो कविताएँ लिखीं,वे हिंदी नहीं, भारतीय कविता में भी उदाहरण है। यह खोज की जानी चाहिए कि इन दो कवियों के अलावा किस भारतीय कवि ने १९४८ में अमरीकी साम्राज्यवाद से हमें सावधान किया था?'जन्मभूमि पर यदि आयेगा डालर' कविता में उसके आगमन के बाद की स्थिति की कल्पना की गयी है-''वह सौदा -सुलुक बेचकर/ मातृभूमि का सारा सोना ले जायेगा/... वह अपने साम्राज्वाद के घोर नशे में/ भारतीय पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ कर/क्रय दिल्ली की राजनीति कर लेगा/ नेहरू और पटेल आदि की मति हर लेगा।'' उस समय नेहरू प्रधानमंत्री और पटेल गृहमंत्री थे। आज मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री और चिदंबरम गृहमंत्री हैं। जहाँ तक भारतीय पूँजीपतियों और अमरीकी पूँजीपतियों की साँठ-गाँठ की बात है, इसी वर्ष (१९४८) नागार्जुन ने 'लाल भवानी' कविता में लिखा-''अंग्रेजी, अमरीकी जोंकें, देसी जोंकें एक हुईं नेताओं की नीयत बदली, भारत माता टेक हुई।'' इसी दौर की केदार की एक कविता है-'लंदन में बिक आया नेता।' इस कविता में लन्दन में भारतीय नेताओं के 'अंग्रेजी साम्राज्वाद का डिनर' उड़ाने और 'अर्थ की राजीनति में गहरा गोता खाने'की बात कही गयी है।

केदारनाथ अग्रवाल भारत के राजनीतिक स्वतंत्रता को अधूरी मानते थे। यह स्वाधीनता समझौता से प्राप्त हुई थी। केदार-नागार्जुन के यहाँ संघर्ष प्रमुख था। इस स्वतंत्रता से सामान्य जन की जीवन-दशा नहीं सुधरी थी। केदार-नागार्जुन सामान्य जन की जीवन-दशा से दुःखी और चिन्तित थे।

केदार की कविताओं में 'कष्ट विदारक धरती की आवाज़' है। उनके अनुसार यह जनतंत्र 'जंगली' है। १९४७-४८ में एक डालर पाँच-छः रुपये के समतुल्य था और उसी समय डालर के प्रभाव और खतरे से, अमरीकी मुद्रा के अधीन भारतीय मुद्रा के होने से केदार ने हमें सावधान किया था, चेतावनी दी थी। केदारनाथ अग्रवाल को राजेश जोशी ने 'मित्रता का कवि' कहा है। वे अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोधी कवि हैं। जब अमरीकी साम्राज्यवाद आज की तरह न इठला रहा था और न फुँफकार रहा था केदार ने उस पर कविताएँ लिखीं। आज कितने समकालीन कवियों ने अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ कविताएँ लिखी हैं। बड़ी बात यह है कि केदार ने साम्राज्यवादी अर्थनीति को ध्यान में रखकर उससे हमें आरंभ में ही सावधान किया था। 'युग की गंगा' का प्रकाशन आज़ादी के पहले (मार्च १९४७) हुआ था और इसकी भूमिका में उन्होंने 'साम्राज्यवादी अर्थनीति के अंत काल' की कामना की थी। इराक पर अमरीका के आक्रमण के बाद केदार ने रामविलास शर्मा को लिखे अपने एक पत्र में अमरीकी राष्ट्रपति 'बुश' को 'झाड़ी'कहा है।

परिवर्तनकामी-मुक्तिकामी कविताएँ केदार-नागार्जुन की हैं।यथास्थितिवाद के विरुद्ध 'रनिया मेरी देस बहन है' कविता में रनिया और उसके अमीर देसभाई का वर्ग भिन्न है। एक दूसरे के विपरीत। रनिया कहती है 'जग बदले और जल्दी बदले'।देसभाई संसार के बदले जाने के पक्ष में नहीं है। रनिया प्रगति-परिवर्तन की आकांक्षी है और देसभाई यथास्थितिवाद का समर्थक-पोषक।वह कहता है ''कभी न बदले- कभी न बदले- कभी न बदले।'' लोकतंत्र, पंचवर्षीय योजना, संसद,

संविधान-केदार का ध्यान सब पर है। कांग्रेस की आलोचना केदार-नागार्जुन दोनों के यहाँ है।'थाना' को केदार 'कलियुग का तीरथ' कहते हैं। वहाँ 'त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन ' है। स्वाधीन भारत के आरंभिक वर्षों में लिखी गयी उनकी कविताओं में देश का वास्तविक चित्र है। जो राज गरीबों की चिन्ता नहीं करता,उस राज के बने रहने का केदार के यहाँ कोई औचित्य नहीं है।'ऐसि राज गारत ह्वै जावै',और 'कहीं न देखा ऐसा राज',जिसमें 'चौतरफा है भ्रष्टाचार/लम्बे चौड़े खोले द्वार/देसी और बिदेसी यार/काट रहे मुफ्ती कलदार'(१९५५)। पंचवर्षी योजना के आरंभ होने के बाद ही १९५४ में केदार ने यह लिखा-''पंचवर्षी योजना की रीढ़ ऋण की श्रृंखला है/पेट भारतवर्ष का है और चाकू डालरी है/संधियाँ व्यापार की अपमान की कटु ग्रंथियाँ है/ हाथ युग के सारथी हैं,भाग्य-रेखा चाकरी हैं।''

सामान्य जन केदार के लिए सब कुछ है। वह उनका ईश्वर है। यह जन किसी एक स्थान-विशेष का नहीं हैं। यह भारतीय जन हैं-अन्य देशों के जनों से अभिन्न। किसी एक स्थान,भूगोल और कालखंड में केदार की कविता सीमित नहीं रहती। वह सीमाओं का अतिक्रमण करती है। बाँदा उनका जनपद है, जो उनकी कविताओं में शक्ति-साहस और सौदर्य के साथ मौजूद है। उनकी कविताओं में जनपदीय गुण-तत्व हैं पर जनपदीय भाषा बुंदेली वहाँ नहीं है। केदार और नागार्जुन की कविताओं से इन दोनो कवियों के जनपदों के पहचान के साथ समस्त देश की पहचान-धरती, किसान और मजदूर के यथार्थ जीवन की पहचान की जा सकती हैं। केदार और नागार्जुन हिंदी की काव्य-परम्परा से जुड़ कर उसका सार्थक विकास करते हैं।अज्ञेय में इस काव्य-परम्परा से जुड़ाव नहीं है। शमशेर हिंदी-उर्दू दोनो की काव्य-परम्परा से जुडते हैं,उसे याद करते हैं। वे 'दोआब' के कवि हैं। केदार ने अपने को हिंदी काव्य-परम्परा से जोड़ा है- ''हम लेखक हैं/कथाकार हैं/हम जीवन के भाष्यकार हैं/हम कवि हैं जनवादी/चंद,सूर,तुलसी,कबीर के/सन्तों के, हरिचन्द बीर के/हम वंशज बड़भागी।'' वे हिंदी की प्रगतिशील काव्य-परम्परा के सुदृढ़ स्तम्भ हैं।लोक से,श्रम से जुड़कर उनकी कविताएँ उदात्त हुई हैं। 'बम्बई का रक्त-स्नान' (१९८१) १९४६ के नाविक-बिद्रोह पर लिखा गया आल्हा।आधुनिक हिंदी कवियों में- प्रगतिशील कवियों में केदार ने ही आल्हा लिखा है।

केदार की कविता के सामाजिक यथार्थ, प्रकृति-चित्र और प्रेम-सौन्दर्य को तीन नदियों-गंगा,केन और यमुना से भी जोड़ा जा सकता हैं।उनके प्रकृति-चित्र मानव से जुड़कर और सुन्दर-विशिष्ट हो गये हैं।निराला के 'अधीर कृषक' बादल को बुलाते थे। केदार के यहाँ एक साथ जन और घन गरजते हैं। 'पेड़', 'पृथ्वी के वंशज' ही नहीं,'मानव के अग्रज' भी हैं। केदार का देखना भिन्न है,वे प्रकृति को अन्य कवियों से भिन्न आँखों से देखते हैं। यह देखने का सौन्दर्य है,जहाँ बाह्य चक्षु ही महत्त्वपूर्ण नहीं है।केदार की एक कविता है-'मुझे नदी से बहुत प्यार हैं।' तालाबों, सरोवरों, झरनों और समुद्रों से अधिक प्यार न होकर नदी से प्यार होने का एक सांस्कृतिक पक्ष है। नदियों के किनारे ही सभ्यता का जन्म और विकास हुआ है। नदियों के प्रवाह, उसकी गति और लय जीवन से जुड़ी है। अज्ञेय और केदार का एक अंतर यह है कि अज्ञेय 'नदी के दीप' के कवि हैं और केदार नदी की गति और लय के। जीवन स्थिर नहीं है, गतिवान और लययुक्त है। अज्ञेय के यहाँ नदी का ऐसा रूप नहीं हैं। नागार्जुन का महत्व केदार के यहाँ इसलिए भी है कि वे 'नद-नदियों के सगे बंधु' हैं। द्वीप स्थिर हैं, वहाँ न गति है न प्रवाह। शमशेर पर केदार ने जो कविता लिखी है, शमशेर ''चलता जा रहा है अकेला/ कंधे पर लिये नदी/ मूंड पर धरे नाव।'' जो गतिशील नहीं है, वह सुन्दर नहीं है। यह गति का सौन्दर्य है। गति और प्रवाह की अपनी एक लय है, जो केदार की कई कविताओं में

कई रूपों में मौजूद है। केदार के यहाँ नदी के कई रूप-रंग हैं, जिन्हें कवि ने घंटों बैठ कर निहारा है। केन नदी केदार की कविताओं में आकर अमर हो गयी है। यह स्थानीय नदी है। भारत की बड़ी नदियों में इसका जिक्र नहीं है, पर केदार ने इसे कविता में उतार कर राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान कर दिया है। केन पर केदार की अनेक कविताएँ हैं। केन किनारे बैठ कर ('रेती पर ही पांव पसारे/ बैठा हूँ इस केन किनारे') कवि ने नदी के कई रूप-चित्र खींचे हैं। रामविलास शर्मा का कथन ''दिन हो चाहे रात, नदी की ओर संकेत भी हो तो समझ लेना चाहिए,यह नदी केन है''और ''केदार के प्राकृतिक परिवेश का अपरिहार्य घटक है केन।'' नदी केदार के यहाँ किसी एक रूप में नहीं है। वह उदास है और चंचल भी। एक ओर ''तेज धार का कर्मठ पानी/ चट्टानों के ऊपर चढ़ कर/मार रहा है घूंसे कसकर/ तोड़ रहा है तट चट्टानी।'' और दूसरी ओर नदी का यह उदास रूप-''आज नदी बिल्कुल उदास थी/सोयी थी अपने पानी में/उसके दर्पण पर/बादल का वस्त्र पड़ा था/ मैने उसको नहीं जगाया/ दबे पाँव घर वापस आया।'' केदार के यहाँ नदी की उदासी के साथ नदी का निखार भी है-''न भूलेगी मुझे नितंबिनी स्त्रोतस्विनी/ जलधार से भरी नदी/ जिसने मुझे भेंटा,मैंने जिसे भेंटा/सूर्य ने घंटों हमें देखा।'' यह गाँव में बहने वाली नदी है। नदी का एकान्त, उसका प्रवाह,उसकी गति-क्या नहीं है केदार के यहाँ! विश्वनाथ त्रिपाठी ठीक कहते हैं ''नदी को इतने रूपों में खड़ी बोली के और किसी कवि ने नहीं देखा है।'' केदार को नदी 'एक नौजवान ढीठ लड़की' भी लगती है ''जिसकी जाँघ खुली/और हंसों से भरी है/ जिसने बला की सुंदरता पायी है।'' नदी की यह सुंदरता अकेली नहीं है। केदार ने अपनी एक कविता में नदी को 'म्यान से खिंची एक तलवार' कहा है, 'जो मैदान में लगातार चलती है' और ''जिसकी धार तेज और बिजली से भरी है/जिसने बला की चंचलता पायी है।'' यह नदी का यौवन है- उद्दाम यौवन। प्रकृति-चित्र केदार के अनुपम हैं, नये हैं, ऐन्द्रिक हैं। इस दृष्टि से केदार और शमशेर एक साथ खड़े होते हैं। दोनों के बीच की मैत्री का क्या एक आधार प्रकृति को और जीवन को बहुत अंशों में एक समान देखना नहीं है? संभवतःअभी तक केदार और शमशेर पर एक साथ विचार नहीं हुआ है या कम हुआ है। केन नदी के किनारे की रेती को केदार राज्य-श्री से होड़ लेते दिखाते हैं। केन नदी 'मनुष्यों के जीवन की पथगामी' है और 'गहना है उसके जीवन का गति का बहना'। इतना ही नहीं,'सीखा है उसने श्रमधारा बनकर रहना', केन नदी मौन नहीं रहती। वह कहती है-''काटो कल की चट्टानों को,तोड़ो कारा/जल्दी-जल्दी वर्तमान की मोड़ो धारा।''

केन नदी से पहले केदार ने गंगा पर कविता लिखी। उनकी कविताओं में- गंगा, केन प्रवाहित हैं। ये नदियाँ भिन्न रूपों में हैं। केदार का पहला काव्य-संग्रह 'युग की गंगा' है। गंगा का युगों से संबंध है। वह युगों से प्रवाहित है और युग के निर्माण में भी है। देश के बड़े भू-भाग में प्रवाहित इस नदी का सांस्कृतिक महत्त्व अक्षुण्ण है। इसका भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्र भी बड़ा है। जनता की व्यापक एकता के बिना युग नहीं बदल सकता और न नये युग का निर्माण संभव है। केदार ने गंगा को युग से जोड़ा है। यमुना का संबंध कृष्ण-राधा से है। यह प्रेम की नदी है। केदार के पत्नी-प्रेम से जुड़ी नदी-'जमुन जल तुम' (१९८४)। इन दोनों नदियों की तुलना में केन केदार की अपनी नदी है-आत्मीय और प्रिय। इसी नदी के किनारे वे 'अनमोल घोंघे' बटोरते हैं।

केदार के यहाँ 'धूप' के कई सुंदर चित्र हैं ।वहाँ- उनकी कविताओं में अंधकार कम है- यह कवि का आशावाद भी है। प्रकाश और ज्योति से लगाव। उनके यहाँ धूप धरा पर वैसे उतरती है ''जैसे शिव के जटाजूट पर/नभ से गंगा उतरी।'' यह सुबह मोर की तरह है ''पर खोल सबेरा

नाचा।'' उनके यहाँ धूप चाँदी की साड़ी पहने चमकती है और ''मैके में आयी बेटी की तरह मगन है।''वह ''फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है/जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं।'' प्रकृति मानव और मानव-जीवन से अलग नहीं है। उसका सौन्दर्य मिलन में है। ये प्रकृति के नये चित्र हैं। छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्र से भिन्न। पन्त ने रात में 'नौका विहार' किया था,केदार दोपहर में नौका विहार करते हैं। केदार का सौन्दर्य-बोध दृश्य-बोध से जुड़ा है और यह दृश्य-बोध रागबोध में बदलता है-''जल रहा है/जवान होकर गुलाब/खोलकर होंठः/जैसे आग/गा रही है फाग।'' सूर्य के कई बिम्ब-चित्र केदार के यहाँ हैं। उनके यहाँ ''आग नाव में भरकर सूरज चला गया है।'' और हरेक को रोशनी देनेवाला सूरज 'आग की गाँठ' है, जो ''रोज सुबह निकल रहा-/देश और काल को बदल रहा।'' सूरज परिवर्तन ला रहा है। केदार 'गगन विराजे राजे रवि से', 'धरती की ममता' और 'अजर अमर कविता के बल पर' आँख लड़ाते हैं। केदार के उपमान नये और असाधारण हैं। केदार,नागार्जुन और त्रिलोचन को अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' में सहयोगी कवि बनने के लिए आमंत्रित किया था। केदार और नागार्जुन ने शमशेर के शब्दों में कहें ''तो दो-टूक शब्दों में सहयोग देने से इन्कार कर दिया था।'' केदार और नागार्जुन की कविताओं में प्रयोग और नयापन सार्थक रूप में है-जीवन के पक्ष में, जीवन के साथ और जीवन के लिए। केदार के यहाँ ''उन्नत पेड़ पलाश के/ढाल लिए रण में खड़े' हैं-सूर्य से लड़ते हुए वहाँ 'गुलमोहर' 'मैदान का बेटा' है। उनकी कविता में 'ऊँचा गेहूँ' 'लाखों की अगणित संख्या में डटा खड़ा' है और वह ''ताकत से मुट्ठी बाँधे है/ नोकीले भाले ताने है/ हिम्मत वाली लाल फौज सा/ मर मिटने को झूम रहा है।'' यह मुट्ठी बाँधे, हिम्मत वाले किसान से जुड़ा है। उसी के कारण गेहूँ डट कर खड़ा है। शमशेर ने लिखा है ''केदार आँखों से पान किये हुए सौन्दर्य के कवि और कलाकार हैं।'' इसी कारण उनके यहाँ रंग बोलते हैं। केदार मौन के नहीं,संवाद के कवि हैं। जो कवि प्रगतिशील होगा, वह लोकतांत्रिक भी होगा। केदार के यहाँ क्रियात्मकता प्रमुख है। छायावादी कवियों में यह निराला के यहाँ सर्वाधिक थी। रंगों के साथ क्रियात्मकता की संबद्धता रंगों को स्थिर नहीं, सक्रिय करती है। इसी क्रियात्मकता से जीवंतता जुड़ी है। केदार की भाषा पर विचार करते हुए उनकी इस क्रियात्मकता और उससे जुड़ी गतिशीलता पर विचार की अधिक आवश्यकता है। केदार के यहाँ दृश्य-जगत अपनी पूरी गतिमयता,सक्रियता और क्रियात्मकता के साथ उपस्थित है। वे यथार्थ-चित्र को अपने अनुभूत-चित्र से जोड़कर एक सौन्दर्य-चित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं। खेत की मेड़ पर अकेला बैठकर जब कवि हरे ठिंगने चने को देखता है,तो उसे एक नये रूप-सौन्दर्य में ढाल देता है जो बिना आत्मीय लगाव के संभव नहीं है। ''एक बीते के बराबर/ यह हरा ठिंगना चना/ बाँधे मुरैठा शीश पर/ छोटे गुलाबी फूल का/ सजकर खड़ा है'' और जब सयानी सरसो हाथ पीले कर ब्याह-मंडप में पधारती है, तो कवि देखता है-''स्वयंवर हो रहा है/ प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है।''

केदार हिंदी के नैतिक-सांस्कृतिक कवि हैं। वे हमारे समय में इसलिए और महत्त्वपूर्ण हैं कि हमारा समय एकनिष्ठता का नहीं है। यह एकनिष्ठ प्रेम और लगाव केदार की विशेषता है। इसी कारण उनमें स्पष्टोक्ति है। स्पष्टोक्ति के साथ शमशेर ने 'जीवन में यथार्थ के नैतिक पक्ष' को केदार की कविता के 'विशेष गुण' कहा है। यह स्पष्टोक्ति और नैतिकता कृषक-समुदाय की विशेषता है। केदार के इस विशेष और दुर्लभ गुण के पीछे भी उनकी किसान-चेतना है। हिंदी के कुछ बड़े और 'आधुनिक' आलोचकों ने किसान-चेतना के और किसान-जीवन से कवि की संबद्धता के कारण उसे बड़ा नहीं माना था। हमारा समय झूठ और अनैतिकता का समय है। जो इस समय के साथ हैं,वे

केदार के महत्त्व की अनदेखी करते हैं और जो समय-परिवर्तन की आकांक्षा रखते हैं, उनके लिये केदार आज हिंदी के अधिक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। केदार की कविताओं में केवल नदी, धूप, गेहूँ,चना के सुन्दर दृश्य-चित्र ही नहीं हैं, वहाँ चाँदनी के साथ जेठ है, इमली, सेमल, नीम, गुलमोहर, सरसों, पलाश, बरगद,धान,धतूरा और खेत-धनहर खेत भी हैं।

केदार प्रेम और काम के कवि हैं। इस काम-चेतना के कारण उनके यहाँ आनन्द और उल्लास है। किसान-चेतना के कारण साहस और शक्ति है। इस प्रकार उनका काव्य आनन्द, उल्लास, साहस और शक्ति का काव्य है। वे अपनी प्रेम-संबंधी कविताओं में अपने गाँव को भी याद करते हैं। उनका स्वकीया प्रेम एक उदाहरण है। रामविलास शर्मा का 'मालकिन' से प्रेम भी एक उदाहरण है।दोनों की मैत्री-केदार और रामविलास की,भी उदाहरण है। केदार का स्वकीया प्रेम मानवीय प्रेम है। इस कारण नैतिक भी। उन्होंने लिखा है-''आज मेरे ऐसे प्रेम की कविताएँ हिंदी काव्य में मिलना दुश्वार है।'' स्वकीया प्रेम की उनकी कविताएँ व्यभिचार-प्रक्रिया के विरुद्ध हैं। उन्होंने बुढ़ापे तक का साथ निबाहने की कविताएँ लिखी हैं। यह प्रेम यौवन भर का नहीं, जीवन भर का है। उनकी प्रेमपरक कविताओं के कई संकलन हैं-'नींद के बादल' (१९४७) और 'जमुन जल तुम' (१९८४) प्रमुख हैं। 'जमुन जल तुम' की भूमिका में केदार ने अस्थायी भाव वाले प्रेमियों की भर्त्सना की है-''अब तो नये-नये उभरते स्वर वाले कवि-गण भी परकीया आकर्षण से ही अभिभूत होते हैं और क्षणिक आवेश की रचनाएँ देकर पारस्परिक चुहलबाजी कर लेते हैं। ऐसी कविताएँ सामाजिक दायित्व से हीन कविताएँ होती हैं और ऐसे कवि न घर में प्रेम को प्रतिष्ठित कर पाते हैं, न समाज में।'' केदार ने प्रेम को घर और समाज दोनों में प्रतिष्ठित किया है। 'मैं पति हूँ-अब तुम पत्नी हो' कविता में वे अपने कमासिन गाँव में नैनी से ब्याह कर लायी पत्नी को अपने जन्म से लेकर गाँव,सबके बारे में ब्योरे से बताते है। उनका प्रेम परिवार, गाँव,समाज किसी से अलग नहीं है। इस कविता में कवि ने गाँव में एक चट्टान पर अंकित दो मूर्तियों को सभी नर-नारी द्वारा पूजने की और उन मूर्तियों से प्रेमालिंगन सीखने की बात कही है-दोनों नंगे सटे खड़े हैं/दोनों की जाँघें मिलती हैं/ दोनों की कटि एक हुई है/ दोनों की बाँहें जकड़ी हैं/ नर की दृढ़ छाती से दब कर/ नारी का कुच तुरत दरकने वाला ही है/ बाहर आधा निकल रहा है/ ओठ ओठ को चूस रहे हैं/ आँखे बंद निशा फैली है/ प्यारी/ देखो यही मूर्तियाँ/ सब नर-नारी पूज रहे हैं/ प्रेमालिंगन सीख रहे हैं/ आओ हम तुम इन्हें पूज लें/प्रेमालिंगन यहीं सीख लें/ यही प्रेम तीरथ है प्यारी/ देव और मानव दोनों का।'' केदार का प्रेम पत्नी-प्रेम है। ''मूलतः मैं पत्नी प्रेमी रहा हूँ और प्रेम की कविताएँ उन्हीं के प्रेम और सौन्दर्य की कविताएँ हैं।'' पारम्परिक काव्य-संस्कार के परिणाम के कारण उनकी कुछ प्रेम-कविताओं में दूसरी नारियों से घनिष्ठता दिखायी दे सकती है, पर ऐसी कविताएँ कम हैं और केदार स्वीकारते हैं कि वे स्वकीया प्रेम के ही कवि हैं। हिंदी में पत्नी-प्रेम और स्वकीया प्रेम का ऐसा कवि और कौन है?

केदार का प्रेम मात्र दैहिक नहीं है। वह 'यौन संबंध तक सीमित नहीं है।' पाणिग्रहण जिससे हुआ, जिस समय हुआ 'एक अलौकिक पूर्ण सुन्दरी का/उर में आगमन हुआ।' ब्याह किसी कन्या या युवती से होता है, पर प्रेम को ब्याहने की बात केवल केदार ने कही है-''गया ब्याह में युवती लाने/ प्रेम ब्याह कर संग में लाया।'' पत्नी उनके लिए अन्तस को छू लेने वाली एक कली की तरह है। केदार पाणिग्रहण के दिन को 'प्रथम-प्रेम का दिन' कहते हैं। उनकी कई प्रेम-कविताएँ निराला की प्रेम कविताओं का स्मरण कराती हैं। निराला की कविता- 'जैसे हम हैं वैसे ही रहें/लिये हाथ एक दूसरे का/अतिशय सुख के सागर में बहें' और केदार की कविता 'मुझको तेरा साथ चाहिए' गहरे-स्थायी

प्रेम की हैं। इसी प्रकार 'रेत मैं हूँ- जमुन जल तुम' के साथ ''स्नेह-निर्झर बह गया है/ रेत ज्यों तन रह गया है'' की याद स्वाभविक है। केदार की प्रेम-कविताएँ आयु और समय के कारण बदली हैं। यह काव्य-विकास है।वहाँ यौन-संबंध ही नहीं,मन-संबंध भी है। इन प्रेम कविताओं में हृदय प्रमुख है। कहीं से भी उनका प्रेम अशरीरी नहीं है। ''मुझे तुमने/ हृदय तल से ढँक लिया है/ और अपना कर लिया है/अब मुझे क्या रात-क्या दिन,/क्या प्रलय-क्या पुनर्जीवन।'' यह प्रेम-शक्ति है-जीवन-शक्ति। इस प्रेम पर समय कोई छाप नहीं छोड़ता प्रेम और बढता, परिपक्व-सघन होता जाता है। यह एकनिष्ठता और एकात्मभाव केदार के यहाँ सदैव रहा है। केदार का प्रेम दाम्पत्य प्रेम है। केदार की कविता में जो 'मस्ती और ताजगी' है, शक्ति और ऊर्जा है, वह इसी एकात्मभाव के कारण, संयुक्त होने के कारण। इस कारण उनकी प्रेम परक कविताओं को उनकी राजनीतिक कविताओं से मूल रूप में अलग नहीं किया जा सकता। बाह्य स्तर पर वे भिन्न हैं, पर जो गुण उन्हें जोड़े हुए है, वह एकात्मभाव ही है। केदार को शमशेर ने 'बुनियादी तौर पर एक नॉर्मल रोमानी कवि' कहा है-छायावादी रोमानी से भिन्न। इसी कारण वे प्रगतिशील और मार्क्सवादी विचारधारा के कवि शीघ्र हो गए। उनकी कई प्रेम कविताओं में मनोदशाएँ और उनके उतार-चढ़ाव देखे जा सकते हैं। पत्नी-प्रिया का साथ न रहना केदार के लिए पास में कुछ भी न रहना है। सब कुछ उसी से है। उसकी उपस्थिति एक व्यक्ति की नहीं, एक भाव की उपस्थिति है।''सब कुछ है/मगर कुछ नहीं है/जब तुम नहीं हो/ मेरे पास।'' यह प्यार देह का प्यार भर नहीं है-''हे मेरी तुम/हम दोनों अब भोग रहे हैं/ दीन देह को/ प्यार-प्यार से बाँधे।'' केदार के प्रेम का क्रूर काल भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।उनका प्रेम क्रूर काल से अधिक प्रबल है। वे 'आओ बैठो इसी रेत पर' कविता में 'लोकतंत्र' और 'बुरे जमाने' की बात कहते हैं। उनका प्रेम देश-काल से अलग नहीं है-''हे मेरी तुम!/सब चलता है/लोकतंत्र में/चाकू-जूता-मुक्का-मूसल और बहाना'' और ''भूल-भटक कर भ्रम फैलाये/ गलत दिशा में/ दौड़ रहा है बुरा जमाना।'' 'जमुन जल तुम' में संकलित कविता 'सुआपंखी घाम' में पत्नी,प्रकृति, कविता तीनों के प्रेम का संगम है। यहाँ कवि और कवि-पत्नी को ('हमें-तुमको') वन के पेड़, मोर, विहग 'झूले में झुलाते' हैं, फूल-फल भेंटते हैं और कवि कामना करता है-''वे अनूठे पेड़ सूखें नहीं वन के/ अमर हों जैसे अमर कवि सूर-तुलसी।'' प्रेम केदार की कविताओं का स्थायी-भाव है। दो प्रेमियों का यह एकात्मभाव कई रूपों में, कई उदाहरणों से व्यक्त हुआ है।' हे मेरी तुम' (१९८१) पत्नी को संबोधित कविताओं का संकलन है। केदार ने लिखा है कि ''मुझे तो ऐसा लगता है कि जैसे मैं अनंत काल तक अपनी पत्नी को पुकारता जीता रहूँगा और अपना मन सस्नेह खोलता रहूँगा, हम दोनों के न रहने पर भी हम दोनों एक दूसरे से जीते-जैसे बातें करते रहेंगे।'' इस संकलन की एक कविता 'वाक्य पूरा कर रहा हूँ' में केदार ने प्रेम के एकात्मभाव को वाक्यतंत्र के उदाहरण से व्यक्त किया है- ''हे मेरी तुम!/जी रहा हूँ/ जिन्दगी अपनी/ और तुम्हारी/ एक साथ/ हाथ में लिये हाथ/ एक 'मैं' में / द्वैत अद्वैत होकर/ वाक्य पूरा कर रहा हूँ/ क्रिया कर्ता कर्म से/ भव भर रहा हूँ।'' इन पंक्तियों को उद्धृत करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है कि वाक्यतंत्र का यह उदाहरण प्रेमियों के एकात्मभाव को व्यक्त करने के लिए किसी को सूझा है या नहीं, मालूम नहीं। केदार जिस प्रकार समाज में वर्ग-भेद को समाप्त करने के इच्छुक थे, उसी प्रकार या उससे कुछ और अधिक वे भेद-भाव को महत्त्व नहीं देते थे। प्रेम में द्वैत और भेद का नहीं,अद्वैत और अभेद का महत्त्व है। केदार की प्रेम-संबंधी कविता दो व्यक्तियों के प्रेम मात्र में सीमित नहीं है। यह बहुत गहरे अर्थों में राजनीतिक कविता से भी जुड़ी हुई है। इस जुड़ाव के पीछे मुख्य कारण निष्ठा है। केदार का

प्रेम मात्र व्यक्तिगत नहीं है।यह निष्ठा केवल पत्नी-प्रिया की नहीं है, अपने जनपद की धरती और देश की जनता के भी प्रति है। व्यक्ति, धरती,जनता-सबको बाँधने वाली,एक माला में गूँथने वाली यह ' निष्ठा'ही है। निष्ठा सबके लिए है। यह एकनिष्ठता केदार की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। इस निष्ठा का आधुनिक बौद्धिकों में अभाव है। केदार ने 'हे मेरी तुम' की भूमिका के अन्त में लिखा है-''अच्छा हुआ, हम आधुनिक बौद्धिक न हुए और टूटते-टूटते भी पेड़-पौधों और फूलों को प्यार करते रहे और जिन्दा रहे।

केदार कविता की पुस्तक को सदाचार, राजनीति,कानून और हिकमत की पुस्तक नहीं मानते। उनके कविता-संबंधी विचार उनकी तीन गद्य कृतियों-'समय समय पर','विचार बोध ' और 'विवेक विवेचन' में मौजूद हैं। ये कविता के कथ्य और शिल्प को ' युग के परिवेश' से जोड़ते हैं। और कविता को 'आत्मबद्ध इकाई' न मानकर 'जीवन की चेतन सम्पृक्त इकाई' के रूप में देखते हैं। उनकी कविता अन्तर्मुखता से दूर है। शमशेर केदार की कविताओं में उनके दिल को आर-पार देखते हैं ''और वह दिल कितना हर तरह के 'हम्बग' और 'स्नॉबरी से पाक है।'' केदार के यहाँ छन्द और लय के कई रूप हैं। उनकी कविताएँ एक रूपी-एक रंगी नहीं हैं।उनके काव्य-सौन्दर्य में लय,गति और प्रवाह है। वहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। वर्तमान प्रमुख है। अपनी एक कविता 'वर्तमान' में उन्होंने वर्तमान को अतीत का पुत्र और भविष्य कहा है, वहाँ कुछ अकेला नहीं है। केदार का काल-बोध अज्ञेय के काल-बोध से भिन्न है। जीवन-बोध और सौन्दर्य-बोध इसी कारण भिन्न है। 'क्षण' केदार के यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं। 'क्षण के संरक्षण के सनकी' (१९६२) केदार की एक कविता है। उनकी दृष्टि में ''क्षण के संरक्षण के सनकी/ नहीं देखते आगे पीछे/ रहते हैं क्षण की छतरी के नीचे/ कण का जीवन जी के/ गण के रण से आँखे मींचे'' केदार आगे-पीछे देखते हैं। गण के रण से आँखे मींचने की तो बात ही नहीं उठती। यह सजग जागृत कवि हैं। इससे उनके यहाँ मर्म प्रमुख है। भाव और विचार एक दूसरे से जुड़े हैं। कुछ राजनीतिक कविताएँ प्रचारात्मक हैं और कुछ सफल राजनीतिक पत्रकारिता की भी कविताएँ हैं।

केदार का काव्य-शिल्प एक प्रकार का नहीं है, उसमें बारीकियाँ कम हैं। उनकी कविता खुले दिल-दिमाग की कविता है, जहाँ किसी प्रकार का दिखावा,प्रदर्शन, आडम्बर और बनावटीपन नहीं है। शमशेर उनके छन्द में 'एक ठेठपन' देखते हैं '' जो ठोस अनुभवों का तेवर लिए होता है। उसकी वाणी में एक कस-बल है। जो बुंदेलखंड का ही नहीं; उसका तो है ही; हर स्वस्थ मेहनतकश नौजवान का भी है।''

केदार के यहाँ व्यंग्य की एक सीधी धार है, जो नागार्जुन की तरह बेधक, मारक नहीं है। उनकी काव्य-भाषा के भी कई रूप हैं। उनका अपना एक अभिव्यक्ति-कौशल है। विषय के अनुसार उनकी कविता के फॉर्म में भी परिवर्तन दीखता है। हिंदी की प्रगतिशील काव्यधारा को केदारनाथ अग्रवाल ने जो ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं, उसे ध्यान से देखने पर समकालीन कवि भी हिंदी कविता का कुछ रूप-स्वरूप बदल सकते हैं।

समय संदर्भ

पूंजीवाद और जाति सापेक्षता

सन्दर्भ : दलित पूंजीवाद

रामशरण जोशी

दलित राजनीति, दलित चिंतन, दलित अस्मिता, दलित साहित्य और दलित पत्रकारिता, इन शब्दों से हिन्दी का बौद्धिक समाज लम्बे अरसे से परिचित है। अब इस श्रृंखला में एक और शब्द जुड़ा है- 'दलित पूंजीवाद'। यह शब्द इस समय विस्मयकारी लग सकता है लेकिन निकट भविष्य में दलित विमर्श का यह महत्वपूर्ण आयाम होगा। वैश्वीकरण के दौर में दलित पूंजीवाद के बहुआयामी पहल और प्रभावों की कल्पना की जा सकती है। इसके दूरगामी सामाजिक-आर्थिक परिणाम निकलेंगे इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः इसका फौरी नोटिस लिया जाना चाहिए।

यह शब्द अचानक नहीं गूंजा है। यह ठोस तैयारी और लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। इसी वर्ष जनवरी महीने में राजधानी दिल्ली में ऐसे मझौले उद्यमियों का संगम हुआ जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि दलित थी। बक़ौल दलित चिंतक व एक्टीविस्ट डॉ. चन्द्रभान, इसमें भाग लेने वाले दलित उद्योगपतियों का वार्षिक 'टर्न ओवर' ५० करोड़ रु से लेकर ५०० करोड़ रु था। निःसंदेह इन्हें पूंजीपतियों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। डॉ. चन्द्रभान लम्बे समय से 'दलित एजेण्डा' पर कार्य कर रहे हैं। सात-आठ वर्ष पहले उन्होंने इस एजेण्डा के तहत भोपाल में दलित समाज से जुड़े विभिन्न विषयों पर विमर्श का आयोजन भी किया था। तब देश की अर्थ व्यवस्था में 'दलित हस्तक्षेप' का चिंतन भी उभरा था। अब 'दलित पूंजीवाद' की अवधारणा संगठित रूप से सामने आ रही है। दलित पूंजीवाद कितना प्रासंगिक है, यह अवधारणा कितनी सही है, इस पर विचार की ज़रूरत है।

सोचा यह जाना चाहिए कि क्या पूंजीवाद जाति, धर्म, नस्ल और राष्ट्र सापेक्ष होता है, या इन तमाम संस्थागत संबोधनों या सूचकों से तटस्थ व निरपेक्ष है? दूसरे शब्दों में यह समाज की सांस्कृतिक संरचनों से या तो बंधा हुआ है या स्वतंत्र है। दोनों ही स्थितियां पेचीदा हैं। यदि इस तर्क को स्वीकार किया जाता है कि पूंजीवाद में जाति, धर्म, नस्ल और राष्ट्र-सापेक्षता निहित होती है तो

यही तर्क समाजवाद पर भी लागू होगा। तब समाजवाद को भी जाति, धर्म, नस्ल और राष्ट्र के सांचों में विभाजित करना पड़ेगा, समाजवाद भी हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी आदि संबोधनों से जाना जाएगा। यदि भारतीय परिदृश्य में इस पर विचार करें तो पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों को ही भारतीय समाज की चार प्रमुख संरचनात्मक अस्मिताओं- सवर्ण, पिछड़ा, दलित और आदिवासी के साथ जोड़ना पड़ेगा। अर्थात् १. सवर्ण पूंजीवाद व समाजवाद; २. पिछड़ा पूंजीवाद व समाजवाद; ३. दलित पूंजीवाद व समाजवाद; और ४. आदिवासी पूंजीवाद व समाजवाद। यही बात बृहतर भारतीय समाज के अभिन्न हिस्से मुस्लिम, सिख, ईसाई जैसे अल्पसंख्यकों पर भी लागू होगी। यदि इस अवधारणा को स्वीकार करें कि पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों ही स्वतंत्र व निरपेक्ष होते हैं तब जाति, धर्म, नस्ल, राष्ट्र जैसे गैर-आर्थिक व राजनीतिक फैक्टर स्वतः इस विमर्श में अप्रसांगिक हो जाते हैं। लेकिन वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। जब 'दलित पूंजीवाद' का शब्द उछला है तो इसकी कुछ पड़ताल तो होनी चाहिए।

यह सही है कि यह शब्द अर्थशास्त्रियों के बीच प्रचलन में नहीं है। बौद्धिक क्षेत्र इससे लगभग अपरिचित हैं। अलवत्ता हिन्दू अर्थ व्यवस्था, इस्लामी अर्थव्यवस्था, ईसाई अर्थव्यवस्था जैसे शब्दों से परिचय लोगों का जरूर है। लेकिन, 'दलित अर्थव्यवस्था' व 'दलित पूंजीवाद' जेसे शब्दों का प्रयोग तुलनात्मक दृष्टि से नहीं के समान है। वैसे दोनों शब्दों में अंतर भी है। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और नृतत्वशास्त्र में सीमांत समाजों (दलित, आदिवासी) की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं पर काफी चिंतन-मनन किया जाता है क्योंकि इनका संबंध सीमांत मानवता की आधारभूत जीवन शैली से होता है। इसके विपरीत पूंजीवाद अर्थव्यवस्था के संचालन, संगठित सत्ता और राज्य के चरित्र की तरफ इशारा करता है। पूंजीवाद इस सुबूत का प्रतीक है कि समाज या वर्ग-विशेष की अर्थव्यवस्था जीवन-निर्वाह तक ही सीमित नहीं रह गई है बल्कि बाज़ार व सत्ता से यह जुड़ गई है और इसके साथ ही इसने उत्पादन संबंध, उत्पादन साधन और उत्पादन वितरण के चरित्र-निर्धारण की क्षमता भी अर्जित कर ली है। इसलिए 'दलित पूंजीवाद' का विशेष महत्व है।

अमेरिका में ब्लैक पूंजीवाद या अश्वेत पूंजीवाद जैसे शब्द का प्रचलन काफी समय से है। इसका अपना एक इतिहास है। यह पूंजीवाद अमेरिकी समाज के दो आधारभूत वर्ग श्वेतों और नीग्रो अमेरिकियों के बीच व्याप्त भीषण बहुस्तरीय विषमता की देन है। श्वेत समाज का उत्पादन-साधन, सम्पत्ति, उद्योग धंधों तथा राजनीतिक प्रबंधन तंत्र पर निरंतर एकाधिकार रहा है। इसके विपरीत अफ्रीकी नीग्रो या अश्वेत समाज (ब्लैक) सदैव हाशिये पर रहे हैं। अतः श्वेत समाज द्वारा नियंत्रित पूंजी, उत्पादन साधन, वितरण और नीति निर्णय प्रक्रिया के वर्चस्व के प्रतिरोध में हाशिये वाले लोगों ने अपना स्वतंत्र अर्थतंत्र खड़ा किया। श्वेत अमेरिकयों द्वारा अश्वेतों की गुलामी से मुक्ति के उद्देश्य ने समानान्तर अर्थ सत्ता को जन्म दिया। अर्थ सत्ता अश्वेतों को स्वतंत्र अस्मिता से लैस करती है। इस अस्मिता से अस्तित्व, आर्थिक स्वतंत्रता, स्वतंत्र राजनीतिक पहचान व हैसियत और प्रतिरोधी सत्ता का बोध होता है। वास्तव में ब्लैक पूंजीवाद करीब डेढ़ शताब्दी पुराना अमेरिकी नीग्रो समाज का आंदोलन है जिसका लक्ष्य है श्वेत अमेरिकी पूंजीवाद के समक्ष चुनौती पेश करना। ब्लैक पूंजीवाद का संबंध 'नीग्रो-मुक्ति', 'नागरिक अधिकार आंदोलन', 'अश्वेत उद्यम' जैसे आंदोलनों से रहा है। अश्वेत पूंजीवाद आंदोलन के कारण अश्वेतों ने अपनी पूंजी से स्वतंत्र गिरजाघरों की स्थापना की, शैक्षणिक संस्थाओं को जन्म दिया, कल-कारखाने लगाये, बैंक स्थापित किये आदि इत्यादि। आज यह आंदोलन अमेरिका के विभिन्न राज्यों (मैरीलैण्ड, फिलाडेल्फिया, पेंनस्यूलवेनिया आदि) में फैला हुआ

है। जब से दक्षिण अफ्रीका में श्वेतों की रंगभेद सत्ता समाप्त हुई है और वहां के मूल निवासी अश्वेत शासक बने हैं तब से 'ब्लैक पूंजीवाद' को एक नई शक्ति मिली है। इस आलेख में ब्लैक पूंजीवाद के उल्लेख का यही प्रयोजन है।

दलित चिंतक डा. चन्द्रभान का तर्क है कि जब अमेरिका में ब्लैक कैपटलिज्म हो सकता है तब भारत में दलित कैपटलिज्म क्यों नहीं हो सकता? जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जे.एन.यू.) से शिक्षित चन्द्रभान के इस तार्किक प्रश्न को नहीं खारिज किया जा सकता। हालांकि चन्द्रभान के इस तर्क से कई दलित चिंतक असहमत भी हैं। इनमें प्रमुख नाम डॉ. तुलसीराम का है जो स्वयं जे.एन.यू. में प्रोफेसर हैं और बौद्ध दर्शन के ज्ञाता हैं। डॉ.राम हिंदी के उत्कृष्ट गद्यकार भी हैं। पिछले दिनों प्रकाशित इनकी आत्मकथा 'मुर्दहिया' काफी चर्चित रही है। डा. राम का मत है कि दलित पूंजीवाद जैसी कोई अवधारणा नहीं है। यह अमेरिका द्वारा प्रेरित पूंजीवाद है। चन्द्रभान के आलोचकों का मत है कि ये दलित समाज को विभाजित कर रहे हैं। दलितों को पूंजीवाद की नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीतिक समानता व अस्मिता की आवश्यकता है। जब तक ब्राह्मणवादी व्यवस्था रहेगी, दलितों में 'अस्मिता संकट' बना रहेगा। अतः पूंजीवाद से पहले सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की आवश्यकता है। इसके विपरीत डॉ. चन्द्रभान की दलील है कि दलितों की आर्थिक सत्ता भी गुणात्मक परिवर्तन ला सकती है। यह ब्राह्मणवादी व्यवस्था के लिये चुनौती बन सकती है। इस आलेख का प्रयोजन चन्द्रभान और उनके आलोचकों को केन्द्र में रखने का नहीं है। लेकिन भारतीय संदर्भ में जाति और पूंजीवाद के अन्तर्संबंधों को ज़रूर समझा जाना चाहिए।

देश के दो विख्यात कम्युनिस्ट नेता इन्द्रजीत गुप्ता और ज्योति बसु ने अंग्रेजी पाक्षिक 'फ्रंटलाइन' को दिये गये अपने साक्षात्कारों में जाति के यथार्थ को जरूर स्वीकार किया था। दोनों नेताओं का मत था कि भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन, विशेष रूप से मज़दूर आंदोलन ने 'वर्ग-यथार्थ' को ही स्वीकार किया, जाति यथार्थ को नज़रअंदाज़ किया। जाति, भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिसकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए थी। जाति-घटक को समझे बग़ैर भारतीय समाज के यथार्थ को नहीं समझा जा सकता। का. गुप्त ने अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले इस सच्चाई को स्वीकार किया था। का. ज्योति बसु ने भी अपनी मृत्यु से संभवतः तीन-चार वर्ष पहले अपने जन्म दिवस पर दिये गये साक्षात्कार में जाति-फैक्टर की भूमिका को माना था। इस स्वीकारोक्ति का अर्थ यह निकला कि भारतीय समाज में वर्ग से इतर शक्तियां हैं जो कि पूंजी व अर्थसत्ता के चरित्र का निर्धारण करती हैं। उत्पादन-साधन, उत्पादन, उत्पादन वितरण और उपयोग के स्वामित्व के निर्धारण में भी ये शक्तियां महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती आई हैं। जब ये शक्तियां श्रम, उत्पादन, पूंजी और स्वामित्व वर्ग का निर्धारण करती हैं तो यह पड़ताल भी अपरिहार्य है कि वर्ग से पहले संपूर्ण उत्पादन प्रक्रिया (श्रम व साधन सहित) और उत्पादन संबंध का जाति तंत्र से क्या संबंध रहा है?क्या भारतीय परिप्रेक्ष्य में जाति-तंत्र और उत्पादन तंत्र परस्पर आश्रित रहे हैं या स्वतंत्र?इसे खुले मस्तिष्क से सोचने की आवश्यकता है, न कि यांत्रिक दृष्टि से। यदि शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो 'वर्ग' प्राथमिकता पर होगा, न कि जाति। अतः उत्पादन साधन, उत्पादन संबंध, श्रम और पूंजी के सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों को तभी समझा जा सकता है जब जाति यथार्थ को स्वीकार किया जाए। यह निर्विवाद है कि भारतीय समाज में संपूर्ण उत्पादन व वितरण प्रक्रिया ब्राह्मणवादी व्यवस्था से नियंत्रित रही है। सवर्णों का इस पर एकाधिकार रहा है। इस एकाधिकार की रक्षा सवर्ण नियंत्रित व संचालित राज्य ने की है। इसके विपरीत शूद्रों (वर्तमान में उदारभाव से दलित)

का स्वामित्व श्रम पर रहा है। दूसरे शब्दों में शूद्र मानवता उत्पादन साधन व उत्पादन स्वामित्व से निरंतर वंचित रही है। पूंजी पर हाशिये के लोगों का कोई अधिकार व नियंत्रण नहीं रहा है क्योंकि इसे सामाजिक-सांस्कृतिक- धार्मिक स्वीकृति एवं राज्य मान्यता कभी प्राप्त नहीं थी। यदि मिथकीय चरित्रों के माध्यम से तर्क दें तो क्या शंबूक, केवट, शबरी, एकलव्य जैसों का तत्कालीन उत्पादन-प्रक्रिया, तकनोलॉजी और राजसत्ता पर कोई अधिकार था? क्या इनकी नीति-निर्णय प्रक्रिया में कोई उपस्थिति थी? जब शंबूक और एकलव्य ने स्वश्रम से तत्कालीन तक्नोलॉजी (तपस्या, धनुर्विद्या आदि) को अर्जित करने का प्रयास किया तो उन्हें इसका मूल्य भी चुकाना पड़ा, शूद्र तपस्वी शंबूक के प्राण गये और एकलव्य का अंगूठा। सवर्ण शासक वर्ग को यह स्वीकार नहीं था कि ज्ञान, तपस्या, लौकिक तकनोलॉजी या भौतिक साधनों पर उससे इतर शूद्र मानवता (सीमांत समाजों) की कोई सत्ता स्थापित हो। इसलिए यह वर्ग सवर्णेतर वर्गों का विरोधी रहा और विभिन्न धार्मिक निषेधों से इनकी घेराबंदी करता रहा। यदि ऐसा नहीं होता तो क्या दलित समाज के विभिन्न संतों की वाणियों में मध्ययुग का सामाजिक प्रतिरोध गूंजता? ऐतिहासिक नायक महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध दोनों तत्कालीन सामाजिक विषमताओं से अप्रभावित नहीं थे। जब जैन धर्म का 'अपरिग्रह' एक आधारभूत सिद्धांत है, तो इसका क्या अर्थ है?इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज में श्रम से जनित 'सरप्लस' ने इतनी विषमता पैदा कर दी होगी कि इसे समाप्त करने के लिये धार्मिक रूप देना पड़ा। जब राजकुमार सिद्धार्थ समाज के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें एक नये यथार्थ का दर्शन होता है। वह कृश काया कौन थी?वह क्यों थी? इन प्रश्नों का सरोकार क्या तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था से नहीं रहा होगा? क्या इन प्रश्नों ने सिद्धार्थ को आंदोलित नहीं किया होगा? एंगेल्स ने कहा भी है कि पिछड़े समाजों में आर्थिक अन्तर्विरोध सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की शक्ल में व्यक्त होते रहे हैं।

मैं अपने निजी अनुभवों के आधार पर विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी उत्पादन-संबंध और पूंजी स्वामित्व की मध्ययुगीन व औपनिवेशिक भारत की निरंतरता कम-अधिक बनी रही है। उदाहरण के लिये, १९७७-७८ में राष्ट्रीय बंधक श्रमिक प्रथा अध्ययन से मैं सम्बद्ध था। इस अध्ययन का चौंकाने वाला निष्कर्ष यह था कि करीब ९९ प्रतिशत बंधक श्रमिक दलित, आदिवासी और पिछड़ी जातियों से थे। फिर प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, खत्री, जैनी आदि क्यों नहीं थे? इन जातियों के लोग कृषि दास, खेतिहर श्रमिक, बेगार आदि क्यों नहीं बने?क्यों ऊंची जातियां ही समय समय पर भारत की मुख्यधारा का निर्माण व इसे परिभाषित करती रही हैं? देश के विभिन्न क्षेत्रों (उत्तर, दक्षिण और उत्तर-पूर्व भारत) में 'श्रमिक चेतना शिविरों' के आयोजन में यही अनुभव हुए; खेतिहर श्रमिक, भूमिहीन और बंधक श्रमिक सभी हाशिये के समाजों से थे। इनमें एक भी व्यक्ति ऊंची जाति का नहीं था। इस अनुभवजन्य व तथ्यात्मक निष्कर्ष से यह स्पष्ट है कि श्रमिक स्वामियों और उत्पादन स्वामियों के बीच निरंतर विभाजन रहा है। इस विभाजन को धार्मिक पुस्तकों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और जीवन शैलियों से वैधता मिलती रही है। इस वैधता ने उत्पादन साधनों से लेकर पूंजी तक का स्वतंत्र अस्तित्व पैदा नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप, इनके जातिगत व धार्मिक आधार उत्तरोत्तर मज़बूत होते चले गये। हाशिये के लोग इस विश्वास के साथ जीते रहे कि उनका चल-अचल सम्पत्ति और पूंजी निर्माण साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। उनकी नियति श्रम-उत्पादन, पर-पूंजी व पर-उत्पादन निर्माण और सम्पत्ति व पूंजीहीनता है। उनके द्वारा जनित 'सरप्लस' पर समाज के सवर्ण प्रभु वर्ग का हक़ है। स्वाभाविक है,

इस स्थिति से ऐसा पूंजीवाद अस्तित्व में आया जिसमें दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। इसने ऐसे अन्तर्विरोध को जन्म दिया जिसका समाधान स्वतंत्र अस्मिता और समानान्तर वैकल्पिक अर्थसत्ता से ही संभव था।

यहां एक और सच्चाई की तरफ ध्यान देने की जरूरत है। भारतीय समाज में वर्ग रचना एक स्वतंत्र प्रक्रिया नहीं है। वर्ग रचना जाति-पृष्ठभूमि से जुड़ी हुई है। इसे और खुलकर समझा जाए। मिसाल के लिए, आप कितने ही बड़े व्यवसायी, अधिकारी, बुद्धिजीवी, नेता आदि क्यों न बन जाएं लेकिन जाति आपका पिंड नहीं छोड़ेगी। समाज आपकी जाति-पृष्ठभूमि जानने में निरंतर उत्सुक रहेगा। आपका समाज, मित्र-मंडली, आफिस आदि में स्थान-निर्धारण आपकी जाति-पृष्ठभूमि तय करेगी, आपका पद नहीं। आपका पद 'मानवीय' संबोधन जरूर प्राप्त करेगा, लेकिन 'श्रद्धेय', 'आदरणीय', 'पूज्य' जैसे संबोधन तभी प्राप्त होंगे जब आप श्रेष्ठ जाति के सदस्य रहेंगे। १९७७ में उपप्रधानमंत्री बनने के बावजूद बाबू जगजीवन राम जब वाराणसी में पं.मदनमोहन मालवीय की प्रतिमा पर पुष्पांजलि अर्पित करने गये थे तब ब्राह्मणों ने उनका जाति के आधार पर भारी विरोध किया था। इतना ही नहीं, जगजीवन राम जी के चले जाने के पश्चात उनकी मूर्ति को गंगाजल से धोकर शुद्ध किया गया। कायदे से बाबूजी एक धनी राजनेता थे। उनका अपना एक वर्ग था। वे शासक वर्ग के प्रतिनिधि भी थे। नेहरू-काल से केन्द्र की राजनीति करते आ रहे थे। क्या उन्हें वर्ग के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए था?क्यों उन्हें दलित जाति से जोड़ा गया? क्यों नहीं उन्हें उनकी आर्थिक व राजनीतिक सत्ता के संदर्भ में देखा गया?

पिछले दिनों कचौटने वाला एक अनुभव हुआ। कुछ महीनों के लिये मैं एक निजी शिक्षण संस्थान में मीडिया अध्यापन से जुड़ा हुआ था। वहां सात-आठ मीडिया शिक्षक-शिक्षिकाएं थे। एक रोज़ अज़ीब वाकया हुआ। एक महिला सह-प्रोफेसर ने मुझे हिला कर रख दिया। हुआ यह कि उक्त सह-प्रोफेसर ने अत्यंत संकोच व विचलित भाव से बताया, सर! मैं आपसे एक संवेदनशील बात शेयर करना चाहती हूँ। विभाग में मेरी जाति-पृष्ठभूमि के बारे में कोई नहीं जानता है। सब मुझे ऊंची जाति का समझते हैं। इसीलिए मेरा सम्मान करते हैं। लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है... मैं एस.सी. वर्ग से हूँ। मेरा पढ़ाई का रिकार्ड अच्छा रहा है। नेट पास हूँ इसलिए सीधी नियुक्ति हो गई।

'लेकिन आप मुझे यह सब क्यों बता रहीं हैं? उत्सुकतावश मैंने जानना चाहा।'

'आप प्रगतिशील हैं। जातिवाद में आपका विश्वास नहीं है। लेकिन इस संस्थान में जाति भेदभाव काफी है। ऊंच-नीच की नज़र से देखा जाता है। यदि विभाग के दूसरे लोगों को यह मालूम हो गया कि मैं दलित परिवार से हूँ तो वे मुझे नीची नज़र से देखेंगे। सम्मान नहीं करेंगे। एक प्रकार का दयाभाव... सहानुभूति भाव मेरे प्रति प्रदर्शित करेंगे। समानता का दर्ज़ा नहीं देंगे। सर! यह सच किसी और को मत बतलाइए.... यहां तक कि विद्यार्थियों का व्यवहार भी बदल जाएगा।'

यह किसी के लिये भी दहला देने वाला अनुभव हो सकता है। स्वतंत्रता के ६२-६३ वर्ष पश्चात भी भारतीय राष्ट्र राज्य का एक नागरिक अपनी वास्तविक पहचान छुपाता है तो यह लोकतंत्र व गणतंत्र के गाल पर किसी तमाचे से कम नहीं है। उक्त सहयोगी प्रोफेसर प्रतिभा सम्पन्न थी। कुशल शिक्षिका व विभाग संचालक भी थी। रंग-रूप और व्यवहार से आकर्षक थी। शालीनता उसका पर्याय थी। इन तमाम विशेषताओं के बावजूद वह भीतर ही भीतर कुंठाग्रस्त रहती थी। हो सकता है उसके मन के किसी कोने में यह भाव छिपा है 'काश! मैं भी सवर्ण होती।' कई हफ्तों के आंतरिक संघर्ष के बाद उसने अपनी 'पहचान' मेरे सामने खोली थी। उसने यह भी बताया, 'मेरे माता-पिता

हमेशा कहते हैं कि अपनी सही पहचान मत दबाओ। स्वाभिमान के साथ रहो। पर सर, न जाने मैं क्यों भयभीत रहती हूँ। मेरे काफी कटु अनुभव हैं। इसलिए मैं इस कॉम्पलैक्स से मुक्त नहीं हो पा रही हूँ। प्लीज़ सर, किसी को यह जानकारी मत दीजिये। आपको बतलाकर मैं मन को हल्का कर रही हूँ।'

पीएच.डी से शक्ति सम्पन्न होने के बावजूद इस मीडिया शिक्षिका में अपनी जाति को लेकर हीनता भाव और इसे बतलाने में साहस का अभाव इस बात का प्रतीक है कि किस प्रकार का रुग्ण औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और पूंजीकरण भारतीय समाज का हो रहा है? प्रोफेसर स्वयं में प्रत्येक दृष्टि से एक स्वतंत्र वर्ग है। शिक्षिका के लिए प्रोफेसर की पहचान ही पर्याप्त होनी चाहिए क्योंकि वह स्वयं में एक वर्ग है। पर क्या कारण है कि इस शिक्षिका को अपने इस प्रतिश्ठित वर्ग पर विश्वास नहीं है? वह क्यों आशंकित है कि उसकी सामाजिक पहचान उसकी जाति के साथ नत्थी है, और रहेगी? उसे जातिमुक्त और नयी वर्ग-पहचान से सम्पन्न के रूप में नहीं देखा जाएगा? यह अन्तर्द्वन्द्व इस युवा शिक्षिका के संपूर्ण अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा बन चुका है, जिससे मुक्ति असंभव नहीं, तो आसान भी नहीं है। यदि वर्ग जाति से 'डी-लिंक्ड' (De Linked) रहता तो इस प्रकार के अन्तर्विरोध समाज में नहीं रहते, शिक्षिका हीन भावना से मुक्त रहती।

भारत में 'धर्म-परिवर्तन' संभव है और इसे संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त है लेकिन जाति-परिवर्तन का कोई प्रावधान नहीं है, यहां तक कि इसकी कोई सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था भी नहीं है। आप जिस जाति में पैदा होते हैं उसका 'टैग' जीवन पर्यन्त आपके साथ यात्रा करता है। धर्म परिवर्तन के बावजूद यह टैग आपका पीछा नहीं छोड़ता है।

भारत में आज भी 'दलित ईसाई', 'दलित मुस्लिम', 'दलित बौद्ध' जैसी पहचानें प्रचलित हैं। इनके आरक्षण को लेकर आंदोलन भी समय-समय पर उठते रहते हैं। सर्वोच्च न्यायालय में आरक्षण से संबंधित मुकदमे लड़े भी जा रहे हैं। बुनियादी सवाल यह है कि धर्मान्तरण के बावजूद दलित, आदिवासी, पिछड़ों आदि की नई पहचान क्यों नहीं बन पाती है?उन्हें धर्मान्तरित परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं देखा जाता है? जिस नये धर्म में इन समाजों के लोग प्रवेश करते हैं वहां भी वे निम्न पायदान पर रखे जाते हैं। उनके साथ वहां भी भेदभाव होता है। इनके अलग 'पूजास्थल' होते हैं। संक्षेप व स्पष्ट शब्दों में, सवर्ण धर्मान्तरित और दलित धर्मान्तरित दोनों की अलग-अलग दुनिया होती है। दोनों के बीच जातिगत अन्तर्विरोध नये धर्म में भी सक्रिय रहते हैं। ऊंची जाति से आने वालों को नये धर्म तंत्र में प्राथमिकता ही नहीं वर्चस्व भी मिलता है। इतना ही नहीं, धर्मान्तरित लोगों के बीच स्थापित होने वाले सामाजिक व वैवाहिक संबंधों में 'उद्गम जाति' का ध्यान रखा जाता है। मूल जाति के आधार पर ही वैवाहिक संबंधों को तय किया जाता है। इस दृष्टि से मुस्लिम, ईसाई आदि समाज समान हैं। हालाँकि अपवाद सर्वत्र हैं लेकिन मुख्यधारा का निर्माण जातिगत आधार पर ही होता है। जब उत्पीड़ित जातियों के लोग धर्म परिवर्तन करते हैं तो उन्हें नये धर्म से समानता, स्वतंत्रता और न्यायपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा रहती है। लेकिन नये धर्म का सत्ता तंत्र भी 'जातिगत आग्रहों' से नियंत्रित होता है। हिन्दू समाज की विशिष्टताएं (या दोष) वहां भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सक्रिय रहती हैं। एक नई धार्मिक पहचान बन जाती है, सिर्फ इतना ही गुणात्मक परिवर्तन धर्मान्तरण से दलितों-आदिवासियों के जीवन में आ पाता है। वरना, उनके मूल जातिगत आधार यथावत रहते हैं। आधुनिक भारत, नये उत्पादन साधन व प्रणाली, बहुस्तरीय पूंजीनिर्माण और राजनीतिक व्यवस्था भी भारतीय समाज की इस जाति-संरचनात्मक निरंतरता को तोड़ नहीं पाये हैं। ऐसा क्यों है? यह सवाल

गंभीर मंथन की मांग करता है। सोचा यह भी जाना चाहिए कि इस निरंतरता को निर्णायक रूप से भंग करने के लिए किस प्रकार के औजारों की आवश्यकता है?जिस प्रकार जाति और वर्ग को डीलिंक किया जाना चाहिए, उसी प्रकार जाति और परिवर्तित धर्म में 'असम्बद्धता' होनी चाहिए। यदि निरंतरता और संबंध-विच्छेदता के बीच व्याप्त अन्तर्विरोध का समाधान नहीं किया जाता है तो अर्थव्यवस्था की स्वतंत्र पहचान की प्रक्रिया दोषपूर्ण व अधूरी रहेगी, पूंजी और पूंजीवाद की जातियों से पहचान होती रहेगी।

प्रसंगवश एक और अनुभव दिमाग पर दस्तक दे रहा है। दो वर्ष पहले की घटना है। मेरी एम. जे. की क्लास (मास्टर इन जर्नलिज़्म) में एक ईसाई छात्रा हुआ करती। शायद वह 'प्रोटेस्टेंट चर्च' से थी। उसने एक रोज़ अपने घर डिनर पर आमंत्रित किया। मैं निर्धारित समय पर पहुंचा। छात्रा ने अपने माता-पिता और भाईयों से मिलाया। पिता का रंग गहरा श्याम वर्ण का था, जबकि माता गोरी चिट्टी थीं। पिता की काया खुरदरी थी और पत्नी की नफासत लिये हुए थी। डिनर से पहले वार्तालाप शुरू हुआ। कोई पच्चीस-तीस बरस पहले दोनों का विवाह हुआ था। बातचीत की दिशा समाज की संरचना की तरफ मुड़ गई। बातचीत के दौर में छात्रा की माता ने अकस्मात दिल में घुट रही बात को उगल डाला, जिससे मैं अवाक् रह गया। उन्होंने अपने पति और बच्चों के सामने कहा, 'जोशी सर, मैं ब्राह्मण परिवार से हूँ। मेरे माता-पिता बंगाली ब्राह्मण हैं।' मेरे लिये यह सुनना आश्चर्यजनक था। कुछ क्षणों के लिये वातावरण में ख़ामोशी पसर गई क्योंकि परिवार के किसी सदस्य को उम्मीद नहीं रही होगी कि वे एक बाहरी व्यक्ति के सामने अपनी मूल जातिपृष्ठभूमि को यों उद्घाटित करेंगी। मैं यह तो नहीं जानता कि उन्होंने धर्मपरिवर्तन किया था या उनके माता-पिता ने। यहां इतना अवश्य विचारणीय है कि विवाह के लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद भी उनकी उपचेतना में 'जाति राक्षस' जीवित था और वे स्वयं को 'ब्राह्मण जाति' से जोड़कर गर्व अनुभव कर रही थीं। उनके चेहरे की चमक में यह गर्व खिल रहा था।

पाठकों को मदर टेरेसा के उत्तराधिकार की घटना याद होगी। करीब तेरह वर्ष पूर्व मदर टेरेसा का निधन हुआ था। उनके उत्तराधिकारी को लेकर देश में काफी उत्सुकता थी। वे मूलतः विदेशी थीं लेकिन भारत उनका कर्म-राष्ट्र था। लोगों का ख्याल था कि कोई विदेशी ही उनका स्थान लेंगी लेकिन सिस्टर निर्मला ने यह स्थान लिया। सिस्टर निर्मला मूलतः नेपाली और भारतीय उपमहाद्वीप की हैं। उत्तराधिकारी की घोषणा के शुरू में सिस्टर निर्मला की पारिवारिक पृष्ठभूमि की जानकारी सीमित लोगों को ही थी, भारतीय समाज इससे अनभिज्ञ था। परन्तु शीघ्र ही उनकी पारिवारिक व जातिपृष्ठभूमि को सार्वजनिक कर दिया गया। वे नेपाल की ब्राह्मण परिवार की हैं और उनका पूरा नाम है 'सिस्टर निर्मला जोशी'। जाहिर है, यह 'जाति पहचान' इस उपमहाद्वीप में विशेष महत्व रखता है। भारतीय समाज में इस घोषणा का स्वागत भी हुआ। मुझे याद है उस समय कई रोचक टिप्पणियां थी- 'चलिए, एक ब्राह्मण परिवार की बेटी ने मां की गद्दी ली है', 'ऊंची जाति की होने के कारण वे मां के मिशन को पटरी से नहीं उतरने देंगी' आदि आदि। भारत और नेपाल की जाति-व्यवस्था समान ही है। अतः ईसाई बनने के बावजूद सिस्टर निर्मला के साथ जाति-सूचक पुछल्ला झूलता रहा।

यहां एक उपन्यास की याद आ रही है। कई वर्ष पहले एक उपन्यास पढ़ा था- 'मोरी की ईंट'। इसके लेखक थे मदन दीक्षित। इस उपन्यास में धर्मान्तरित ईसाई समाज के दो संसारों के अन्तर्द्वंद्वों की कथा हैः एक संसार है दलित ईसाइयों का और दूसरा है पहाड़ के ब्राह्मण ईसाइयों का। इस

उपन्यास में हिन्दू समाज और शेष दोनों ईसाई समाजों के जटिल जाति-संबंधों को भी उद्घाटित किया गया है। यह बतलाया गया है कि बृहत्तर हिन्दू समाज का इन दोनों धर्म परिवर्तित ईसाई समाजों के प्रति व्यवहार भी मूल जातिगत आग्रह-पूर्वाग्रहों से बंधा हुआ है।

यही सच हिन्दू से मुसलमान बनने वालों का है। यदि कोई अछूत मुसलमान बनता है तो उसे 'लालबेगी, हलालखोर, अल्लन तिल्लन, अहमद जैसे अलग पहचान वाले जातीय नाम दिये जाते हैं। शेख, सैयद्, पठान जैसे उच्चवर्गीय मुसलमानों के साथ निम्न जाति के वैवाहिक संबंध नहीं होते हैं। प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान डॉ. रफीक जकरिया बतलाते हैं कि ब्राह्मणों के समान मुसलमानों में अशरफ सबसे ऊंची जाति है; फिर आते हैं सैयद, उनके बाद राजपूत, मियां जुलाह, दर्जी, कसाई, हज्जाम, कुम्हार, तेली, धोबी और अंत में भंगी जैसी छोटी जातियां आती हैं। और ये अंत की कुछ जातियां वही हैं जो हिंदुओं में भी छोटी मानी जाती हैं। आज भी भारतीय मुसलमानों में किसी अशरफ और भंगी के बीच शादी होना अकल्पनीय है। समाजशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि मुसलमानों में यह जाति-भेद हिंदू प्रभाव की वजह से आया क्योंकि उनमें से अधिकतर हिंदू से धर्मांतरित हो कर आये थे। धर्मांतरण के बावजूद वे अपनी जातीय ग्रंथियों को छोड़ नहीं पाए। (देखें, प्रतिबिम्बन; ले. रा.श. जोशी, प्र. राजकमल, पृ. २३६) विभिन्न अवसरों पर की गई पाकिस्तान की यात्राओं के दौरान हुए मेरे अनुभव इससे भिन्न नहीं हैं। वहां का मंज़र भी भारत जैसा ही है। इसलिए भारत में संपूर्ण उत्पादन प्रक्रिया और स्वामित्व चरित्र को जाति-परिप्रेक्ष्य से काट कर नहीं समझा जा सकता।

निःसंदेह पूंजी और पूंजीवाद शक्ति के प्रतीक हैं। यदि यह नहीं होता तो दलित पूंजीवाद, या ब्लैक पूंजीवाद कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रस्तुत आलेख में पूंजीवाद के पक्ष या विपक्ष को लेकर कोई 'स्टैंड' नहीं लिया गया है वरन इस पर चर्चा की गई है कि ये किस प्रकार सीमांत समाजों में अस्मिता व शक्ति का बोध संचारित करते हैं। जब दलित पूंजीवाद और अश्वेत पूंजीवाद के संबोधन गूंजते हैं तो सवर्ण तथा श्वेत समाजों अथवा पारम्परिक रूप से बहुआयामी सत्ता सम्पन्न समाजों को यह संदेश भी सम्प्रेषित होता है कि हाशिये की मानवता भी सत्ता अर्जित कर रही है। अब इस मानवता को सत्ता विमर्श से अलग-थलग नहीं रखा जा सकता। इसकी दस्तकों को हस्तक्षेप के रूप में देर-सबेर स्वीकार करना ही पड़ेगा। दलित पूंजीवाद से भारतीय समाज के उत्पादन संबंधों में कोई बुनियादी बदलाव आयेगा या नहीं, यह अलग बहस का विषय है। लेकिन इतना अवश्य है कि नये समीकरण जन्म लेंगे, प्रभुवर्ग का पूंजीवाद और हाशियाकृत समाजों का पूंजीवाद नई सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों को जन्म देंगे। दलित पूंजीवाद के साथ देर-सबेर आदिवासी पूंजीवाद भी उभरेगा। आदिवासी उद्यमी भी 'आदिवासी पूंजीवाद' का नारा उछालेंगे। यह बात काफी कुछ इस पर निर्भर करती है कि आदिवासी समाज और उभरते बाज़ार के बीच किस प्रकार के रिश्ते बनते हैं; आदिवासी किस प्रकार की तकनोलॉजी का प्रयोग करता है; इसमें किस प्रकार का उपभोक्ता वर्ग पैदा होता है। वैसे आदिवासी समाज का लघु स्तर पर लघु वन उपजों व सीमित आवश्यकता के माध्यम से स्थानीय हाट-अर्थव्यवस्था से संबंध अधिक रहता है, भीतरी क्षेत्रों में तो अदला-बदली अर्थव्यवस्था (बार्टर सिस्टम) आज भी प्रचलित है। मौद्रिक अर्थव्यवथा से ये क्षेत्र अभी दूर हैं। बस्तर के अबूझभाड़ क्षेत्र में तो 'राजस्व प्रणाली' भी नहीं है। अतः सरप्लस व पूंजी निर्माण की रफ्तार परिणामहीन है। दलितों जैसी 'बृहत्स्तरीय अस्मिता' भी अभी इसमें उत्पन्न नहीं हुई है। संक्षेप में, प्रतिरोध की चेतना तो इसमें है लेकिन पूंजी संचयन और पूंजीवाद के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। दलित समाज और आदिवासी समाज में यह बुनियादी अंतर है। इसे समझा जाना चाहिए। वास्तव में

जब तक किसी देश में हाशिये के समाज रहेंगे तब तक पूंजी और पूंजीवाद की जाति व जातीय पहचानें भी बनी रहेंगी क्योंकि परम्परागत व पिछड़े समाजों में इनका सीधा संबंध 'अस्मिता बोध व सत्ता' से रहता है। वैसे अन्ततः पूंजी का चरित्र इससे निर्धारित होता है कि राजसत्ता किनके हाथों में है और राज्य का चरित्र क्या है? भारतीय राज्य और दलित पूंजीवाद के बीच यही सापेक्षता है।

बदलता ग्रामीण परिवेश

गिरीश मिश्र

युगों से हम सुनते आए हैं कि सृष्टि में कोई भी चीज स्थिर नहीं है। काल का पहिया हमेशा गतिशील रहता है। उसको रोकने की शक्ति किसी के पास नहीं रही है। इसलिए बदलती स्थितियों को देखते हुए हमें अपने नजरिए को बदलना चाहिए। यह बदलाव कभी धीमी गति से होता है तो कभी बड़ी तेजी से। कहना न होगा कि बहुत सारे प्राणी कालक्रम में इसलिए लापता हो गए कि उन्होंने समय में आए बदलाव के अनुसार अपने को नहीं ढाला। मानवजाति के बरकरार रहने और आगे बढ़ने के पीछे उसकी अपने को समय और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की क्षमता रही है।

जहां तक समाज विकास का प्रश्न है, आदिम साम्यवाद की तुलना में सामंतवाद और सामंतवाद की तुलना में पूंजीवाद के दौरान बड़ी तेजी से बदलाव आए हैं। अगर हम अठारहवीं सदी के मध्य के बाद और उसके पहले की तुलना करें तो भारी अंतर दिखेगा जिसकी किसी ने कल्पना भी न की होगी। कृषि और दस्तकारी पर आधारित अर्थव्यवस्था की जगह उद्योग और मशीन-आधारित विनिर्माण ने ले ली। कालक्रम में इस द्रुत गुणात्मक परिवर्तन को औद्योगिक क्रांति का नाम दिया गया। ब्रिटेन से आरंभ होकर यह सारी दुनिया में फैली और उसने अपने असर में आए देशों का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक तौर पर ऐसा रूपांतरण कर दिया कि पुरानी पीढ़ियां अगर आतीं तो भौचक रह जातीं।

औद्योगिक क्रांति के मर्म में तीन परस्पर जुड़े उत्तरोत्तर प्रौद्योगिक परिवर्तन थेः (१) मानवीय कौशल की जगह यांत्रिक युक्तियां, (२) मानवीय और पाशविक ऊर्जा की जगह बेजान ऊर्जा, विशेषकर भाप की ऊर्जा, और (३) कच्चे मालों को प्राप्तकर उन्हें तैयार माल में बदलने की प्रक्रिया में स्पष्ट परिवर्तन, जो विशेष रूप से धातु और रसायन उद्योगों में दिखा। इन बदलावों के परिणामस्वरूप उत्पादन में भारी वृद्धि हुई जिसके लिए औद्योगिक संगठन और प्रबंधन में परिवर्तन

करने पड़े। उत्पादन की इकाई पहले की तुलना में काफी बड़ी हो गयी और उत्पादन दस्तकारों के घरों में न होकर बड़े-बड़े कारखानों में होने लगा। उत्पादन का पैमाना काफी बड़ा हो गया जहां दूर-दूर से श्रमिक आकर काम करने लगे। श्रम विभाजन और विशेषीकरण ने जन्म लिया। उत्पादन का ढांचा नए रूप में पनपा। श्रमिकों का उत्पादन के साधनों से अलगाव हुआ। अब वे नहीं बल्कि उत्पादन के साधनों के स्वामी, उत्पादन से जुड़े निर्णय- क्या, कैसे और किनके लिए- लेने लगे। इस बदलाव के सामाजिक और सांस्कृतिक परिणाम हुए। नए प्रकार के कामगार अस्तित्व में आए जो गतिशील और अपनी जन्मभूमि के साथ सभी जुड़ावों से आजाद हो गए। उन्होंने पारंपरिक निष्ठाओं से भी अपने को मुक्त कर लिया।

आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद ने विश्व बाजार की स्थापना की। दूर-दराज के अज्ञात भूखंडों की तलाश की। वाणिज्य, नौपरिवहन और थल-परिवहन और संचार के क्षेत्र में भारी प्रगति की। मध्ययुगीन संबंध धराशायी होने लगे। सामंतों का दबदबा और उनसे जुड़ा दृष्टिकोण प्रभावहीन होता गया। पूंजीवाद ने परंपरागत संबंधों के ऊपर से भावुकता का आवरण उतार फेंका। कार्ल मार्क्स और एंगेल्स के शब्दों में कहें तो ''उत्पादन में निरंतर क्रांतिकारी परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चितता और हलचल, ये चीजें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं, सभी स्थिर और जड़ीभूत संबंध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वग्रहों तथा मतों की एक पूरी श्रृंखला जुड़ी हुई होती है, मिटा दिए जाते हैं, और सभी नए बनने वाले संबंध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं, जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ पावन है वह भ्रष्ट हो जाता है और आखिरकार मनुष्य संजीदा नजर से जीवन के वास्तविक हालात को, मानव-मानव के आपसी संबंधों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।''

जहां तक भारत का प्रश्न है, वहां पूंजीवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देखरेख में उसके स्वार्थों को पूरा करने के मुख्य उद्देश्य की दृष्टि से पनपा। प्रो. इरफान हबीब जैसे कई इतिहासकारों का मानना है मुगल साम्राज्य के दौरान ही भारत में पूंजीवादी विकास के लिए उत्तरदायी कारक अंकुरित होने लगे थे मगर अंग्रेजी राज ने उनकी दिशा अपनी नीतियों और कार्रवाइयों से मोड़ दी। कालक्रम में भारत में जिस प्रकार का पूंजीवाद पनपा वह स्वतंत्र नहीं बल्कि ब्रिटिश पूंजीवाद का सहायक बना। भारत को कच्चेमालों के स्रोत और ब्रिटिश तैयार माल के बाजार के रूप में विकसित किया गया। रेलवे का निर्माण और उसकी भाड़ा-नीति के स्वरूप को देखने से यह काफी कुछ स्पष्ट हो जाता है।

जहां तक भारतीय कृषि क्षेत्र का सवाल है वहां सरकार ने ऐसी नीतियां अपनाईं और ऐसे कदम उठाए जिनसे उसका परंपरागत स्वरूप खत्म हो गया और वह अनिश्चितता के भंवर में पड़ गया। यह कैसे हुआ? आइए इसकी प्रक्रिया को देखें।

अंग्रेजों का वर्चस्व स्थापित होने के पूर्व भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था पारस्परिकता के धागे से बंधी थी और बाजार उसके ऊपर स्वतंत्र हस्ती के रूप में न था। वस्तुतः बाजार ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के तहत या अधीन था। भूमि उत्पादन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संसाधन थी मगर उस पर निजी स्वामित्व न था। जनसमूह के विभिन्न भागों के हित भूमि से जुड़े थे और उपज पर उनके दावे थे किंतु उन्हें भूमि की खरीद-फरोख्त या हस्तांतरण के अधिकार न थे। भूमि के उपयोग का अधिकार स्वामित्व का पर्यायवाची न था। हस्तशिल्प और कृषि के बीच समन्वय था। उत्पादन का चरित्र स्वावलंबी था। उत्पादन मूलतः बाजार में बेचने के लिए नहीं, बल्कि स्व-उपभोग के लिए होता था। राज्य उत्पादकों से लगान लेता था जो उपज के रूप में होता था। इसे

भावली लगान कहते थे। स्पष्टतया राज्य पर भी बाढ़, सूखा, भूकंप, अतिवृष्टि, टिड्डी दलों के हमलों आदि का असर पड़ता था। इस प्रकार राज्य खेती से जुड़े खतरों या जोखिमों से अलग नहीं रह पाता था। राज्य जो लगान लेता था उसका एक बड़ा भाग सिंचाई, जल-निकासी तथा तटबंधों के निर्माण पर खर्च करता था। 'फर्द आबपासी' या सिंचाई का अधिकार कृषकों को प्राप्त था।

ग्रामीण समाज पारस्परिकता के बंधन से बंधा था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जजमानी व्यवस्था के आधार पर वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय होता था। मुद्रा और बाजार की भूमिका सीमित थी। विभिन्न जातियों और समुदाय के लोग अपने परंपरागत पेशों को अपनाकर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करते और पारंपरिक फार्मूले के अनुसार उनका परस्पर विनिमय करते थे। लुई दुमां ने अपनी पुस्तक होमो हायरारकिवस (शिकागो, १९७०, पृ. ९८-९९) में इस व्यवस्था का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

इस व्यवस्था में तब सेंध लगी जब ब्रिटिश शासन ने नई भूराजस्व व्यवस्था लागू की। रेलवे का निर्माण किया। व्यापार बढ़ा तथा बाजार का विस्तार हुआ। मौद्रिक अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला। कृष्णराव शिवराव शेलबांकर के शब्दों में "सिक्का-ढलाई की समरूप प्रणाली लागू की गई। पुरातन संबंधों को समाप्त करने में सबसे सक्षम भूमिका निभानेवाली मुद्रा का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया। साथ ही भारत को उसके सुदूर अतीत से बांधे रखने वाले रिवाजों की जगह कानून लेने लगे।" (द प्राब्लेम ऑफ इंडिया, पेंगुइन, १९४०)

अगर हम अंग्रेजी शासनकाल कायम होने के पहले के इतिहास को देखें तो तीन बातें उभर कर सामने आती हैं। पहली, बाजार निरंतर विस्तृत और विकसित हुआ। बाजार में आने वाली वस्तुओं और सेवाओं में विविधता आई। देश के विभिन्न भागों के साथ ही विदेश से व्यापार बढ़ा जिससे जनजीवन समृद्ध हुआ। दूसरी, उत्पादन का मुख्य उद्देश्य उपभोग में विविधता लाना था न कि मुनाफा कमाना। विनिमय का सूत्र थाः वस्तु-मुद्रा-वस्तु। मुद्रा का प्रधान काम विनिमय को आसान बनाना था। क्या, कैसे और किनके लिए?, जैसे उत्पादन से जुड़े सवालों के उत्तर तत्कालीन समाज व्यवस्था से निकलते थे। कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा सा भाग ही बाजार में बेचने के लिए लाया जाता था जिससे ऐसी वस्तुएं खरीदी जा सकें जिनकी स्थानीय तौर पर उपलब्धि न थी। तीसरी, बाजार समाज यानी ग्राम-समुदाय और तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था के अधीन था। वहां कीमतों, वस्तुओं की गुणवत्ता तथा मापतोल पर राज्य की निगाह बनी रहती थी।

अंग्रेजों द्वारा लाई गई नई भूराजस्व व्यवस्थाओं के तहत भावली लगान के बदले नकदी लगान का प्रावधान किया गया। फलस्वरूप खेती की पैदावार में प्राकृतिक कारणों से आने वाली गिरावट का लगान पर असर समाप्त हो गया और राज्य ने सिंचाई, जल-निकासी, तटबंध निर्माण, सूखा, बाढ़ के खतरे, कीटाणुओं एवं टिड्डीदल के हमलों की फिक्र करनी छोड़ दी।

विदेशी मालों के लिए बाजार बनाने की सरकारी नीति ने दस्तकारी तथा छोटे उद्योगों को नष्ट कर दिया। पारंपरिक उपचार-व्यवस्था नष्ट हो गई। अब लगान के भुगतान, दवादारू, बच्चों को आधुनिक शिक्षा दिलवाने तथा बाहर से आने वाले सामानों (जैसे कपड़ा, नमक, चीनी, खेती के औजारों आदि) की खरीद के लिए नकदी की आवश्यकता बढ़ी। परिणामस्वरूप ऐसी फसलों का उत्पादन करने की ओर लोग उन्मुख हुए जिनका, उपभोग की दृष्टि से, उनके लिए कोई खास महत्त्व नहीं था मगर उनसे नकदी की प्राप्ति होने लगी।

बंगाल प्रेसिडेंसी में नील की खेती शुरू हुई। इसके पीछे अंग्रेज थे जो उससे नीला रंग निकालकर निर्यात करने लगे। इससे यूरोप में नौसेना कर्मियों के कपड़े रंगे जाते थे। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में नील से बने रंग की मांग में उतार-चढ़ाव का हमारे यहां नील की खेती करने वालों पर असर पड़ने लगा। अफीम की खेती भी शुरू हुई मगर चीन में उसको लेकर विरोध उभरने तथा वहां आयात बंद करने पर भारत में अफीम की खेती कुछ दिनों के बाद बंद हो गई।

नील की खेती का अवसान तब शुरू हुआ जब उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों के दौरान जर्मनी ने अंतर्राष्ट्रीय बाजार में संश्लिष्ट नीला रंग रख दिया जो सस्ता और गुणात्मक दृष्टि से बेहतर था। निलहों ने अपने कारोबार को बरकरार रखने के कई प्रयास किए जिनमें वे विफल रहे। इसके बाद उन्होंने अपने घाटे की भरपाई के लिए 'तबान' (हरजाना) और 'सरहबेशी' (लगान में वृद्धि) के तरीके अपनाए जिनके खिलाफ रैयत उठ खड़े हुए और उनके विरोध का नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। यह आंदोलन चंपारण सत्याग्रह के नाम से १९१७ में चला (१८वीं-२०वीं शताब्दी के दौरान स्थायी बंदोबस्त वाले इलाकों में ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तनों तथा किसान आंदोलन का विस्तृत वर्णन मेरी पुस्तक एग्रेरियन प्राब्लेम्स ऑफ परमानेंट सेटलमेंट- ए केस स्टडी ऑफ चंपारण, नई दिल्ली, १९७८ में उपलब्ध है।)

कहना न होगा कि बाजार के चरित्र में परिवर्तन हुआ और वह समाज में सन्निहित न रहकर उस पर हावी हो गया। इसका विश्लेषण कार्ल पोलायसी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द ग्रेट ट्रांसफॉर्मेशन (१९४४) में किया है। इस कारण भारत का परंपरागत ग्राम-समुदाय कालक्रम से समाप्त हो गया और हमारा चिर परिचित 'किसान' लुप्त होने लगा और उसकी जगह 'खेतिहर' लेने लगा। यह प्रक्रिया, आजादी के बाद, विशेषकर नवउदारवादी आर्थिक चिंतन से अनुप्राणित आर्थिक सुधार कार्यक्रमों के लागू किए जाने के परिणामस्वरूप तेज हुई है।

अर्थशास्त्र में दो शब्द हैं- 'किसान' (पेजेंट) और 'खेतिहर' (फॉर्मर)। यद्यपि आम बोलचाल में उनमें फर्क नहीं किया जाता फिर भी वे एक दूसरे के उसी तरह पर्यायवाची नहीं हैं जैसे 'मूल्य' और 'कीमत'। किसी भी गंभीर और वैज्ञानिक विमर्श में इनमें अंतर करना बेहद जरूरी है। किसान मानव सभ्यता के साथ तब से जुड़ा है जब कृषि कार्य प्रारंभ हुआ जबकि खेतिहर का आगमन पूंजीवादी उत्पादन अर्थात् बाजार में उत्पाद बेचकर मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति के हावी होने के साथ हुआ।

जहां तक भारत का सवाल है, कृषक शब्द अतीत काल से प्रचलन में है। 'अमरकोश' के द्वितीय कांड के नौवें वर्ग में उससे जुड़े कार्य-व्यापार का विस्तृत वर्णन है। 'किसान' शब्द फारसी और संस्कृत के मिलन का परिणाम है। अंग्रेजी का 'पेजेंट' अपने समतुल्य फ्रेंच और लैटिन शब्द से निकला है।

अर्थशास्त्र में किसान उसे कहते हैं जिसका अपनी जोत पर अधिकार होता है और वह अपने परिवार के सदस्यों तथा अन्य हित-मित्रों के श्रम के आधार पर कृषि कार्य संपन्न करता है। उसके उत्पादन का मुख्य उद्देश्य अपने परिवार की अपभोग-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही मवेशियों के लिए चारा जुटाना और अगली बुआई के वास्ते बीज का प्रबंध करना होता है। चूंकि वह अपनी जरूरत की सभी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन स्वयं नहीं कर सकता इसलिए वह पैदावार का एक हिस्सा बेचकर पैसा जुटाता और ऐसी इच्छित वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करता है जिनका उत्पादन स्थानीय तौर पर नहीं होता। यहां मुद्रा और बाजार की भूमिका विनिमय को आसान बनाने तक ही सीमित होती है। किसान आम तौर पर ऐसी किसी वस्तु का उत्पादन नहीं

करता जिसका उत्पादन वह न कर सिर्फ बाजार में बेचे। धोबी, नाई, बढ़ई, लुहार, कुम्हार, पंडित-पुरोहित, धुनिया, जुलाहा, मोची आदि द्वारा उत्पन्न सेवाओं और वस्तुओं को प्राप्त करने का आधार जजमानी व्यवस्था या पारस्परिकता होती है।

आधुनिक पूंजीवाद के आगमन के पूर्व किसान की गतिविधियां गांव और अड़ोस-पड़ोस के इलाके तक ही सीमित रहती थीं, इसलिए उसे बाहरी दुनिया के बारे में बहुत कम जानकारी होती थी। स्थानीय मेलों और बाजार के सिवा वह कभी-कभार तीर्थयात्रा पर जाता था जिससे बाहरी दुनिया के विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी मिल जाती थी। एक छोटे से दायरे में रहने के कारण उसकी जीवन-दृष्टि और मूल्य संकुचित रहते थे। कृषि कार्य मूलतः प्रकृति के अधीन थे। वर्षा होगी या नहीं, होगी तो भरपूर या कम, बुआई और फसल पकने के समय वर्षा पर्याप्त मात्रा में होगी अथवा नहीं- ये सब प्रश्न उसकी चिंता के कारण होते थे। प्रकृति से जुड़ी इन अनिश्चितताओं के कारण वह अंधविश्वासों, ज्योतिष, धर्म, पूजापाठ आदि में लिप्त रहता था। उस समय न मौसम-वैज्ञानिकों और न ही कृषि-वैज्ञानिकों का पथप्रदर्शन उपलब्ध था। इसीलिए कौन सा कृषिकार्य कब किया जाय इसके पंचांग रखने वाले पंडितों और घाघ-भड्डरी की उक्तियों से मार्गदर्शन लिया जाता था। प्रायः सब पर्व-त्यौहार कृषि कार्यक्रम से जुड़े होते थे। देवी-देवताओं का भी उनसे जुड़ाव था। वर्षा के लिए इंद्र की पूजा-अर्चना और ब्रह्मभोज का सहारा लिया जाता था। चूंकि औसत आयु कम थी और मृत्युदर ऊंची होने के कारण जनसंख्या बड़ी धीमी गति से बढ़ती थी इसलिए प्रजनन से जुड़े देवताओं की आराधना विशेष रूप से की जाती थी। यह अनायास न था कि शिवलिंग की पूजा काफी व्यापक थी। हर किसान अपनी लड़ाई स्वयं लड़ता था।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद स्थिति में भारी गुणात्मक परिवर्तन हुए। नई भूराजस्व व्यवस्थाएं आईं, नकदी लगान ने भावली लगान की जगह ले ली। पारस्परिकता या जजमानी व्यवस्था तेजी से धराशायी होने लगी। नकदी की आवश्यकता बढ़ी। अब बाजार के लिए उत्पादन होने लगा जिससे भरपूर नकदी मिल सके। ऐसी फसलें उगाई जाने लगीं जिनका उपभोग किसान स्वयं नाममात्र ही कर सकता था। इनमें जूट, कपास, गन्ना, पॉपी (या अफीम), नील आदि प्रमुख थे। जैसा कि हम कह चुके हैं, अफीम और नील की खेती अंतर्राष्ट्रीय बाजार में मांग समाप्त होने के कारण खत्म हो गई।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में अमेरिका में पहले कपास की फसल खराब हुई और फिर वहां गृहयुद्ध चला। फलस्वरूप इंग्लैंड की सूती कपड़ा मिलों को कपास की आपूर्ति कम हुई जिससे उसकी कीमत में उछाल आया। इससे भारत में कपास की खेती का विस्तार हुआ। उत्पादकों ने बीज, खाद आदि के लिए महाजनों से कर्ज लिए। इस उम्मीद में कि भविष्य में भी कपास की मांग बढ़ेगी और कीमत में उछाल जारी रहेगा, उन्होंने ऋण लेकर अच्छे मकान बनाए और अन्य उपभोग व्यय बढ़ाए। अमेरिकी गृहयुद्ध समाप्त होते ही भारतीय कपास की मांग और कीमत तेजी से गिरी। कर्ज न अदा करने के कारण महाजनों द्वारा कुर्की-जब्ती की कार्रवाई शुरू हुई। परिणामस्वरूप दंगे हुए जिन्हें हम दक्कन के दंगों के नाम से जानते हैं।

इसी प्रकार १९२९ में शुरू हुई महामंदी के परिणामस्वरूप भारत में भी कृषि-उत्पादों की कीमतों और मांग में गिरावट होने से नकदी का अभाव हो गया और लगान न देने के कारण किसानों की जोतों की नीलामी शुरू हो गई। इसके विरुद्ध किसानों ने आंदोलन शुरू किए। बिहार के बकास्त आंदोलन और उत्तर प्रदेश के अवध में हुए आंदोलन काफी गंभीर थे।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों से एक नई प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। सेठ-साहूकारों, वकीलों, डाक्टरों, अफसरों तथा अन्य नौकरीपेशा लोगों ने कृषि भूमि खरीद कर भाड़े के मजदूरों के आधार पर बाजार के लिए उत्पादन करना आरंभ कर दिया। जमीन में निवेश सुरक्षित ही नहीं था बल्कि मांग बढ़ने के साथ उसका मूल्य भी बढ़ता जा रहा था। इतना ही नहीं, भूमि के ऊपर अधिकार से प्रतिष्ठा भी बढ़ती थी।

आजादी के बाद भूमि सुधार कानूनों में छोड़े गए चोर-दरवाजों का इस्तेमाल कर अनेक पूर्व जमींदारों, ताल्लुकेदारों और जागीरदारों ने अपने को बड़े खेतिहरों में बदल दिया। छोटे, विशेषकर सीमांत किसानों ने खेती से गुजारा न होने की स्थिति में शहर का रुख किया और उनकी जमीन ले दूसरे खेतिहर बन गए। इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप किसान तेजी से लुप्त होने लगे और उनकी जगह खेतिहर आने लगे। खेती अब न प्रतिष्ठा का विषय रही, न आत्म-निर्भरता का आधार और न ही रोजगार और आय का भरोसेमंद स्रोत। आज सकल राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि का हिस्सा आजादी के समय की तुलना में आधे से भी कम है।

हरित क्रांति ने हरियाणा, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में किसानों को अपदस्थ कर खेतिहरों को बिठा दिया। पिछले कुछ वर्षों से 'कांट्रेक्ट फॉर्मिंग' या ठेके पर खेती का धंधा शुरू हुआ है जिसके तहत बड़ी कंपनियां कृषि क्षेत्र में आ गईं हैं जो उत्पादन कर अपना प्रोसेसिंग का कारोबार कर अधिकांशतया डिब्बाबंद उत्पाद बाजार में लाते हैं। उत्तरप्रदेश और बिहार के गन्ना उत्पादक और विदर्भ के कपास उगाने वाले किसान नहीं, खेतिहर हैं। इसी प्रकार साग-सब्जी, फल, तंबाकू उत्पादन कर निर्यात करने वाले खेतिहर हैं, किसान नहीं। अतः उनकी काल दृष्टि और जीवन मूल्य परंपरागत किसानों से भिन्न हैं।

प्रख्यात इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम ने अपनी पुस्तक 'ग्लोबलाइजेशन, डेमोक्रेसी एंड टेररिज्म' में किसान के लुप्त होने और उसकी जगह खेतिहर के आने की परिघटना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि इंडोनेशिया में किसानों का अनुपात ६७ प्रतिशत से ४४, पाकिस्तान में ५० प्रतिशत से कम, तुर्की में ७५ प्रतिशत से घटकर ३३, फिलीपींस में ५३ प्रतिशत से घटकर ३७, थाईलैंड में ८२ प्रतिशत से ४६ और मलेशिया में ५१ प्रतिशत से १८ प्रतिशत रह गया है। चीन की कुल आबादी में किसान १९५० में ८६ प्रतिशत थे, जो २००६ में ५० प्रतिशत हो गए। बांग्लादेश, म्यांमार आदि में ६० प्रतिशत जनसंख्या किसान है। भारत में यह संख्या काफी घट गई है जो कभी ८० प्रतिशत से अधिक थी।

अगर आप ध्यान से देखें तो गांवों का परिदृश्य काफी कुछ बदल गया है। गांवों से बैल, हल और बैलगाड़ी का अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है। अधिक जमीन वाले ट्रैक्टर, ट्रेलर और थ्रेसर रखते हैं और कम जमीन वाले उन्हें भाड़े पर लेकर अपना काम चलाते हैं। जिनके पास गाय-भैंस हैं, वे उनका दूध बड़ी कंपनियों को बेचते हैं यानी दूध और दूध उत्पाद का इस्तेमाल स्वयं या स्थानीय लोगों के लिए नहीं होता। उनका उत्पादन मुनाफा कमाने के लिए बाजार से मिले संकेतों के आधार पर होता है। यही बात मछली और गोश्त उत्पादन पर लागू है। गांवों और कस्बों में कोल्ड स्टोरेज खुल गए हैं जहां प्याज, आलू तथा अन्य चीजों को रखा जाता है फिर बाजार में उनकी आपूर्ति कीमतों को ध्यान में रखकर की जाती है। प्याज की कीमतों में हाल में आई वृद्धि के पीछे निर्यात मुख्य कारण था। गांवों से बड़ी संख्या में लोगों के शहरों में रोजगाररत होने और समय-समय पर गांव लौटने से वहां व्याप्त जीवन-मूल्यों और दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। उपभोग का स्वरूप और

ढांचा बदला है। सूचना के क्षेत्र में हुए क्रांतिकारी परिवर्तनों ने गांवों का शेष दुनिया से अलगाव समाप्त कर दिया है।

'वालस्ट्रीट जर्नल' (१० जून २००६) में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार बहुराष्ट्रीय निगमों ने अपने माल बेचने के लिए दूरदराज के ऐसे गांवों में घुसना शुरू किया है जहां सड़क खस्ता हाल है, बिजली नदारद है और टेलीविजन एवं इंटरनेट की सुविधा का सवाल ही नहीं उठता। अखबार देर-सबेर आ जाता है। इस स्थिति को देखते हुए उन्होंने पुराने तरीकों का सहारा लिया है। गायक और कथावाचक युवकों को काम पर लगाया है जो गायन-वादन और किस्से-कहानियों के सहारे भीड़ जमा करते हैं और आधुनिक उपभोक्ता उत्पादों के बारे में बतलाते हैं, उनके गुणों का बखान करते और ग्रामवासियों को उनके फायदे बतला उन्हें खरीदने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। गांवों के स्कूलों में जा वे छात्रों को नेस्ले के नूडल खिलाते हैं। यूनिलीवर के साबुन और क्रीम के साथ ही दंतमंजन और कंडोम का प्रचार करते और उनके नमूने मुफ्त बांटते हैं। 'वालस्ट्रीट जर्नल' के एरिक बेल्लमैन के शब्दों में ''भयंकरतम भूमंडलीय मंदी से अछूते भारत के ग्रामीण उपभोक्ता अभूतपूर्व रूप से खर्च कर रहे हैं। अन्यत्र सिकुड़ते हुए बाजार के कारण होने वाली क्षति से बचने के उपाय ढूंढ़ने की उत्सुक अंतर्राष्ट्रीय कंपनिया... विक्रेताओं की पूरी फौज भेज रही हैं।''

हमारे गांव तेजी से बदल रहे हैं। यह बदलाव कितना अच्छा है और कितना बुरा, यह तो आने वाला समय ही बतलाएगा। साफ है कि प्रेमचंद का किसान और गांव अब इतिहास की बात बनते जा रहे हैं। हमारे गांव जिन्हें युगों से सरलता, निश्छलता, स्वावलंबन आदि का प्रतीक बताकर उनकी ओर लौटने की बात की जाती रही है अब बदल चुके हैं। भारतमाता अब ग्रामवासिनी नहीं हो सकती। हमारे गांव तेजी से भूमंडलीकरण के प्रभाव में मात्र एक बाजार बनने लगे हैं। उनके जिन गुणों का गान होता रहा है वे जल्द ही अतीत की गुफा में विलीन हो जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

लंदन से वर्ष १८४३ से निरंतर प्रकाशित होने वाले सुप्रतिष्ठित साप्ताहिक 'दी इकोनॉमिस्ट' ने २०१० में प्रकाशित वर्षांत के दोहरे अंक (दिसंबर १८-३१) में इलाहाबाद जिले के एक गांव शाहबपुर के ऊपर जो लंबा लेख छापा है उसमें बतलाया गया है कि आधुनिकता कैसे उस पर हावी होकर बदल रही है।

अतः आवश्यकता है कि इस परिघटना को समझा-बूझा जाय तथा साहित्य में उसका प्रतिबिंबन हो।

इतिहास और ऐतिहासिकता : सन्दर्भ १८५७

हितेन्द्र पटेल

पिछले कुछ सालों में यह बहस चलती रही है कि इतिहास और कल्पना का क्या सम्पर्क है। साथ ही अकादमिक इतिहास, इतिहाश्रित साहित्य, लोकप्रिय इतिहास और लोक स्मृति में सतत परिवर्तनशील ऐतिहासिक स्मृति इत्यादि विषयों पर विगत तीस वर्षों में लगातार गंभीर बहस हो रहे हैं। जो लोग इतिहास को एक आख्यान (नरेटिव) मानते हैं उन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं होता है कि इतिहास भी एक तरह का साहित्य ही है जिसकी रचना होती है, और हर रचना की तरह इसको रचने वाला इसे अपने तरीके से, अपने समय के हिसाब से ही रचता है। जो लोग इस दृष्टि से देखते हैं उनके लिये इतिहास कोई ऐसी सच्ची चीज़ नहीं है जिसे सच्चा इतिहासकार खोज कर पेश करता है बल्कि यह एक वृत्तांत है जिसे इतिहासकार उसी तरह तैयार करता है जैसे एक कवि कविता लिखता है। १८५७ के बदलते जाने के सिलसिले को अगर हम ध्यान से देखें तो यह बात कुछ सही प्रतीत होती है। आज १८५७ एक हाईपर टेक्स्ट में बदल चुका है जिसमें हर क्षेत्र की, हर जाति की अपनी अपनी दृष्टि है और आज यह मानने को कोई भी तैयार नहीं है कि १८५७ के विद्रोह को उस क्षेत्र ने या उस जाति ने समर्थन नहीं दिया था। और तो और बंगाल के योगदान को रेखांकित करने के लिये जितना कुछ पिछले एक साल में लिखा गया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि १८५७ के विद्रोह के दौरान बंगाल में भी विद्रोह को पर्याप्त समर्थन था!

१८५७ के इतिहास को कई स्तरों पर समझने की जरूरत है। इसके कई पाठ हैं और कई बार पाठों के बीच खूब घालमेल भी है। इस घालमेल के कारण यह कभी भी कहना सरल नहीं होगा कि १८५७ का चरित्र वास्तव में कैसा था। अमृतलाल नागर के इस मूल्यांकन से ही बात शुरू की जाए। वे कहते हैं- ''हमारे देश का इतिहास विदेश के विद्वानों ने रचा है। देशी आलिम फाजिलों ने भी ज्यादातर उन्हीं की नकल करते हुए पोथियां लिखी हैं। गदर के इतिहास का भी वही हाल है।''[१] वे गोडशे के हवाले से कहते हैं कि ''यह जाहिर है कि आम जनता अंग्रेजों से भय और घृणा करती थी।

भारतीय जनता दिल से चाहती थी कि अंग्रेज इस देश से निकाल दिये जायें.... सैनिक क्रांति को यदि जन क्रांति का रूप मिला होता तो आज इस देश का इतिहास कुछ और ही बना होता।''[२] लेकिन वे यह भी मानते हैं कि इसमें ''बड़े लोगों की लड़ाई में आम जनता सिर्फ मजबूरी में ही शरीक थी.... मेरा मन उन लोगों से मेल नहीं खाता जो सत्तावन के गदर को भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध कह कर उस पुराने किस्म की राजसी लड़ाई को आज के जन स्वातंत्र्य की चेतना पर लादना चाहते हैं।''[३] निश्चित ही करवट के लेखक और रामविलास शर्मा के अनन्य मित्र और देशी भावजगत में पगे-बढे लखनऊ के नागर जी १८५७ के इतिहास से भी वाकिफ थे और उसकी सीमाओं से भी। फिर भी ये परस्पर विरोधी से दीखने वाले भावों की एक साथ उपस्थिति क्यों?इस बिन्दु से ही हिन्दी साहित्य में १८५७ के सम्बन्ध में उपस्थित दुचित्तेपन (ambivalence) के इतिहास पर बातचीत की शुरूआत हो सकती है। दरअसल, नागर जी ने जो बात स्पष्ट रूप से करवट (१९८५) में कह दी है वही शायद हिन्दी नवजागरण के पुरोधाओं के १८५७ के बाद के भारतीय समाज के इतिहास के संबंध में दृष्टि का सार माना जा सकता है। नागरजी ने लिखा है: ''गदर के बाद अंग्रेजी शासन और शिक्षा के प्रभाव से हमारे समाज में नई मानसिकता का उदय हुआ था। संघर्ष की प्रक्रियाओं में पुरानी जातीय पंचायतों को नए जातीय 'असोसिएशनों' ने करारे धक्के ही नहीं दिए वरन कालांतर में उन्हें ध्वस्त ही कर डाला। इन जातीय संघर्षों से ही नई राष्ट्रीयता ने जन्म पाया था।''[४]

इस बात को लेकर बहुत बहस हो चुकी है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में १८५७ के विद्रोह का उल्लेख १९२० के पहले बहुत ही कम है। लगभग सभी जगहों पर १८५७ के इन 'गद्दारों'[५] (इसी नाम से विद्रोहियों को संबोधित किया जाता था) के उद्देश्य के प्रति अनादर का भाव ही रहा है। वीर नारियों, जैसे लक्ष्मीबाई और वीरों, जैसे कुंवर सिंह, नाना साहब या तात्या टोपे के प्रति जो सम्मान का भाव साहित्य में जरूर आया है, लेकिन वह उनकी वीरता का सम्मान करने के लिये था न कि १८५७ के विद्रोहियों के उद्देश्य से सहानुभूति प्रदर्शन के लिये। शिष्ट (क्लासिकल) हिन्दी साहित्य के जितने भी उदाहरण अब तक आये हैं वे इसी तरह के हैं। लेकिन यह भी नहीं है कि ये विद्रोही हिन्दी लेखकों के लिये घृणित लोग ही थे। हिन्दी लेखकों के मन में १८५७ के प्रति भाव में एक किस्म की असहजता है।[६] ऐसा क्यों था यह अलग से विचार का प्रश्न है। यहां यह देखने का प्रयास किया गया है कि १८५७ के इतिहास और इसकी एतिहासिकता के बीच जो सतत संवाद चल रहा है उसकी ओर ध्यान दिया जाये।

१८५७ की बदलती जीवनियां

१८५७ के ऐतिहासिक यात्रा के चार खण्ड हैं, चार जीवन हैं: १८५७ से बीसवीं शताब्दी का दूसरा दशक, वहां से १९५७, १९५७ से १९९० के दशक तक, और तब से अब तक। इन चारों इतिहास खण्डों में जो प्रश्न उस समय राजनैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थे उसके आधार पर १८५७ के इतिहास को देखा गया।[७] यही वह बिन्दु है जहां से इतिहास और ऐतिहासिकता के बीच के अंतर्संपर्क को १८५७ के सन्दर्भ में देखना उचित होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि १८५७ के दौरान जो कुछ घटित हुआ था वह लोग भूल नहीं सकते थे। एक मोटे अनुमान के अनुसार बंगाल आर्मी के एक लाख सिपाहियों ने विद्रोह किया था और उन सबको मार दिया गया। एक इतिहासकार ने अनुमान किया है कि दस-ग्यारह लाख आम आदमी मारे गये। इतने लोगों की मृत्यु ने अधिकतर

वैष्णव शाकाहारी बनिया- ब्राह्मण हिन्दी लेखकों के मन को न छुआ होगा यह संभव नहीं लगता। लेकिन यह भी संभव नहीं है कि सिर्फ भय से नवजागरण युगीन हिन्दी लेखकगण चुप्पी साधे रहे हों। भारतेन्दु युगीन महान हिन्दी लेखकों ने समय समय पर महान नैतिक साहस का परिचय दिया है। खुद भारतेन्दु बहुत जीवट वाले लेखक थे। जिन शब्दों में इन लेखकों ने देश की दुर्दशा और धर्म और भाषा पर किसी तरह के आक्रमण का विरोध किया है वह उल्लेखनीय है। लेकिन इस नवजागरण का १८५७ से जोड़ बनना संभव नहीं है। रामविलास शर्मा जैसे विद्वानों की ट्रेजिडी यही है कि वे परम्परा और आधुनिकता के जिस सम्मिलित पाठ के आधार पर भारतीय नवजागरण को समझने की कोशिश करते हैं उसमें राष्ट्रवाद का एक पूंजीवादी पाठ ही तैयार हो सकता है। वे एम.एन.राय, आर.पी.दत्त, पी.सी.जोशी, ऐजाज अहमद आदि से अलग पाठ बनाते हैं लेकिन वह पाठ भयानक अंतर्विरोधों को जन्म देता है। कुल मिलाकर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार करने वाले १९२२ के मानवेन्द्र नाथ राय से लेकर २००७ में एजाज अहमद तक १८५७ के बारे में जो राय रखते हैं उसकी बुनियादी समस्या पर विचार किए बिना १८५७ के चरित्र को लेकर कोई बहस संभव नहीं। मानवेन्द्र राय की राय को देखें- ''दरअसल, यह विद्रोह अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध नहीं, बल्कि उस सरकार द्वारा लाए गये प्रगतिशील सामाजिक, राजनैतिक विचारों के विरूद्ध था।''[८] एजाज अहमद की स्पष्ट राय है कि १८५७ का विद्रोह राष्ट्रीय नहीं था। वे कहते हैं- ''राष्ट्र तो केन्द्रीय राजसत्ता बनाती है या फिर पूंजीवाद बनाता है।''[९] वे मानते हैं कि ऐसा नहीं था। यहां तक तो वे वही कह रहे हैं जो रजनी पाम दत्त जैसे लोग पहले कहते थे[१०], लेकिन इसके बाद वे थोडा और आगे बढकर कहते हैं- ''इस आधार पर १८५७ का कोई मूल्यांकन सही नहीं हो सकता कि अगर किसी ने अंग्रेजों के साथ तिजारत की तो वह राष्ट्रद्रोही हो गया और जिसने नहीं किया वह देशभक्त हो गया... पूंजीवाद... एक साथ अच्छाई भी है और बुराई भी है।।।''[११] अपने इस साक्षात्कार में एजाज साहब ने इस बात का उल्लेख किया है कि ''(बंगाल में) इतना अपराध-बोध है १८५७ को लेकर... कि अंग्रेजों का साथ दिया।'' वे इस बात का उल्लेख इस रूप में कर रहे हैं मानो यह बोध बेमानी हो। बुनियादी रूप से एजाज अहमद सही मार्क्सवादी व्याख्या कर रहे हैं। औपनिवेशिक संघर्ष, पूंजीवाद और राष्ट्रवाद की जिस समझ के साथ मार्क्सवादी चिंतन १८५७ जैसे ''प्राक-आधुनिक'' आन्दोलन को समझने की कोशिश करता रहा है उसमें विद्रोह को राष्ट्रीय मानना संभव ही नहीं है। आजकल इरफान हबीब के नेतृत्व में १८५७ का जो एक पाठ तैयार हो रहा है वह १८५७ के विद्रोह की परिधि का विस्तार और इसके भीतर समन्वयवादी प्रवृत्ति को दिखलाकर भारत में राष्ट्रवाद की सैद्धांतिकी का विस्तार करने का उपक्रम है जिसकी अपनी समस्याएं और संभावनाएं हैं। रामविलास शर्मा ने १८५७ संबंधी अपने शोध में जो किया है वह १८५७ की एक राष्ट्रवादी व्याख्या है जिसे मार्क्सवादी शब्दावली में रखा गया है। हालांकि इस बात से उनकी बात का महत्त्व कम या अधिक नहीं होता।

१८५७ का इतिहास, दलितवादी विमर्श और 'ऐतिहासिक' का प्रश्न

जो लोग यह मानते हैं कि इतिहास एक आख्यान ही होता है और हर आख्यान की तरह यह भी सजाया हुआ (कांसटिच्यूटेड) होता है उनके लिये १८५७ का बदलता जाता इतिहास परेशान करने वाला नहीं है। यह तो समय सापेक्ष होता ही है। हर समय की मुख्य विचारधारा (आप चाहें तो एपिस्टेमा (episteme) कह लें) उस समय की दृष्टि को प्रभावित करता ही है। वर्तमान युग पूरी

तरह से न सही लेकिन अंशतः दलितवाद का युग है। इस समय हाशिये की श्रेणियां इतिहास में अपना हिस्सा मांगने की कोशिश कर रही है।यह तय मानिये कि जिस तरह का इतिहास राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रभुत्त्वकाल में हमें सच्चा लगता था अब वह अधूरा ही लगना चाहिये। जिस तरह से १८५७ के संदर्भ में नये नायक नायिकाओं के आने का सिलसिला चल रहा है और जिस तरह ये नायक पुराने नायकों को अपदस्थ करने की कोशिश कर रहे हैं उससे १८५७ का इतिहास पूरी तरह से वर्तमान का प्रश्न बनने लगा है। इतिहास की जिस समझ को लेकर हम आज तक चलते आ रहे हैं वह हमारे सामने बनते हुए इस इतिहास के सामने हमें असुविधा की स्थिति में डाल रहा है। ये नायक क्या फर्जी हैं और क्या इन्हें दलित उभार के युग में बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जा रहा है? इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहासकार के लिये जरूरी नहीं है। इसका उत्तर तो आने वाला समय ही देगा लेकिन इतिहासकार को कुछ प्रश्न अपने से अपने विषय से जरूर पूछना चाहिये।

पहला प्रश्न है- इतिहास क्या सिर्फ वही है जो आधुनिक शिक्षित लोग विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित होकर तैयार करते हैं या यह एक अनवरत सिलसिला है जिसमें समाज का हर व्यक्ति जाने अनजाने हर समय शामिल रहता है। पहले यह माना जाता था कि संस्कृति के निर्माता महान लोग होते हैं जो संस्कृति के आदर्शों को समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिसका बाकी लोग सिर्फ अनुगमन करते हैं। अब लोग मानने लगे हैं कि इसका निर्माण एक सामुदायिक प्रयास से होता है और इसका कोई पाठ नहीं होता, यह एक प्रक्रिया है। क्या इतिहास को भी इसी तरह से देखा जा सकता है? क्या इतिहास वही है जो प्रशिक्षित इतिहासकार बनाते हैं और जिसे राज्य के संस्थान सही मानकर स्कूल कालेज या यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हैं? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह हो सकता है कि 'इतिहास माइथालाजी नहीं है' और न ही यह कोई गल्प है जिसका ताना बाना कल्पना के सहारे बुना जा सकता हो। लेकिन यह उत्तर देना अब यथेष्ट नहीं।

१८५७ और भारतीय सिनेमा इतिहास लेखन के संदर्भ में विचार करते हुए ललित जोशी ने लिखा है कि ''पेशेवर इतिहासकार इतिहास को आम आदमी तक पहुंचाने में नाकाम रहा है।''[१२] यह नाकामी इस लिये भी मिली क्योंकि इतिहास आम आदमी की सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने में सफल नहीं हो सका है। लोग जब अपना चित्र समाज के इतिहास में देखना चाहते हैं और उसमें कहीं भी अपने समुदाय को नहीं देख पाते तो वे अपना इतिहास अपने और अपनों के भीतर समेटने-फैलाने लगते हैं। इस क्रम में एक ही समय में बहुत सारे इतिहास समानांतर रूप में चलने लगते हैं। कुछ इतिहास लोक के दायरे में छूट जाते हैं, जहां समय समय पर ये घटते बढते, बदलते हुए सामुदायिक स्मृति में चलते रहते हैं। कुछ शायद मिट भी जाते हैं। समाज विज्ञानी इन स्मृतियों के साथ कैसा व्यवहार करें इस सम्बन्ध में एक राय कभी नहीं रही। कुछ लोगों का अब भी मानना है कि इतिहास इन स्मृतियों को सामुदायिक कल्पना के इतिहास के रूप में दर्ज तो कर सकता है, लेकिन इसे इतिहास के प्राथमिक स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं कर सकता। लेकिन रोचक पक्ष यह है कि जिस ऐतिहासिक बोध ने आम लोगों को ज्यादा प्रभावित किया है उसमें इस सामुदायिक कल्पना का प्रभावी प्रयोग है। एक बीच का रास्ता हिन्दी और उसके पहले मराठी और बंग्ला के उपन्यासकारों ने निकाला था जहां इतिहाश्रित कल्पना का प्रयोग किया जाता था। इस इतिहास को अकादमिक इतिहासकार जो भी मानें आम शिक्षित आदमी भी इसे ही इतिहास मान कर चलता है।

१८५७ के सन्दर्भ में ये प्रश्न इस लिये भी उठाये जा रहे हैं क्योंकि हाल के वर्षों में इतिहास प्रशिक्षित लोगों ने नये नायकों को इतिहास पटल पर लाना शुरू किया। जो नये नायक नायिकाएं

उभरे वे ऐतिहासिक थे पर इतिहास के कितने थे यह विवाद का विषय बना हुआ है। जरा कुछ नामों पर गौर किया जाये- रणजीत राम, उदा देवी, मातादीन भंगी, पूरन कोरी, झलकारी बाई, चेतराम जाटव, बल्लू मेहतर, बाँके चमार, वीरा पासी, अवंती बाई, जुल्फिकार, मैकू मल्लाह, धरमन बी, अजीजन बाई, इब्राहिम खान, लखिया, रज्जब अली, मियां खान, गौस खान आदि वे नाम हैं जिनका उल्लेख महान नायकों-नायिकाओं- लक्ष्मीबाई, नाना साहब या कुँअर सिंह के साथ करने में बहुत सारे लोगों को असुविधा होगी। ये सारे नाम ऐतिहासिक हैं और इन लोगों का उल्लेख स्रोतों में भी मिलता है लेकिन जिस दृष्टि से १८५७ के विद्रोह को देखा जाता रहा है उसमें इनका उल्लेख क्रांति के कोरस में असंख्य आवाजों की तरह तो आ सकता था लेकिन नायक के रूप में नहीं। आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का सबसे संभावनाशील इलाका शायद यही है जिसमें इन हाशिये के पात्रों को मुख्य धारा में लाने की चेष्टा होती है। बद्रीनारायण ने इसे लक्षित किया है कि दलित उभार के इस युग में इन दलित नायक-नायिकाओं ने सवर्ण और स्वीकृत नायक नायिकाओं को अपदस्थ करना शुरू किया।[१३] इसके साथ ही अनेक ऐसे प्रयास हुए हैं जिनमें जातीय नायक नायिकाओं को केन्द्र में रखकर १८५७ के इतिहास को लिखने का कार्य हो रहे हैं। हाल ही में गुर्जर आन्दोलन के बाद गुर्जर नायक नायिकाओं को लेकर गुर्जर भारती नामक पत्रिका के दो अंकों में कुछ अन्य नायक नायिकाओं का जिक्र किया गया है।

इस तरह के इतिहासों के आ जाने से ऐतिहासिकता के दायरे के फैलाव पर चिंतित होने वाले लोगों की संख्या भी कम नहीं है। बहुत सारे लोगों को यह लगता है कि इस तरह अगर इतिहास को 'अप्रोप्रिएट' किया जाने दिया गया तो इतिहास 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की तर्ज पर यह मानना होगा कि जिसकी क्षमता उसी का इतिहास! आज दलित शक्तिशाली हुए जा रहे हैं तो इतिहास उनकी तरह का लिखा जा रहा है, कल कोई अन्य शक्तिशाली हुए तो इतिहास उनकी तरह से लिखा जायेगा। १८५७ के लिये यह एक चुनौती है। कोई भी समुदाय या क्षेत्र १८५७ को अप्रोप्रिएट करने से नहीं चूकना चाहता।

क्या विकल्प हो सकता है?

इस विकल्प पर बात करने के पहले एक दो उदाहरणों पर गौर करना उचित होगा। अशोक कुमार अंशुमन ने १८५७ के विद्रोह के पहले मुजफ्फरपुर जेल के एक विद्रोह- लोटा विद्रोह का वर्णन किया है। १८५६ में प्रशासन ने कैदियों को पीतल के लोटे की जगह मिट्टी के बर्तन उपयोग का आदेश दिया गया था क्योंकि आशंका थी कि लोटे का उपयोग कैदी हथियार के रूप में कर सकते थे जैसे कि ''अंग्रेज मजिस्ट्रेट का सर फोडना या अंग्रेज जेलर का थोबड़ा बिगाड़ना''। इस आदेश के बाद आरा जेल में कैदियों का विद्रोह हुआ जिसे दबाने के लिये गोलियां चलानी पडी। बाद में सरकार को यह आदेश वापस लेना पड़ा।[१४] इसे छोटी घटना के रूप में देखकर आगे बढ़ जाया जा सकता है, लेकिन यह युक्ति संगत नहीं होगा अगर इस बात को ध्यान में रखा जाए कि यह लोटा आन्दोलन चौका, जाति और जेल से भी जुड़ा हुआ है। इस आन्दोलन का वर्णन करते हुए इतिहासकार ने लिखा है- ''१८५५ में एक आन्दोलन, लोटा आन्दोलन शुरू हो गया था। यह आन्दोलन आरा, तिरहुत, पटना से होता हुआ बनारस की जेलों तक पहुंच गया था।।। प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर यही बात थी कि यदि (कुंवर सिंह) मिट्टी के बरतन से पानी पी लेंगे तो किसी राजपूत को एतराज नहीं होगा।''

दरअसल, एक चौका आने से ऊंची जाति के कैदी लोगों को लगा कि उनका धर्म भ्रष्ट होगा और वे इसके खिलाफ हो गये। अगर २००७ में १८५७ के इतिहास पर लिखने वाले इतिहासकार की यह सूचना सही है कि ''बिहार की जेलों में अब भी एक चौके की प्रथा लागू नहीं है। पटना में सिपाहियों की बैरकों में अब भी सिपाहियों के लिए जाति आधारित चौके की प्रथा जारी है'', तो यकीन मानिये इतिहासकार का एक दायित्त्व यह भी होगा कि वह देखे कि उस समय जेलों में जो छोटी जाति के लोग थे वे उस आन्दोलन को किस रूप में देखते थे। साथ ही सुरेश पज्जिम और बृजबिहारी जैसे 'छोटे' इतिहासकारों द्वारा उपलब्ध उन तथ्यों की तरफ देखने की भी जरूरत होने लगेगी जिसमें इस बात पर बल दिया गया है कि १८५७ दरअसल दलित विद्रोह था और इस विद्रोह में ज्यादातर विद्रोही दलित जाति के ही थे।[१५] कुछ अन्य इतिहासकारों ने भी १८५७ के विद्रोह में दलित भागीदारी को रेखांकित किया है। ताप्ती राय ने दिखलाया है कि बुंदेलखण्ड में विद्रोह उच्च जातियों तक सीमित नहीं था। बागियों में कुरमी, काछी, सेंगर, चमार और बनिया जातियों के बहुतायत लोग शामिल थे।[१६] पटना विद्रोह में दंडित लोगों में घसीटा, छेदी ग्वाला आदि को फांसी देने का उल्लेख है। छोटी जातियों की भागीदारी का एक उदाहरण यह भी है कि जब विद्रोह के बाद बिहिया, भोजपुर, दनवार और पीरो परगना के १३० गाँवों में हथियार जब्ती हुई तो अगर राजपूतों के घरों से ६५६ हथियार निकले तो ग्वालों के घरों से ५६३ हथियार मिले।[१७] इस तरह की बहुत सारी कहानियां और तथ्यों का संयोजन तब हुआ है जब दलितवाद का दौर शुरू हुआ है। ये सारे तथ्य पहले भी थे लेकिन उनपर इतिहासकारों का ध्यान क्यों नहीं गया। इस प्रश्न का उत्तर देना इतिहास लेखन की समस्याओं को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

इतिहास में जिसे कम महत्त्वपूर्ण समझ कर छोड़ दिया जाता है वह कभी बाद में वैकल्पिक आख्यान का रूप भी ले सकता है। १८५७ के अध्ययन के दायरे में ऐसे बहुत सारे प्रश्न आ सकते हैं जिनके उत्तर १८५७ के विद्रोह के परिणाम को ध्यान में रखकर नहीं ढूढ़े जा सकते। उदाहरणार्थ १८५७ के पहले लोगों के बीच अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष का इतिहास। १६५८ में कालिकिंकर दत्त ने १८५७ में एक जिम्मेदार अंग्रेज अधिकारी के हवाले से यह कहा था कि पटना विद्रोही शहर के रूप में रहता आया था और चौत सिंह के विद्रोह के साथ बिहार में अंग्रेज विरोधी विद्रोहों का संपर्क था।[१८] दत्त ने साक्ष्यों के आधार पर की है कि एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है कि ''सरकारी नौकरी में अँगरेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को अपेक्षाकृत रूप से अधिक महत्त्व देने के कारण भी ... बहुत सारे लोग असंतुष्ट थे... दूसरी ओर देहातों में ईसाई पादरियों की हरकतों से क्षोभ और उत्तेजना पैदा हुई थी।'' १८५३ में जार्ज कैम्पवेल द्वारा लिखित इंडिया एज इट में बी के हवाले से दत्त ने बिहार में ईसाई पादरियों के प्रचार को व्यापक असंतोष के कारण के रूप में देखने की कोशिश की थी।[१९] मुजफ्फरपुर के रहनेवाले भगीरथ और उनके साथियों- केवल पाठक, रामेश्वर सिंह, अली जान और रामफल (ग्वाला) की कथा तो हमें १८५७ के पहले और बाद के दौर में बिहार में आदि विद्रोहियों की कथा को नया विस्तार देते लगते हैं जिनका हमारे इतिहास में कोई विवरण नहीं मिलता। एक इतिहासकार ने लिखा है कि मुंगेर में गिरफ्तार पाँच सिपाहियों ने किस तरह लगातार लड़ाई लड़ी थी जिनकी कथा भागलपुर के सेशन जज के फैसले में दर्ज तो है लेकिन भागलपुर के महाविद्रोह के नायकों में इन पाँच नायकों की चर्चा कहीं नहीं मिलती। इन्होंने नीमच, दिल्ली, कानपुर, कैमूर, पलामू में अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ाईयां लड़ी थीं।[२०] इन्हें मुंगेर की पहाड़ी गांव से गिरफ्तार किया गया था। ये बागी कुंवर सिंह की सेना के साथ थे, फिर बाद में जगदीशपुर पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने के बाद

ये नेपाल जाना चाहते थे। उस समय तक नाना साहब नेपाल पहुंच चुके थे। मुंगेर के ''कुंवर सिंह के एक जासूस'' मौजी राम की कथा भी बहुत रोचक है।[२१] अली करीम की कथा तो और भी दिलचस्प है।[२२]

ये सब बातें १८५७ के सन्दर्भ में एक दिलचस्प संभावना की सूचना देते हैं। कुछ दिनों पूर्व अचानक प्रख्यात डा. बासुदेव चटर्जी ने पिछले साल लिखा था कि ''बिहार में विद्रोह के इतिहास को लिखने के लिये इतिहासकारों की सख्त जरूरत है''। मुझे लगता है कि इतिहासकारों के साथ साथ उपन्यासकारों की ज़्यादा जरूरत है। इतने दिलचस्प विवरण हमें नेपाल, तिरहुत के विभिन्न इलाकों के हमें मिल रहे हैं उनके आधार पर तो असंख्य इतिहाश्रित उपन्यासों की रचना संभव है। ये उपन्यास किस प्रकार हमारी मदद कर सकते हैं इसको स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण दूंगा। वृन्दावन लाल वर्मा ने कई वर्षों तक लक्ष्मीबाई की कथा कहने के लिये शोध किया और जब उनकी कथा लिखने बैठे तो तय किया कि जो वह कहना चाहते हैं वह इतिहास में नहीं कही जा सकती, उसके लिए उपन्यास लिखने की जरूरत है। यह बात अलग है कि जितना इतिहास वर्मा जी के उपन्यास में है उतना लक्ष्मीबाई के किसी भी इतिहास में नहीं है। इसी तरह बुंदेले हरबोलों के मुख से सुनी कहानी के आधार पर लिखी सुभद्राकुमारी चौहान की कविता में जो लक्ष्मी बाई का इतिहास है वह ही तो सच्चा इतिहास है भले ही अकादमिक इतिहासकार उसे सही न मानें। आप चाह कर भी मनोरंजन प्रसाद की कविता में आये कुंवर सिंह को लोगों की ऐतिहासिक स्मृति से अलग नहीं कर सकते भले ही अकादमिक इतिहासकार कहते रहें कि यह तो सुभद्राकुमारी चौहान पर लिखी कविता के आधार पर यहां के नायक का काव्यात्मक स्तुतिगान है।[२३] इतिहासकार बोलते रहें कि जो भव्य तस्वीर कुंवर सिंह की तमाम जगहों पर छप रही है वह एक अंग्रेज कलाकार की कल्पना मात्र है[२४] पर लोक छवि कुंवर सिंह मर्दाने की ऐसी है कि नाटे कद के कुंवर सिंह की असली छवि की तुलना में यही छवि ज्यादा ऐतिहासिक लगती है। क्या लोग हुक्का गुड़गुड़ाती लक्ष्मीबाई के चित्र को असली लक्ष्मीबाई मानने को तैयार होंगे जो हर हाल में ज्यादा इतिहास-सम्मत है? अगर राष्ट्रवाद के दौर में जब इन छवियों को राष्ट्रीय कल्पना ने आकार दिया और इसे ऐतिहासिक बनाया तो क्या लोगों ने पूछा था कि यह इतिहास का विद्रूपीकरण है? वह राष्ट्रीय दौर था और इस ऐतिहासिक कल्पना को इतिहास मानने में राष्ट्रहित दिखाई देता था इसलिये यह जायज था। अब बात दूसरी और जा रही है और राष्ट्रीय कल्पना की जगह दलित कल्पना ने इतिहास रचना शुरू किया है तो फिर अचानक ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता का इतना आग्रह क्या उचित है? इस प्रश्न के उत्तरों को ढूढ़ने का आग्रह करते हुए यह परचा समाप्त करता हूँ। शायद इस के उत्तरों से इस बात को बल मिले कि १८५७ के इतिहासों की ओर बढने का दौर शुरू होना चाहिये। इतिहास वह है जो बनाया जाता है और ऐतिहासिक एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है। क्या हम इतिहास को उन लोगों के हवाले करने के लिये तैयार हैं जो अपने तरीके से, अपनी सामुदायिक स्मृति के आलोक में अपनी ऐतिहासिकता के बोध का निर्माण करते हैं?

संदर्भ

१. अमृतलाल नागर, प्रस्तावना, आंखों देखा गदर (विष्णुभट्ट गोडशे वरसईकर त मराठी पुस्तक 'माझा प्रवास' का हिन्दी रूपांतर), दिल्लीः राजपाल, २०००, पृ. ६-७

२. वही

३. वही

४. अमृतलाल नागर, 'निवेदनम', करवट, दिल्ली, राजपाल एण्ड संज़, १९८५, पृ. ७

५. पहले बुरा शब्द था। गदर से गद्दार बना है, जो गदर करे सो गद्दार। बाद में इस शब्द का अर्थ बदल गया जब लाला हरदयाल ने गदर पार्टी बनाई और १८५७ के विद्रोहियों को देशभक्त मानकर उनके प्रति सम्मान का प्रदर्शन किया।(देखें-इरफान हबीब से अरुण त्रिपाठी की बातचीत, मीडिया २, अप्रैल-जून २००७, आगरा, पृ. ५५) इसके बाद से गद्दार वे थे जो देश के साथ गद्दारी करते थे, यानि वे लोग जो १८५७ के विद्रोह के समय अंग्रेजों का साथ दे रहे थे वे गद्दार थे।

६. नामवर सिंह समेत बहुत सारे लोगों ने शिष्ट साहित्य में १८५७ की अनुपस्थिति की चर्चा की है। पुरुषोत्तम अग्रवाल का कहना है कि ''(हिन्दी के) आधुनिक इतिहास का कैनन १८५७ की स्मृतियों से कतरा रहा था... कारण चाहे भय हो, चाहे १८५७ का सैद्धांतिक नकार लेकिन हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु युग में १८५७ की गूँजती हुई अनुपस्थिति ऐतिहासिक सच्चाई है''। प्रदीप सक्सेना ने हिन्दी साहित्य में शिष्ट और लोक के बीच की रेखा को गलत मानते हुए की और यह दिखलाने का प्रयास किया कि १८५७ के विद्रोहियों के प्रति हिन्दी साहित्य में सम्मान का भाव था। रामविलास शर्मा, भगवान दास माहौर, कर्मेन्दु शिशिर, रूपा गुप्ता एवं अन्य विद्वानों ने अंग्रेजी दमनकारी व्यवस्था के कारण से इस अनुपस्थिति को समझने का प्रयास किया है। यह बिल्कुल सही है कि १८५७ के प्रति हिन्दी साहित्य में सकारात्मक भाव गदर पार्टी के गठन के पूर्व नहीं दिखलाई पडता। (इस सम्बन्ध में मैंने विस्तार से अन्यत्र चर्चा की है)। लेकिन, अगर ध्यान से हिन्दी लेखकों के व्यक्त भावों का अध्ययन किया जाये तो लगता है कि वे १८५७ के प्रति पूरी तरह से उदासीन शायद नहीं थे। जिन शब्दों में लक्ष्मीबाई की प्रशंसा महावीर प्रसाद द्विवेदी १९०४ के एक लेख में करते हैं उससे तो ऐसा ही प्रतीत होता है।

७. इन चारों 'जीवन' पर अन्यत्र मैंने बहुत विस्तार से लिखा है जिसमें यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि शुरू के पाँच दशकों तक १८५७ को गदर के रूप में देखा गया, अगले चक्र में जब राष्ट्रवादी शक्तियां शक्तिशाली हुईं १८५७ का एक राष्ट्रीय पाठ तैयार हुआ जिसमें गद्दार महान देशभक्त के रूप में चित्रित हुए। आजादी के बाद १८५७ के इतिहास में भारतीय पक्ष को रखने की कोशिश की गई हालांकि इतिहास लेखन की अपनी सीमाओं के कारण जो इतिहास उस समय लिखा गया वह यह भी तय नहीं कर पाया कि यह राष्ट्रीय था या नहीं। यह एक राष्ट्र-राज्य पाठ था जिसमें १८५७ को देश के दो सम्प्रदाय- हिन्दू और मुसलमान के औपनिवेशिक शासन के खिलाफ खड़े होते दिखलाने का आग्रह था। १९९० के बाद समय की एक शक्तिशाली विचारधारा- दलितवाद ने १८५७ को अपने तरीके से देखा और इसका एक दलित पाठ तैयार किया। अब स्थिति यह है कि कोई भी यह मानने को तैयार नहीं कि उनके इलाके के लोगों ने १८५७ का समर्थन नहीं किया था!

८. स्निग्धा सेन द्वारा उद्धृत, द हिस्टोरियोग्राफी आव द इंडियन रिवोल्ट आव १८५७ , कलकत्ता, १९९२, पृ. २०१

९. एजाज अहमद से रेखा अवस्थी की बातचीत, मीडिया, पूर्वोक्त, पृ.५०

१०. रजनी पाम दत्त ने १९४० में इंडिया टुडे लिखी जिसमें १८५७ का जिक्र तक नहीं था। १९४७ में जब इसे फिर से प्रकाशित किया गया तो इसमें लिखा गया कि विद्रोहियों का नेतृत्व कर रहे लोगों का कार्यक्रम प्रतिक्रियावादी था और उसके चलते उसे नाकाम होना ही था। (देखिये- अरुण कुमार त्रिपाठी, ' क्यों और कैसे याद करें १८५७ को', मीडिया, पृ. ३५

११. रेखा अवस्थी से बातचीत, पूर्वोक्त, पृ. ५१, ५३

१२. ललित जोशी, ' १८५७ और भारतीय सिनेमाः इतिहास लेखन का संदर्भ', मीडिया, पृ. ८१

१३. इस क्षेत्र में कई विद्वानों ने कार्य किया है जिनमें बद्रीनारायण, मोहनदास नैमिशराय, चारु गुप्ता, सुरेश पज्जिम, बौद्धाचार्य एस राव सजीवन नाथ और अन्य विद्वानों का उल्लेख किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अन्यत्र की है जहां इन विद्वानों के निष्कर्षों का विवेचन किया गया है। (देखें- हितेन्द्र पटेल, 'रीविजिटिंग द वर्ल्ड आव हिन्दी लिटरेचरः नेशनलिज्म, डिसेंट एण्ड द अल्टरनेटिव 'वर्शंश' ऑव द रिवोल्ट ऑव १८५७, सब्यसाची भट्टाचार्य, रीविजिटिंग १८५७ २, दिल्ली, ओरियंट लांगमैन, (प्रेस में)।

१४. अशोक कुमार अंशुमन, 'बिहार में १८५७ का संघर्ष', मीडिया, पृ. ६२। इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये देखें- प्रसन्न कुमार चौधरी, श्रीकांत, १८५७ : बिहार-झारखंड में महायुद्ध, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.३६-३८।

१५. देखें बृज बिहारी, '१८५७ और दलित', दलित टुडे, लखनऊ, अगस्त २००७। इसी अंक में सुरेश पज्जिम ने विद्रोही सैनिकों की जातियों का उल्लेख करते हुए दिखलाया है कि इन विद्रोही सैनिकों में दलितों की संख्या अधिक थी।

१६. पुरुषोत्तम अग्रवाल द्वारा उद्धृत, ताप्ती राय, द पालिटिक्स ऑव अ पापुलर अपराइजिंगः बुन्देलखण्ड इन १८५७, दिल्ली, १९९४, पृ. २५०-५४।

१७. शाहाबाद के मजिस्ट्रेट हरसेल का पटना के कमिश्नर का पत्र, नम्बर २५६, १६ जून, १८५६ (प्रसन्न कुमार चौधरी द्वारा उद्धृत, पृ. १४४)।

१८. देखिए कालिकंकर दत्त, 'सन १८४५-४६ का ब्रिटिश विरोधी षडयंत्र', कुंवर सिंह-अमर सिंह, पटना, १९५९,पृ. ७२-८५। कालिकंकर दत्त ने बिहार के कई जमींदारों के विद्रोहों का वर्णन किया है जो यह बतलाने में सफल है कि असंतोष कितना व्यापक था।

१९. कालिकंकर दत्त, पूर्वोक्त, पृ.८७-९९।

२०. प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत, पूर्वोक्त, पृ. २२-२३।

२१. इस तरह के कई अन्य विद्रोहियों के बारे में जानने के लिये देखें प्रसन्न चौधरी, पूर्वोक्त, पृ. २४-२६।

२२. अली करीम के बारे में कुछ तथ्य कालिकंकर दत्त की पुस्तक में उल्लेखित हैं लेकिन बंगाल राज्य अभिलेखागार में कुछ फाईलें देखने के बाद पता चलता है कि अली करीम के साथ अंग्रेजों ने दोनों तरह से कैसे अन्याय किया था। उनके खिलाफ कोई सबूत जुटाने में सरकार सफल न हो सकी तो भी उनकी जब्त की हुई जायदाद को वापस नहीं किया गया।

२३. यह तथ्य है कि यह कविता १९२० के दशक के अंत में रामवृक्ष बेनीपुरी संपादित पत्रिका बालक में छपी थी जिसे प्रतिबंधित कर दिया गया। आजादी के बाद जब यह कविता छपी तब जाकर लोग इससे परिचित हुए। मनोरंजन प्रसाद ने १९२१ में या १९२० में देशभक्ति की यह कविता नहीं लिखी थी।

२४. इस सम्बन्ध में विवाद के लिए देखें- महाराजकुमार दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बाबू कुँवर सिंहः एक अध्ययन , पटना, १९५५, पृ. २०-२२।

एक दिन पेरिस

कर्मेंदु शिशिर

आज २४ तारीख थी। हम लगभग अपनी यात्रा के मध्य में थे। कल ही प्राग से लौटे थे और आज पेरिस के लिए रवाना हो रहे थे। दिव्यराज जी ने इस यात्रा को थोड़ा आसान बना दिया था। जे.एन. यू. के छात्र जीवन में जब वे जर्मन भाषा के छात्र थे, उनके एक मित्र सत्येन झा फ्रेंच पढ़ रहे थे। दिव्यराज जी पिछले बारह सालों से जर्मनी में हैं, सत्येन जी दस सालों से फ्रांस में। आजकल वे पेरिस में हैं। उनसे बात हो चुकी है और वे हमलोगों को सुबह स्टेशन पर ही मिल जायेंगे। हमें पेरिस में कहां-कहां जाना है, कैसे जाना है-ये सारी जानकारियां मिल जायेगी। अगर जरूरत पड़ी तो वे और तरह की मदद को भी तैयार मिलेंगे। यह परदेस में कितना बड़ा आश्वासन है, इसे परदेस जाने वाला ही महसूस कर सकता है।

जब हम नाश्ता कर नीचे आये, तो काउंटर के पास ही दिव्यराज जी प्रतीक्षा करते खड़े मिल गये। उन्हें क्लास लेने के लिए ज्यूरिख जाना था। जब हम यूथ हॉस्टल से बाहर निकले तो विभास जी और दिव्यराज जी बात करते मेट्रो स्टेशन के लिए ढलान वाले रास्ते पर थोड़ा आगे निकल चुके थे। मैं पीछे रह गया था, मुझे सुरती की तलब थी। तभी दो जर्मन छोटे बच्चे दिखे। उनकी पीठ पर स्कूली बस्ता था। जब वे पास आये, तो मैं ठिठक कर खड़ा हो गया। 'हलो!' मैंने उनके कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्यार से रोका-'प्लीज! वन मिनट !'

वे क्षण भर को रुक गये। मैंने दोनों की तुरंत एक तस्वीर ले ली। साथ का बच्चा थोड़ा आगे बढ़ गया था। बच्ची-एकदम गोरी-चिट्टी प्यारी-सी! अपना स्कूली बस्ता ठीक कर पीठ पर करीने से रख रही थी। एक पल मेरी ओर देखकर शरमायी, हंसी और तेजी से भागी। मैं कुछ देर खड़ा-खड़ा दोनों को जाते निहारता रहा। बच्चे चाहे कहीं के हों, किसी के, उतने ही प्यारे लगते हैं! सचमुच

बच्चों से बढ़कर इस पृथ्वी पर कुछ भी सुंदर नहीं! हम मेट्रो स्टेशन पर आये, तो विभास जी, दिव्यराज जी से स्वचालित मशीन से टिकट लेने के तरीके सीख रहे थे। हम तुरंत स्टेशन आ गये। स्टुटगार्ट से खुलने वाली कई ट्रेनों को मैंने देखा वे स्टेशन के बीचो-बीच खड़ी नहीं होती। स्टेशन के इस सिरे तक ट्रैक खत्म हो जाता है और गाड़ी आकर लग जाती है। हमारी गाड़ी आकर लगी नहीं थी। विभास जी को सिगरेट की तलब हो रही थी, लेकिन सिगरेट की राख झाड़ने को लेकर वे पसोपेश में थे। उन्होंने दिव्यराज जी को सिगरेट आफ़र किया। दोनों सिगरेट सुलगाकर थोड़ी दूर चले गये। साथ मैं भी गया। देखा- प्लेटफार्म के बीचोबीच एक बड़ा सा सार्वजनिक ऐश-ट्रे बना हुआ था, जिसके आस-पास कई लोग सिगरेट पी रहे थे और उसकी राख उसी ऐश-ट्रे में डालते थे। मेरे लिए हैरान करने वाली यह एक और नई बात थी। किस समझ और विवेक से ये जर्मन रहते हैं! इतनी बारीक सावधानियों के साथ ही ऐसी सफाई संभव है और शायद ऐसा संस्कार भी तभी विकसित हो सकता है! अंदर ही अंदर मुझे खुद पर शर्मिन्दगी हो रही थी! अपने देश की 'महानता' मुझे कितनी खोखली लग रही थी!

हमारी ट्रेन प्लेटफार्म पर आकर लग गई। अंतरराष्ट्रीय यूरोपीय ट्रेन सामान्य से थोड़ा बेहतर और सुंदर लग रही थी। इसमें दो बोगियों के बीच में सामान रखने के लिए काफी जगह थी और साइकिल लगाने के शेड भी बने हुए थे। आप बेबी कैरी गाड़ी और कुत्ते तक को लेकर इन ट्रेनों में सफर कर सकते हैं। मैं भीतर से खूब हुलास में था। यह बात अंदर अंट नहीं पा रही थी कि हम पेरिस जा रहे थे। बचपन से ही पेरिस को लेकर एक रोमान भरा अनुभव था। गांवों में लोग कहते थे- .....नेहरू जी जब इंग्लैंड में पढ़ते थे, तो उनका रूमाल तक पेरिस से धुलकर आता था। ..... यकीन नहीं हो रहा था कि हम सचमुच पेरिस जा रहे हैं। बिल्कुल एक स्वप्न के सच होने जैसा था। दिव्यराज जी की ज्यूरिख वाली ट्रेन इसके बाद थी। उन्होंने हमें विदा किया। हम दोनों स्टुटगार्ट से पेरिस जाने वाली अंतरराष्ट्रीय यूरोपीय ट्रेन में सवार हो गये। एक हल्की सी खुशी अंदर पनपी और एक रोमान भरा कंपन पूरे शरीर में पसर गया।

हम दोनों आमने-सामने खिड़की के पास बैठे थे। जाहिर था जब आप अंतरराष्ट्रीय ट्रेन में सफर कर रहे थे, तो आपके सहयात्री भी अंतरराष्ट्रीय होंगे। दिक्कत भाषा की थी और स्वभाव की भी। यूरोपियनों की आदत होती है वे किसी से बात करने में हमारी तरह यकीन नहीं करते। एक हम थे, जो पूरी ट्रेन में अपनी भाषा का अलख जगाये हुए थे और लगातार बातें कर रहे थे। विभास जी कई हिन्दी लेखकों की तुलना में ज्यादा पढ़े- लिखे, प्रबुद्ध और समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने द्वितीय विश्व-युद्ध पर बनी कई फिल्मों और पुस्तकों के हवाले से इस रास्ते की यात्रा को दिलचस्प और रोमांचकारी बना दिया था। उन्होंने कई आधुनिक यूरोपीय पुस्तकों की चर्चा की, एक मिथिकल उपन्यास का पूरा जीस्ट सुनाया-जो कभी बेस्ट सेलर उपन्यास रहा था। ट्रेन की रफ़्तार घट-बढ़ रही थी और उसकी गति सीमा बगल में स्क्रीन पर आ रही थी। क्या कमाल की बात थी! बीच-बीच में आते स्टेशनों के अपरिचित से नाम स्मृति में टिक नहीं पा रहे थे। मुझे याद आया बचपन में ट्रेन की यात्रा करते समय हमें स्टेशनों के नामों की बड़ी उत्कंठा रहती थी और कई दफ़ा तो हम उसे नोट भी करते थे। जाहिर है जब आप बहुत हुलास में हों, तो बचपन की ढेर सारी स्मृतियां खुद ब खुद उभर आती हैं। हम नहीं जान सके कि जर्मनी से फ्रांस की सीमा में ट्रेन ने कब, कहां से प्रवेश किया। लेकिन

नक्शे से इतनी जरूर जानकारी थी कि स्टुटगार्ट से फ्रांस की सीमा समीप थी। लेकिन ट्रेन से जर्मनी में जर्मनी के भीतर की यात्रा के दौरान जो धरती दिखाई पड़ी थी, मुझे लगा फ्रांस में घुसते ही वह थोड़ी सी बदल गई है। एक मुलायमियत का अहसास उसे अलग कर रहा था। दूर-दूर तक फैली अप्रतिम हरियाली, थोड़ी उतार-चढ़ाव वाली जमीन, उसे पहले से एकदम भिन्न आभास दे रही थी। बीच में बस्तियां आयी और कई जगह नदियां और उन नदियों में कोई तैरता हुआ बोट! सब कुछ बड़ा ही दिलचस्प और सुहावना लग रहा था। हम ज्यों ही चलती ट्रेन से तस्वीर लेने की कोशिश करते, ट्रेन गुजर जाती और पल भर में नदियों का वह मनोरम दृश्य पीछे छूट जाता। विभास जी ने बताया, 'आप कैमरा तैयार रखिये, पहले से ठीक-ठाक कर लीजिए-फिर आयेंगे वैसे दृश्य, वैसी ही नदियां और आप 'क्लिक' कर देंगे बस!' वे हंस रहे थे। उन्हें मेरी बचकानी हरकतें पता नहीं कैसी लग रही थीं! कहीं ट्रेन वर्त्तुलाकार घूमती, किसी घने जंगल से गुजरती, तो हम ध्यान से बाहर देखते। साइप्रस के घने पेड़ों के बीच रेलवे लाइन के ये दृश्य मुझे द्वितीय युद्ध पर देखी फिल्मों की याद दिला रहे थे। सैनिकों से लदी गाड़ियाँ, उनकी मस्ती और अचानक दुश्मन द्वारा आक्रमण! ऐसी ही कोई घटना। हम बार-बार द्वितीय विश्व यु(की स्मृतियों में भटक जाते और अब यह बात मुझे अच्छी नहीं लग रही थी। हम यूरोप को हमेशा उसी की प्रतिच्छाया में नहीं देख सकते। फिर भी हम अपने को रोक नहीं पा रहे थे। कभी इन्हीं जंगलों में छुपे हुए सैनिकों के दृश्य हमें याद आ जाते। उनकी लड़ाईयां! सैनिकों से भरी ट्रेन का रुकना, उनका घिर जाना और एक खौफ़नाक लड़ाई! पूरी यात्रा हमें बेहद रोमांचक अनुभवों और स्मृतियों से भर रही थी। लेकिन जिस बात ने मुझे खास तौर से रोमांचित किया, वह था बीच-बीच में मिलते इक्के-दुक्के गांव! अब पता नहीं फ्रांस के इन गांवों में कौन लोग रहते होंगे, अथवा वे भी जर्मनी के गांवों की तरह ही कुछ बूढ़ों या जानवरों के अलावा खाली ही थे क्या? दूर-दूर तक फैली हरियाली, घास चरते घोड़े, गाय, बछड़े और भेंड़े- सुंदर, स्वस्थ कुछ चितकबरे भी। ये सब पालतू थे और शायद लोगों के आहार भी। मुर्गियों की तरह इन जानवरों को पालने के फार्म होते होंगे। मैं कोई हिन्दुवादी तो नहीं हूं, मगर गाय या बछड़ों के मांस को लेकर भीतर एक तीखी वितृष्णा का भाव जरूर रहा है। यह शायद मेरे अंदरूनी संस्कार होंगे, न खाने की आदत या अभ्यास के कारण भी!

सुबह हो गई थी और ट्रेन पेरिस के लगभग करीब थी। हमने देखा बगल में एक यूरोपीय युवक अपने सामान को उतार कर नीचे सीट पर रख रहा था। वह शायद वायलिन था या गिटार! खोल में लिपटा। विभास जी उसे गौर से देख रहे थे। उसने बार-बार घड़ी देखी, कुछ कागज निकाला और उसे ध्यान से देखता रहा। विभास जी ने पक्का अनुमान कर लिया। यह कोई संगीतकार है, जिसे किसी पब, रेस्तरां या होटल में कार्यक्रम देना है। इसे जल्दी पहुंचने की उतावली है! ..... पेरिस स्टेशन बस आने ही वाला था। जैसा कि होता है, किसी भी बड़े, बहुत बड़े स्टेशन पर पहुंचने के पहले ही आप शहर में प्रवेश कर जाते हैं। रेलवे लाइन के दोनों ओर बड़ी-बड़ी इमारतें दिखाई देने लगती हैं। ये इमारतें बहुत पुरानी थीं! मैंने बाहर से तनिक भी भान नहीं होने दिया, लेकिन अंदर से मैं उतावला था। मैं चाहता था, बस ट्रेन रुके और मैं पेरिस की धरती पर पांव रोप दूं। मैं दरवाजे के पास पहुंच चुका था। जब ट्रेन रुकी और मैं उतरा तो सच कहूं, जी किया इस धरती को चूम लूं। मगर विभास जी को मैं ऐसी भावुकता का साक्ष्य देना नहीं चाहता

था। मैं अंदर की खुशी का बयान नहीं कर सकता।

हमें उस प्लेटफार्म पर सत्येन झा को खोजने में तनिक परेशानी नहीं हुई। दुबले-पतले, मझोले कद-काठी के, माथे पर कैप डाले सत्येन झा का चेहरा अकेला भारतीय था और जाहिर था आत्मीय भी। हम तीनों प्लेटफार्म से चलकर पास ही एक बेंच पर बैठ गये। आज उनकी काफी व्यस्तता थी और जाहिर था वे हमलोगों के साथ पूरा दिन नहीं गुजार सकते थे। बातचीत में वे बहुत ही सरल और संतुलित व्यक्तित्व वाले लगे। उन्होंने हमें पेरिस शहर का एक नक्शा दिया और दिन भर मेट्रो या बस से कहीं आने-जाने का रियायती टिकट। लेकिन यह टिकट तो हमलोग स्टुटगार्ट में ही ले चुके थे। मामला लगभग सात सौ रुपयों का था इसलिए वे इसे लौटाने के लिए काउंटर पर जाने लगे। विभास जी भी साथ थे। जर्मनी के स्टेशनों की तरह पेरिस स्टेशन पर भी एक पूरा बाजार था। मैं उन दुकानों में घुस-घुस कर एक-एक सामान देख रहा था। एक से एक नफ़ीस बैग, घड़िया, जूते, मोजे, टाई और न जाने कितनी चीजें। उनकी कीमत हमारी पहुंच से दूर थी इसलिए खरीदने की तो बात ही नहीं थी। पता चला टिकट वापस नहीं हो सकता था। हम फिर बैठे तो मैंने पूछा-'आप बिहार में कहां से हैं?

'' एक जगह है बलुआ बाजार।''- यह नाम मेरा एकदम जाना सुना था। वे चुपचाप बैठकर यहां घूमने की जगहों, जाने के रास्तों और कुछ जरूरी सावधानियों के बारे में बताने लगे। उनसे बहुत आत्मीय और घरेलू जैसी बातों की उम्मीद भावुकता थी। जाहिर था, मैं तो उनके लाख समझाने के बावजूद न तो मेट्रो से कहीं आ-जा सकता था, न बस से। मुझे तो दिल्ली में ही परेशानी होती है, यह तो पेरिस था, पेरिस! विभास जी गौर से उनकी बातें सुन रहे थे, कुछ पूछ रहे थे और समझ रहे थे। हमने बड़ी कोशिश की, वे कम से कम टिकट और नक्शे के पैसे तो ले लें। लेकिन वे यूरोपीय नहीं, अंततः भारतीय थे। उन्होंने बड़े बड़प्पन और अपनापे से मना कर दिया-''मैं अपनी ओर से कुछ कर तो नहीं पा रहा, बस इतना ही समझ लीजिए।''

उन्हें घर जाना था, तैयार होना था और समय से काम पर पहुंच जाना था। उन्हें इस बात का भी खेद था कि हम रुक नहीं रहे । आखिर में इतना बोले-''अगर शाम को आपलोग ट्रेन के लिए लौटते हैं और मुझे समय मिलता है, तो हम शाम को जरूर आयेंगे, फिर साथ बैठकर चाय पीयेंगे। बस!''

हमें पैसे के लिए और जोर देना अपमानजनक लगा। वे अंततः बिहार के थे, सो इतना तो हमारा सहज हक बनता ही है। वे वाकई जल्दी में थे और सुबह-सुबह हमलोगों के लिए ही स्टेशन आये थे। यह बड़ी बात थी। उन्होंने इतनी हिदायत जरूर दी कि यहां थोड़ी सावधानी जरूरी है। अगर कहीं किसी संकट में पड़े, तो बेहिचक तुरंत पुलिस की मदद लें। यहां की पुलिस एकदम चौकस, चुस्त और तुरंत मदद को तैयार रहती है। खास तौर से पर्स और पासपोर्ट का ख्याल रखना जरूरी था। यहां यदा-कदा पॉकिटमारी भी हो जाती है। उन्होंने किसी भी मदद के लिए खुद अपना मोबाइल नंबर दे दिया था। हमलोगों ने उन्हें विदा किया।

हमारे पास दिन भर का ही वक्त था। रात को हमारी वापसी की ट्रेन थी। घूमने वाली जिन जगहों को उन्होंने चिन्हित किया था-उनमें मो मार्त्त ही ऐसी जगह थी, जो बिल्कुल भिन्न रास्ते पर थी। हमने सबसे पहले वही जाना तय किया। हमने पेरिस स्टेशन से ही मेट्रो लिया और ठीक वहीं

पर उतरे, जहां से मो मार्त्त पहुंचना था। हम भूगर्भ तल से जब सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आये, तो तबियत प्रसन्न हो गई। यह बहुत ही सुंदर जगह थी। पेरिस की एक भीड़-भाड़ वाली जगह, जहां लोगों की काफी गहमागहमी थी। हम सड़क पार कर उस चौड़ी गली में आ गये, जिससे चलकर मो मार्त्त पहुंचना था। पूरी गली दुकानों से पटी थी। लोगों की खरीद-फरोख्त की भीड़ थी। पेरिस, जर्मनी के शहरों से बिल्कुल अलग था। यहां के लोगों में जर्मन वाला इलिटनेस नहीं था। उस छोटी गली के ठीक बीच में कैरम बोर्ड जैसा रखकर, गोटियों जैसा पासा फेंककर, कुछ लंबे-तगड़े से फ्रांसीसी जुआ खेल रहे थे। वे आते-जाते लोगों को आमंत्रित करते, फांसते, पासा फेंकते और जीतने के साथ ही पैसे वसूल ले रहे थे। मैं हैरान था कि एक विश्व स्तरीय शहर में प्रसिद्ध टूरिस्ट स्पॉट पर यह सारा कुछ एकदम बेफिक्री के साथ हो रहा है। कोई रोक-टोक नहीं। कुछ पूछे कि गये। हम उनके शोर-शराबे से बचकर किनारे होते हुए आगे निकल आये। सामने एक ऊंचे टीले पर सफेद रंग की शानदार इमारत थी। बीच में एक विशाल गुंबद,दो अगल-बगल बड़े गुंबद। यह बड़ी इमारत कुछ-कुछ मंदिर जैसी शक्ल में, लेकिन वह एक राजप्रसाद की तरह लग रही थी। उस तक जाने के लिए कई सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं, जो दोनों ओर से बनी हुई हैं। ऊपर एक ओर पार्क जैसी जगह भी है, जहां आप कुछ प्रेमी जोड़े देख सकते हैं। नीचे चारो ओर से ऊँची चहारदीवारी बनायी गई है और काफी फैला मैदान, जिसे फूल पत्तियों और खूबसूरत घासों से एक पार्क जैसा रूप दे दिया गया है। वहां वर्षो तक प्राध्यापक रहे प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. लालबहादुर वर्मा ने बताया कि फ्रांसीसियों के बीच यह इमारत इतनी प्रतिष्ठित और पवित्र मानी जाती है कि वे इसे सर्च आफ़ द सीक्रेट हार्ट कहते हैं। यह जगह विश्व प्रसिद्ध चित्रकार पिकासो को इतनी प्रिय थी कि वे प्रायः यहां आते, देर तक घूमते और काफी वक्त बिताते थे। जां पाल सार्त्र और साइमन द वुआ भी यहां घूमने आते। एक बार भृगुनंदन त्रिपाठी ने श्रीकांत वर्मा के यात्रा संस्मरणों के हवाले से यह बात कही थी कि प्रसिद्ध रूसी कथाकार तुर्गनेव जब भी फ्रांस आते, तो इसी के पास किसी रेस्तराँ या पब में बैठते। नीम रोशनी में देर तक उनका मजमा जमता। एमिल जोला सहित तमाम तत्कालीन कथाकार देर रात गये तक उनके साथ होते। मालूम नहीं इस बात में कितनी सच्चाई है लेकिन इतनी सी बात सच है कि यह जगह फ्रांस के लेखकों, कवियों, संगीतकारों और चित्रकारों की अत्यन्त प्रिय रही है।

हमने सीढ़ियां चढ़ी, कुछ वक्त बगल वाले पार्क में भी गुजारे और देर तक इस खूबसूरत मो मार्त्त को निहारते रहे। कुछ प्रेमिल जोड़े पेरिस के उन्मुक्त संस्कृति को साकार कर रहे थे। पिकासो, सार्त्र के पांव इस धरती पर पड़े थे, काश! उनके पद-चिह्नों के निशान होते! एक रोमांच हमारे भीतर से उठकर पूरे शरीर में पसर गया था। हम उस इमारत को देख रहे थे, जिसे पिकासो और सार्त्र ने देखा होगा। उस जगह पर थे, जहां वे अक्सर आते थे! पता नहीं अब पेरिस के रचनाकार और कलाकार यहां आते हैं या नहीं। यहां काले अफ्रीकियों की संख्या कुछ अधिक थी और मैंने देखा उसकी उतरने वाली एक तरफ की सीढ़ियों पर वे कुछ ज्यादा ही उछल-कूद कर रहे थे। हो सकता है, वे प्रेमिका से छेड़छाड़ कर रहे हों, या मित्रों से हास-परिहास। लेकिन हमने उधर से नीचे उतरना ठीक नहीं समझा। हम वापस मुड़कर दूसरी ओर निरापद रास्ते से नीचे उतरे। बेशक ऐसा संभव हो कि यह जगह आजकल, शोहदों की मस्ती और आवारगी के लिए मुफीद हो गई हो! इस

जगह की हरकतों को देखकर ऐसा नहीं लगा कि मो मार्त्त में पहले की तरह लेखकों, कलाकारों का आना-जाना होता होगा। एक खास तरह का क्षरण तो पेरिस में दिख ही रहा था क्योंकि गैट और उदारीकरण से उपजी लुंपन संस्कृति से यूरोप अछूता तो नहीं ही था। हां, एक बात और थी कि फ्रांसीसी, जर्मनों की तुलना में कुछ ज्यादा खुले, उदार और उन्मुक्त हैं। शायद इस कारण भी फ्रेंच लड़की और काले अफ्रीकी जोड़े यहां अक्सर दिख जाते हैं। विभिन्न वय के लोग खुलेआम आलिंगनबद्ध होकर सघन चुंबनों में लिप्त जगह-जगह दिखेंगे। मो मार्त्त और एफिल टॉवर वाली जगह तो दूर, अचानक किसी मेट्रो स्टेशन पर भी आप ऐसे उत्तेजक दृश्य आसानी से देख सकते हैं। जहां तक मुझे लगा- पेरिस के इन प्रेमिल दृश्यों में न तो जर्मन वाला इलिटनेस था, न ही प्राग वाली रागात्मक मोहकता। यहां एक तरह का देहोत्सव वाला आतुर उत्तप्त भाव ज्यादा मुखर लग रहा था। काले अफ्रीकी भीड़ भरे मेट्रो में, यूरोपियनों की तरह शांत नहीं रहते। वे अगर आपके बगल में एकदम करीब खड़े हैं, तो उनके हाथ-पांव की हरकतें चलती रहती हैं उनके मुंह से शराब की भक्-भक् उठती बूं आपको बुरी तरह बेदम कर सकती है और आप बोल नहीं सकते। एक तरह की दादागिरी वाली बात थी!

हम पेरिस में मेट्रो से रास्ता भटक गये थे। कभी दूसरी दिशा में आगे निकल गये, तो कभी तीसरी, फिर वापसी करते। जिससे भी पूछो, वही बड़ी बेरुखी से गरदन हिलाकर मना कर देता। समस्या उनके अंग्रेजी न जानने की थी। संभव हो, कोई जानता भी हो, लेकिन फ्रेंच भाषा के अभिमान में टाल देता हो! आखिर विभास जी ने खुद दिमाग लगाया, नक्शे को बार-बार देखा, दिशा का अनुमान किया और फिर तय कर एक ऐसी मेट्रो में चढ़े जो ठसाठस भरी हुई थी। खैर! भीड़ से भला किसी आम भारतीय को क्या दिक्कत हो सकती थी! लेकिन मेरी मुश्किल यह थी कि मेरे अगल-बगल चार-पांच हट्टे-कट्ठे काले अफ्रीकी खड़े थे। उनमें एक बूढ़ा, जिसकी खसखसी छोटी दाढ़ी थी और आगे के दो दांत भी टूटे हुए थे। वह बड़ी मस्ती से कोई गीत गाये जा रहा था। बाकी में दो उसका साथ दे रहे थे। उसने मेरी ओर देखा, आंखें नचायी और पकड़ने वाले राड पर थाप भी देने लगा। मेट्रो में फ्रांसीसी युवक-युवतियों, स्त्री-पुरुषों की भारी भीड़ थी और सभी बिल्कुल चुप थे। मैंने गौर किया, उसी में सीट पर बैठी एक युवती चुपचाप कोई पुस्तक पढ़ रही थी। उसकी मस्ती बढ़ती ही जा रही थी। अब उसने अपने पांव और गरदन भी हिलाने शुरू कर दिये। इधर मेरी जान सांसत में पड़ी हुई थी। मेरे ठीक बगल में एक विशाल कुत्ता सहयात्री था, तो दूसरी ओर उस बूढ़े अफ्रीकी के मुंह से शराब की तेज बू मुझे बुरी तरह पैमाल किये हुए थी। गनीमत थी हमें जल्दी ही उतर कर दूसरी मेट्रो बदलनी थी। पेरिस के अधिकांश मेट्रो स्टेशन बहुत पुराने थे लेकिन पूरे शहर में उनकी सघन बुनावट थी। कहीं-कहीं तो आपको उतरकर सुरंगनुमा गलियारे से होते, सीढ़ियां चढ़ते-उतरते निकलकर दूसरे मेट्रो स्टेशन तक आना होता था। इन सारी कवायद के बाद जब अपनी मेट्रो के लिए सही जगह पर हम पहुंचे, तो एक मेट्रो अभी-अभी गुजर चुकी थी। हमें थोड़ा इंतजार करना था। तभी ठीक मेरे पास ही एक अधेड़ आदमी से आलिंगनबद्ध युवती दिखी। दोनों के जोरदार चुंबनों की दीर्घता और कसाव ने हमारी थकान और प्रतीक्षा को थोड़ा सहज बना दिया था। लड़की कुछ छोटी थी, इसलिए उसे चूमने के लिए पुरुष को एड़ियां अलगानी पड़ रही थी। बेशक हम ठेठ भारतीय थे लेकिन हमें भी भद्र और आधुनिक दिखना था, सो दूसरे तमाम लोगों की तरह हम भी इससे बाहरी तौर पर खुद को

पूरी तरह बेखबर दिखा रहे थे। हम दोनों आपस में बातें कर रहे थे, मगर किसी न किसी बहाने हम इस प्रेमिल दृश्य को देख जरूर ले रहे थे। खैर, मेट्रो आ गई, तो हमें तुरंत चढ़ना पड़ा। ऐसे दृश्य पेरिस में आम थे।एक बोहेमियन किस्म वाली मस्ती,उन्मुक्तता या आवारगी फ्रांस के पूरे वातावरण में थी- जो कम से कम जर्मनी में हमें कहीं देखने को नहीं मिली।

जब हम मेट्रो स्टेशन से सीढ़ियां चढ़कर ऊपर निकले, तो हमारे सामने पेरिस का एक बिल्कुल नया नजारा था। यह शायद पेरिस शहर की सबसे समृद्ध, खूबसूरत और शानदार जगह थी। एक व्यस्त चौराहे की तरह, जिससे कई सड़कें निकलती थीं और प्रत्येक सड़क के दोनों ओर विशाल इमारतों की दूर तक कतार लगी हुई थीं। दुकानें इतनी बड़ी-बड़ी की आंखें चौंधिया जा रही थीं। आसमान अचानक बादलों से घिर गया था, हम डर रहे थे कहीं बारिश न हो जाय। बहुत मामूली झींसी-फुँसी जरूर शुरू हुई, मगर तुरंत थम भी गई। कोई खलल डालने जैसी बात नहीं हुई। अलबत्ता हवा तेज बहने लगी और ठंढ एकाएक बढ़ गई। बावजूद हम स्वप्न जैसी इस जगह को देखकर एकदम से मुग्ध थे। सामने रॉयल ओपेरा हाउस था, जिसे देखने के लिए हम भटकते हुए यहां तक आये थे। उस पर फ्रेंच में लिखा था- ACADEMIE NATIONALE DE MUSIQUEA इस भव्य इमारत के ऊपर सोने की एक बेहद खूबसूरत मूर्त्ति थी, जिसका शिल्प बहुत ही आकर्षक लग रहा था। उसके नीचे यूरोपीय संगीतकारों विथोवन, मोत्सार्ट, बाख, रेडरिक शोपेन, शुवर्ट सहित..... कुल सात संगीतकारों की एक-एक झरोखे में खूब सुंदर मूर्त्तियां लगी हुई थीं। उसके नीचे उनके नाम और जन्म-मृत्यु वर्ष भी दर्ज थे। इस इमारत पर जगह-जगह आकर्षक शिल्प खुदे हुए थे। इस इमारत की कलात्मकता बेजोड़ थी। ये सारे यूरोप की आत्मा को युगों तक स्पंदित करने वाले अमर संगीतकार थे। एक तरह से यह इमारत यूरोपीय संस्कृति का सर्वोत्तम प्रतिबिंबन कर रही थी। इस इमारत के भीतर जाने पर तात्कालिक रूप से रोक लगी हुई थी, क्योंकि अंदर रेनोवेशन का काम चल रहा था। सीढ़ियों के नीचे खाली जगह पर लोगों को जाने से रोकने के लिए रस्सियां लगाई गई थीं। हमने देखा कुछ सैलानी उन रस्सियों को उठाकर भीतर घुस जा रहे थे और तस्वीरें खींच रहे थे। हमने भी ऐसा ही किया और बारी-बारी से एक-दूसरे की तस्वीरें लीं। यह न सिर्फ फ्रांस का, बल्कि पूरे यूरोप के संगीत वैभव का एक अद्वितीय स्मारक था। हमने उसकी सीढ़ियों पर माथा टेका और अपने भाग्य को बार-बार सराहते रहे। हमें लग रहा था, पूरे वातावरण में इनकी रची किसी संगीत सिम्फनी की गूंज स्पंदित हो रही है। वहां के जीवन में इनका संगीत इस तरह रचा-बसा है कि उनके वजूद को हम इससे अलगा नहीं सकते। जिन प्रभावों से यूरोपीय मानस रचा गया है, उसमें संगीत अनिवार्यता से जुड़ा है। हम एकटक रॉयल ओपेरा हाउस को निहार रहे थे। एक मरमराहट हमारे भीतर महसूस हो रही थी कि जिस तरह फ्रांसीसी अपनी आत्मा के इन रचनाकारों को पूरे गौरव और सम्मान से सहेजते हैं, इसे देखकर हम पूरी तरह अवाक् थे। एक हमारा ऐसा आत्ममुग्ध देश, जिसमें बौने राजनेताओं की भोंड़ी शिल्प वाली मूर्त्तियां जगह-जगह खड़ी कर, हम अपनी मूढ़ता और सांस्कृतिक दरिद्रता का निर्लज्ज प्रदर्शन करते हैं। हमारे लिए यह कभी न भूल पाने वाला एक दुर्लभ अनुभव था। एक संस्कारविहीन शासकों वाले अभागे देश के निरीह नागरिक की व्यथा के साथ हम उस इमारत से वापस लौटे। एक गहरी अनुभूति हमारी तमाम शिराओं तक पसर रही थी। हमें लगा, हमारे भीतर

भी थोड़ा-सा बदलाव आया है। हमें अंदर कुछ महसूस हुआ- राग और पवित्रता का भाव!

सामने कुछ खाली जगह थी, जिसके चारों ओर से गुजरने वाली सड़कों से किस्म-किस्म की गाड़ियों का आना-जाना लगा हुआ था। यह काफी व्यस्त इलाका था। तभी हमारी निगाह सड़क के उस पार गई, जहां एक छरहरे बदन वाली लंबी-सी युवती किसी को रोककर उसकी सिगरेट से अपनी सिगरेट सुलगा रही थी। फिर हल्के से गरदन झुका कृतज्ञता प्रकट कर, कश लगाती आगे बढ़ गई। मेरे भीतर एक चुहल पनपी, काश! वह हमारे विभास जी की सिगरेट से सिगरेट सुलगाती तब कुछ न कुछ तो हमारे अंदर भी जरूर सुलगता! मगर भारतीय भद्रता का तकाजा था, हमने ऐसा कुछ व्यक्त नहीं किया। यह बात माननी पड़ेगी कि फ्रांसीसियों में एक खास तरह की मुलायमियत है, एक उन्मुक्तता, जो उनके पूरे जीवन व्यवहार को ही मोहक बना देती है। मेरे कवि-मित्र अग्निशेखर इन बातों को स्वीकार तो करते हैं लेकिन उनका मानना है कि उदारीकरण से उनके भीतर एक किस्म का शातिरपना भी पनपा है। आखिर पूंजी जीवन की काव्यात्मकता को तो नष्ट करती ही है। हम अंदर से पूरी तरह भरे हुए थे। तभी हमारी निगाह पटरियों पर किनारे एकदम सिकुड़कर बैठे अपने शरीर को पूरी तरह लिहाफ से ढंके एक फ्रेंच आदमी पर गई। उसने चेहरा भी ढंक रखा था- शायद उसे याचना में संकोच हो रहा हो। यह भी संभव था कि उसने ठंढ से बचने के लिए ऐसा किया हो। उसके पास ही कुत्ते का एक प्यारा सा पिल्ला ठिठुरता कांप रहा था। सामने एक तख्ती रखी हुई थी, जिसमें खुद के लिए और कुत्ते के मासूम पिल्ले के लिए याचना भरी अपील थी। यह फ्रांसीसी पूंजीवादी व्यवस्था की अपनी विडंबना थी। मैं सोच रहा था- रॉयल ओपेरा हाउस के सामने आखिर यह आदमी आने-जाने वाले की संवेदना के भरोसे ही तो बैठा हुआ है! मुझे लगा- अंततः संवेदना ही किसी आदमी की आखिरी उम्मीद होती है, चाहे जो भी हो, जैसा भी समाज हो! यह एक मार्मिक बात थी। आज की दुनिया में हमने इसी संवेदना को खो दिया है, इसे फालतू बना दिया है। फ्रांस का वैभवशाली समाज हो या भारत का- जो छिटक कर हाशिये पर गया, इस निर्मम रफ़्तार में उसकी वापसी असंभव है। अंदर एक कचोट सी हुई। फिर भी, हमारे लिए रॉयल ओपेरा हाउस से लौटना एक तीर्थ से लौटने जैसा था। हम भीतर से बेहद भावुक हो उठे थे।

अब हमें लुवर जाना था। पेरिस एक विशाल शहर है, जिसमें मेट्रो का ऐसा सघन जाल बुना गया है कि इसमें किसी भी बाहरी आदमी का भटक जाना मामूली बात है। तीन-तीन, चार-चार तल्लों वाले मेट्रो स्टेशन पर आपको कहां से, किस दिशा की मेट्रो से जाना है, यह समझना आसान बात नहीं है। टेढ़े-मेढ़े गलियारे, बीच-बीच में सीढ़ियों पर चढ़ना फिर उतरना- इस ओर या उस ओर- जल्दी आपको पता ही नहीं चलेगा। किसी मेट्रो स्टेशन पर एक खूबसूरत नौजवान बड़ी मस्ती में गिटार बजाये जा रहा था। वह झूम रहा था और उसके लंबे-लंबे बालों का इधर-उधर लहराना, बड़ा ही प्यारा लग रहा था। लेकिन हम रुक कर उसे सुन नहीं सकते थे। एक मेट्रो स्टेशन पर नाटे कद का दुबला-पतला अफ्रीकी, जो थोड़ी अधेड़ उम्र का था यही कर रहा था और साथ-साथ कुछ गाये भी जा रहा था। प्राग की तरह पेरिस में भी रफ़्तार से छिटके लोगों को देखना एक मार्मिक अनुभव था। सिर्फ नक्शे से मेट्रो को पकड़ना, बदलना और इच्छित जगह पहुंच जाना- बहुत ही जटिल और मुश्किल काम था। एक जबर्दस्त भूल-भूलैया वाली बात थी। विभास जी को

हर जगह एक परेशानी भाषा की हो रही थी। एक बार तो मेरे आग्रह पर उन्होंने पन्द्रह-बीस जनों से पूछने की कोशिश की, मगर किसी ने बात नहीं की। अब मामला अंग्रेजी न जानने का ही था या और? यह हम कैसे जान सकते थे! हम परेशान-परेशान हो गये थे। ऐसी स्थिति में हम निर्णय कर किसी मेट्रो को पकड़ते। दूर चले जाते, स्टेशनों के नामों का नक्शे से मिलान करते और तुरंत अपनी गलती का अहसास कर वापस होते। विभास जी फिर रुककर इत्मीनान से नक्शे को ध्यान से देखते। शायद एक बार तो उन्हें सत्येन झा को फोन कर, मदद भी लेनी पड़ी थी। बड़ी मुश्किल से काफी जद्दोजहद के बाद, हम सही मेट्रो पकड़कर लुवर के पास तक पहुंच पाये थे।

हम लुवर आ गये थे। यह फ्रांस के गौरवशाली इतिहास का एक शाही प्रतीक था- ठीक हमारे लाल किले की तरह! यह विशाल भवन था तो लुई शासन काल का ही, लेकिन जब नेपोलियन ने विजय के बाद फ्रांस में प्रवेश किया था, तो लुवर के सामने एक विशाल विजय-द्वार का निर्माण कराया था। वह बहुत ही भव्य और सुंदर लग रहा था। इसके ऊपर चार घोड़ों वाले रथ पर विजय प्रतीक के रूप में हाथ उठाये सेनापति की एक खूबसूरत मूर्त्ति थी। उसका शिल्प लाजबाब था और उसे सोने से मढ़ा गया था। उस गेट से लुवर की तीन तरफ बनी विशाल इमारतों तक खाली जमीन पत्थरों की पटरियों से पटी, समतल मैदान की तरह थी। लुवर की इमारतों के आगोश वाले मैदान में स्टील और शीशे से दो स्तूप जैसी संरचनाएं बनी थीं। एक में पानी का फव्वारा निकल रहा था और दूसरे में नीचे जाने का रास्ता बना था। आप लगभग २२००-२३०० रुपये का टिकट खरीद कर नीचे वाले भूगर्भ तल में म्यूजियम देखने जा सकते थे। यहां लगभग दो सौ अस्सी म्यूजियम थे, जिसके लिए अलग-अलग ७००-१००० रुपये के टिकट खरीदने पड़ते थे। पूरा म्यूजियम देखने में आपको सप्ताह भर लग सकता था। उसमें तुर्को या अन्य लड़ाईयों से लूटे गये सामानों, तत्कालीन राजा-रानियों की शाही पोशाकों, उनके हीरे-जवाहरात के गहनों से लेकर एक से एक नायाब वस्तुओं के संग्रहालय थे। हमारे पास अगर इतने पैसे और समय होता, तो भी हम सामंती विरासत के अवशेषों की तुलना में, यूरोप की और जगहों, और नगरों की यात्राएं करना ही ज्यादा पसंद करते। हम देर तक लुवर की इमारतों को निहारते रहे, उस पर अंकित खूबसूरत शिल्प, पच्चीकारी, मीनाकारी प्राचीन फ्रांसीसी कलाओं की विशिष्टता को व्यक्त कर रही थी। एक समृद्ध ऐतिहासिक सभ्यता का यह विशाल संग्रहालय था। हम लुवर के आंगन में घूमते हुए लुई चौदहवें और सोलहवें को याद कर रहे थे। विलासिता और वैभव का वह साम्राज्य आज एक प्रदर्शनी में तब्दील हो चुका था। समय ने इतिहास के मूल यथार्थ को स्थिर कर दिया था। देखिये, समझिये और विचार कीजिए। हम टहलते हुए विजय द्वार तक आ गये थे। एक वक्त होगा, जब नेपोलियन का विजय रथ इससे गुजर कर लुवर में प्रविष्ट हुआ होगा, क्या शाही ठाठ रहा होगा! लगा- हमारे कानों में कहीं घोड़ों के टापों की गूंज सुनाई देने लगी है! लेकिन सच्चाई यह थी कि विजय द्वार के पास आकर आज सिटी बसें लगती हैं, सैलानी चढ़ते-उतरते हैं और सामने की सड़क से बस लुवर को पार करती सेन नदी के पुल से गुजरकर एक व्यस्त सड़क में मिल जाती है। लुवर की एक इमारत से निकलकर ऊपर ही ऊपर एक गलियारा सेन के किनारे-किनारे आगे तक निकल जाता है, जिसके नीचे बने द्वार से एक सड़क है, जिससे आप सेन पुल तक आते हैं।

हम विजय द्वार से पैदल ही गलियारे के नीचे से निकले। वहां पर पानी लगा था और थोड़ी

गंदगी भी थी! हम किनारे से निकलकर लुवर के बाहर चले आये। हम अब सेन नदी पर बने पुल के ऊपर थे। यहां से दोनों ओर का दृश्य बेहद मनोरम था। सेन के एक किनारे पर ऊँची चहारदीवारी थी, जिसके अंदर लुवर की विशाल इमारतें थीं। दूसरा किनारा भी काफी ऊँचा था, जिसके किनारे पैदल चलने की चौड़ी पटरियों वाला रास्ता था। सामने सड़क और उस किनारे ऊँची-ऊँची इमारतें और दुकानों की लंबी कतारें। सेन नदी का पाट चौड़ा था। उसमें एक बड़ी सी बोट तैर रही थी। पुल से टिक कर हमने कई तस्वीरें लीं। वहां से लुवर की भव्यता और सुंदरता एकदम विलक्षण दिख रही थी। पूरा दृश्य बहुत ही मोहक लग रहा था। हम देर तक पुल के किनारे से पीठ टिकाये चारों ओर के नजारे को निहारते रहे। सेन के किनारे नदी के तल तक पक्की और साफ-सुथरी व्यवस्था थी। एक रोमान हमारे बाहर-भीतर पसरा हुआ था और सचमुच हम पेरिस में अपने सपने को सच होते महसूस कर रहे थे।

अब हम पुल पारकर मुख्य सड़क पर आ गये। हमें यहीं से नेत्रोदाम और सेंट माइकेल के गिरजाघरों के गुंबज दिखाई दे रहे थे। हम नदी के किनारे-किनारे बनी पटरियों वाले रास्तों से पैदल ही चल पड़े। लोगों का आना-जाना लगा हुआ था। तभी हमारी निगाह सेकेंड हैंड पुस्तकों के छोटे-छोटे स्थित स्टॉलों पर गई। एक रोमांच भरी खुशी से हम चहक उठे। पटना के अपना बाजार के नीचे ऐसी दुकानों से की गई खरीदारी याद आ गई। हमने बड़ी ललक और उत्सुकता से एक-दो दुकानों पर रुककर पुस्तकों को पलटा, देखा। सारी पुस्तकें फ्रेंच में थीं। हमने जितने भी फ्रेंच लेखकों के नाम सुने थे अथवा जिनके अनुवाद पढ़े थे- बाल्जाक, मोपांसा, स्तांढाल, एमिल जोला जैसे, उन सबके कलेक्शन थे। कुछ की ग्रंथावलियां भी थीं। कुछ चित्रकारों की पुस्तकें भी थीं। सोचा, अगर मुझे फ्रेंच आती तो हम कितनी पुस्तकें खरीदते? सभी दुकानदार अच्छी वेशभूषा में थे और कुछ अपनी सिगार सुलगाकर कुर्सी पर बैठे आराम से कश ले रहे थे। कुछ अपने स्टॉल की पुस्तकें सहेज रहे थे, तो कुछ किसी पुस्तक को पढ़ने में मशगूल थे। मैंने कुछ पुस्तकों के प्रकाशन वर्ष देखे, कुछ तो १६वीं शताब्दी की भी थीं। जाहिर था ये जगह फ्रांस के लेखकों, कवियों, कलाकारों और पुस्तक प्रेमियों के लिए प्रिय होगी। उनका यहां आना-जाना होता होगा। हमें फ्रेंच नहीं आती थी, हम बात नहीं कर सकते थे, मगर बार-बार यह लग रहा था-क्या इस जगह कभी सार्त्र आये होंगे और ज्यां जेने? मैं उन दुकानदारों को बहुत गौर से देख रहा था। संभव था, उनके पास कुछ लेखकों के दुर्लभ संस्मरण हों। कुछ की स्मृतियां हों। हम आगे बढ़ गये।

हम थोड़ी दूर आगे आये, तो नेत्रोदाम और सेंट माइकेल के विशाल गिरजाघर दिखाई देने लगे। ये गिरजाघर अपनी विशालता और भव्यता के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी कलात्मक शिल्प रचना के लिए भी पूरी दुनिया में मशहूर हैं। इन दोनों ईसाई संतों के नाम पर हमारे शहर में भी स्कूल हैं और न जाने भारत में कहां-कहां कितने और स्कूल होंगे। हम सेन नदी के एक दूसरे पुल के पास आ गये और सड़क पार कर एक तिकोनी सी इमारत के मुहाने पर बनी एक निहायत सुंदर कलाकृत्ति वाली मूर्त्ति के पास खड़े हो गये। वहां पानी के फव्वारे छूट रहे थे। हम दोनों ने बारी-बारी से एक दूसरे की तस्वीरें खीचीं। शायद यह बाइबिल की कोई पौराणिक स्त्री की मूर्त्ति हो। उसकी बनावट बहुत ही सुंदर थी। हम देर तक उस जगह पर टहलते रहे। यह पेरिस के लिहाज से एक सामान्य मध्यवर्गीय लोगों वाली जगह लग रही थी। इधर की दुकानें अपेक्षाकृत

सामान्य थीं, लोगों की खूब आवाजाही थी और यह भीड़-भाड़ वाली जगह थी। एक शेड जैसी जगह बनी थी, जिसके नीचे कई साइकिलें लगी थी। उसी के पास नीचे उतरने के लिए सीढ़ियां बनी थी, जिससे आप भूतल में बने मेट्रो स्टेशन पहुंच सकते थे। लेकिन हमें अब एफिल टॉवर जाना था और उसके लिए हम फिर उसी रास्ते से वापसी कर रहे थे। उसी रास्ते पर स्टील और ग्लास का एक अत्याधुनिक शिल्प वाला विशाल भवन दिखाई पड़ा-जिस पर टोकियो हाउस लिखा हुआ था। मुझे लगा एशियाई देशों में संभवत- जापान की ही पेरिस में सबसे अधिक उपस्थिति थी। कई जापानी हमें रास्ते में भी दिखाई दे रहे थे। अचानक विभास जी की निगाह एक ऐसे विज्ञापन पर गई, जिसने हमें चौंका दिया। वह किसी ऐसी कोचिंग संस्था का विज्ञापन था, जो अमेरिकी स्टाइल वाली अंग्रेजी सिखाता है। पूरे यूरोप में अमेरिकी विकास का एक जबर्दस्त आकर्षण पनप रहा है। खासतौर से युवकों में एक क्रेज है- वे अब इंगलिश सीखने पर जोर देने लगे हैं। दिव्यराज जी ने भी बताया था कि यहां आप जो विकास देख रहे हैं, उसका अगला चरण तो अमेरिका का ही विकास है। जाहिर है यूरोपीय मुड़कर भारत जैसे देशों की ओर तो देखेंगे नहीं, इसलिए उनके आकर्षण का केन्द्र अमेरिका ही बन रहा है। यह वाकई एक अजीब विडंबना है। पूरे यूरोप में फ्रेंच भद्र जनों की भाषा थी, जिस फ्रेंच ने इंग्लैंड में अंग्रेजी को पूरे तीन सौ वर्षो तक अपनी चेरी बना कर रखा, उसी फ्रांस में आज इंगलिश सिखाने का विज्ञापन आ रहा है। वह भी अमेरिकी स्टाइल वाली दोयम दर्जे की इंगलिश! अमेरिकी पूंजी के प्रभुत्व का यह एक नया आयाम है। आपस में फ्रांस और इंग्लैंड ने लगातार युद्ध किये, उपनिवेशों के लिए अनेक युद्ध हुए, दोनों में जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्विता रही। पूरी दुनिया में ब्रिटिश साम्राज्य के समानान्तर फ्रांसीसी साम्राज्य का संघर्ष चला। फ्रांस ने अपनी भाषा, साहित्य, संगीत, कला और संस्कृति के स्वाभिमान को शीर्ष पर बनाये रखने की लगातार हठीली कोशिश की, उसी फ्रांस को आज उदारीकरण और वैश्वीकरण ने समझौते के लिए विवश कर दिया है। ब्रिटिश अंग्रेजी अपनी क्लासिक श्रेष्ठता का लोहा पूरी दुनिया में मनवा चुकी है। द्वितीय विश्व युद्ध में इंग्लैंड अपनी आर्थोडॉक्स नीतियों और अदूरदर्शिता के कारण अमेरिका का पिछलग्गू बना, तो फिर कभी अपनी गरदन ऊपर नहीं उठा सका। दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध अमेरिका के लिए वरदान साबित हुआ और धीरे-धीरे वह विश्व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। आज अमेरिकी पूंजी की ऐसी महिमा कि ब्रिटिश क्लासिक इंगलिश भी पीछे छूट गई, फ्रांस का अखंड आत्म सम्मान भी शिथिल पड़ने लगा और आज तो पूरे विश्व में अमेरिकी पूंजी और उसकी भाषा का दबदबा बनने लगा है।

दोपहर ढलनी शुरू हो गई थी। आसमान पर छाये बादल भी जाने कहां चले गये थे। धूप निकल आई थी और मौसम खुशनुमा हो गया था। अब हमें पेरिस यात्रा का आखिरी पड़ाव एफिल टॉवर जाना था। गो कि हम लोगों के भीतर उसे लेकर कोई खास आकर्षण या उत्सुकता नहीं थी, लेकिन पेरिस का जिस तरह उसे 'आई कॉन' बनाया गया था, उसमें उसकी उपेक्षा आसान भी तो नहीं थी। जाहिर था एफिल टॉवर दूर था और हमें वहां पहुंचने के लिए जरूरी जानकारियों की दरकार थी। अमेरिकी स्टाइल वाली इंगलिश सिखाने वाले विज्ञापन ने हमारे दिमाग के किसी कोने में एक सहूलियत वाली सूझ जरूर पैदा कर दी थी। इस बार अंग्रेजी जानने वाले की तलाश में हमें उतना नहीं भटकना पड़ा। हमने किसी छात्र युवक को टेपने का तय किया और हमें इसमें तत्काल

सफलता भी मिल गई। हमने जिस युवक से पूछा, वह मोटा-ताजा, काफी स्वस्थ था। उसका चेहरा थोड़ा असामान्य रूप से बड़ा था और वह मोटे फ्रेम का चश्मा पहने हुए था। हमारे अनुमान से वह कॉलेज छात्र लग रहा था लेकिन विभास जी ने बताया, वह अभी स्कूली छात्र है। किसी छोटे से यूरोपीय देश से आकर पेरिस में पढ़ाई कर रहा है। वह सहायता को तुरंत प्रस्तुत हो गया। उसे भी कोई रास्ते की जानकारी तो नहीं थी, लेकिन विभास जी के हाथ से नक्शा लेकर बड़ी तत्परता से बताने लगा। विभास जी समझ गये कि हमें कहां से मेट्रो लेनी है, कहां बदलनी है। हम दोनों ने सिर हिलाकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट की और हाथ मिलाया। यह बात आपको माननी पड़ेगी कि युवा पीढ़ी का जो एक विशाल वर्ग भारत, एशिया या पूरी दुनिया में उभरकर सामने आया है, वह ज्यादा समझदार और मानवीय है। शायद आने वाले समय में हम इन युवाओं के हाथों बेहतर समाज की कल्पना कर सकते हैं।

हम एफिल टॉवर के पास आये। एफिल टॉवर के सामने एक चौड़ी सी चिकनी सुंदर सड़क थी। सामने एक शानदार इमारत का गेट बना हुआ था, जिसके भीतर शायद नफीस वस्तुओं वाली दुकानें थीं। हम उधर नहीं गये। एफिल नामक इंजीनियर ने एक नायाब लोहे की मीनार खड़ी कर, विश्व को अपनी तकनीकी प्रतिभा का मुरीद बना लिया था। उसके आसपास पेड़, पौधे, फूल, पत्तियों और हरी घासों से बना पार्क था। दुनिया के सैलानियों से हमेशा गहमागहमी बनी रहनेवाली यह जगह प्रेमिल जोड़ों के लिए भी मशहूर थी। लगता है फ्रांसीसियों के पास प्रेम करने के लिए काफी फुर्सत होती है। दरअसल उन्हें गोपनीय जगहों की अतिरिक्त तलाश की जहमत भी नहीं उठानी पड़ती। न ही वे किसी खास वक्त की प्रतीक्षा करते हैं। बस, अंदर से ज्वार उठा और कहीं भी, किसी भी वक्त आलिंगनबद्ध हो गये। गोया प्रतिपल प्यार करने को प्रस्तुत! तमाम नैतिक आग्रहों-दुराग्रहों की बहस अपनी जगह पर और उनसे बेपरवाह पेरिस के उन्मुक्त प्रेमिल दृश्य अपनी जगह पर! कला, साहित्य, संगीत की इस अद्वितीय नगरी की यह रोमानी अभिनव संस्कृति आपको रास आती है या ठेस पहुंचाती है, इससे बेखबर यहां के प्रेमिल जोड़ों की उन्मुक्त दुनिया हर पल, हर जगह आबाद दिखती है। शरीर के इस स्पंदित संगीत को सुनकर, देखकर आपको सुखद अहसास हो या उलझन, पेरिस का यह अपना सच है।

एफिल टॉवर, मीनार की तरह खड़ा लोहे का एक विशाल स्ट्रकचर है। मुझे उसमें ऐसा कोई आकर्षण नहीं दिख रहा था, जो उसे दुनिया की आश्चर्यजनक चीजों में ताजमहल की बराबरी में खड़ा करती हो। सच पूछिये तो यह कुछ-कुछ पटना के गोलघर वाली बात लग रही थी। फिर भी दुनिया के सैलानियों की जबर्दस्त भीड़ थी। वहां पहुंचते ही कई अफ्रीकी युवक एफिल टॉवर की आकारवाली चाबी की रिंग बेचने के लिए जोरदार ढंग से घेरघार कर रहे थे। हम एक को मना करते, तो दूसरा पीछे पड़ जाता। तभी एक आवाज ने हमें बुरी तरह चौंका दिया।

''नमस्ते सर! मेहरबानी कर एक जोड़ा तो ले ही लीजिए। एक निशानी तो साथ ले जायेंगे न!'' जैसे ही कानों में हिन्दी ध्वनियां पहुंची, हम खुशी और आश्चर्य से चकित रह गये। तेजी से उसकी ओर मुखातिब हुए।

''अरे यार! कौन हो तुम! कहां से आये हो?'' हम एक साथ बहुत कुछ जानने को उतावले हो उठे। उसने शायद अपना नाम विजय या विजेन्द्र बताया। वह हैदराबाद का रहने वाला था। पिछले दो

साल से पेरिस के एफिल टॉवर में यही रिंग बेचने का काम कर रहा है।

''अरे भाई, तुम दिनभर में इसे बेचकर जितना भी कमाते हो, उतना तो तुम अपने देश में भी कमा सकते थे!'' वाकई मुझे हैरानी हो रही थी। सोच रहा था-हैदराबाद में इसके घर-परिवार वाले इसके बारे में क्या कहते होंगे? ....पेरिस में जॉब कर रहा है या बिजनेस?....

''नहीं साब! अब क्या अपने देश लौटना! वहां भी कहां नौकरी है? मेरा सेठ चार साल पहले हैदराबाद से लेकर आया था। दो साल तक तुर्की में रहा, फिर यहां लेकर चला आया। मुझे अभी यही काम सौंपा गया है। आगे वह जो करे।'' बात मेरी समझ में नहीं आ रही थी। कौन सेठ?क्या धंधा?किसके तार कहाँ से जुड़े हैं? हर आदमी की अपनी पीड़ा है, अपनी दास्तान! मेरा मन भटक रहा था। पिछले चार सालों से घर, परिवार, मुहल्ले, शहर और देश से बाहर यह आदमी दिन भर में कितने की रिंग बेच पाता होगा?उसे कितनी मजदूरी मिलती होगी?यूरो से चलने वाले इस बेहद महंगे पेरिस में इसका जीवन कैसे चलता होगा?कड़ाके की बर्फवारी में यह कैसे जीता होगा? विभास जी को यह सब खरीदने में तनिक दिलचस्पी नहीं थी। कोई ऐसी नायाब चीज भी तो नहीं थी! वह भी निराश हो, लौटकर दूसरे ग्राहकों की तलाश में चला गया। लेकिन मेरा मन पसीज गया था। एक तो अपने देश का युवा, इस तरह सात समुन्दर पार पेरिस के एफिल टॉवर के पास फेरी करते, बड़ी आस लेकर आया होगा और मैं.....। मैं अंदर से विचलित हो उठा। मैंने विभास जी से निवेदन किया। वे हंसे और तैयार हो गये! हमने उसे तुरंत ढूंढ़ लिया। वह बड़ी खुशी और आतुरता से दौड़ा पास आया।

''आप अपने देश के हैं साब! एक यूरो में दो बेच रहा हूँ आपको चार दूंगा।'' विभास जी ने हल्का-सा मोल-भाव किया और उसने दो यूरो में दस रिंग दे दिये। हमने जाते-जाते उसे फिर टोका-''अरे यार! मेरी बात मानों। इस काम को छोड़ो, अपने देश लौट जाओ!'' वह हंसा, नमस्ते किया और किसी दूसरे ग्राहक की तलाश में आगे बढ़ गया। हम कुछ देर तक एकटक उसे देखते रहे, सोचते रहे। पलभर को मैंने उसकी जगह पर खुद को रखकर सोचा, तो सच कहूं मुझे रोना आ गया। क्या मैं ऐसा जीवन जी सकता हूँ?क्या पता उसकी कोई विवशता हो! उसका मन कसकता हो और वह अपने देश लौटना भी चाहता हो! क्या उसके पास वापसी के कभी पैसे जमा हो सकेंगे?.... ढेर सारी बातें मेरे भीतर उठ रही थीं। तभी अचानक एक भारतीय चेहरे वाला चुस्त-दुरुस्त दूसरा नौजवान करीब आया। हमें हाथ उठा सलाम किया और विभास जी से पूछा- ''सर, क्या आपके पास इंडियन सिगरेट होगी?''- विभास जी की सिगरेट तो स्टुटगार्ट में ही खत्म हो गई थी। उन्होंने प्राग में कैथड्रल की एक दुकान से सिगरेट खरीदी थी। उन्होंने खेद जताया। वह निराश हो गया। हमने उससे पूछा-''तुम कहां से हो।''

'अफगानिस्तान से।' वह भी रिंग बेचने का ही काम करता है।'' आप लोगों को देखा तो बड़ी आशा से दौड़ा चला आया। काश! आप से इंडियन सिगरेट मिल जाती! बहुत दिन हो गये। अपने इंडियन सिगरेट की बात ही कुछ और होती है। अगर आपके पास होती, तो हम खरीद लेते, या यहां से एक पॉकेट खरीद कर बदल लेते।''- एक खेद उसके चेहरे पर साफ झलक रही थी। मुझे भी भारी अफसोस हुआ। मैंने कहा-''अरे यार! होता तो हम तुमको ऐसे ही भेंट कर देते।'' वह मुस्कुराया और हाथ उठा सलाम कर चला गया।

इन दोनों फेरी वालों की हिन्दी में की गई बातचीत ने पेरिस की इस शाम को और आत्मीय बना दिया था। हम फिर एफिल टॉवर के पास आ गये। हमने कई तस्वीरें ली। झुककर उसकी ऊँचाई को देखा। अंदर लिफ्ट है। पैसे दीजिए, ऊपर जाइये और पूरे पेरिस शहर का नजारा लीजिए। लेकिन हम दोनों को इस बचकानेपन में कोई रुचि नहीं थी। हम आसपास चहलकदमी करने लगे थे। पूरी भीड़ भाड़ से बेखबर बगल के पार्क में कई प्रेमिल जोड़े इस शाम को और खूबसूरत बनाने में लगे हुए थे। सामने खूब सुंदर सड़क, उस पर आते-जाते तेज वाहन, उस पार सुंदर इमारत का गेट। उसके आगे पीछे कुछ ऊंची पहाड़ियाँ और उस पर गजबज बसाव!

मौसम वाकई खुशनुमा था और पेरिस की मशहूर शाम में हम एफिल टॉवर से विदा ले रहे थे। सामने की पहाड़ियों पर बनी प्राचीन इमारतों की बत्तियां जलनी शुरू हो गई थीं। हम बड़ी मस्ती में पेरिस की शाम में भींग रहे थे। विभास जी की टिप्पणी एकदम सही थी-हम सात दिन रुक कर भी पेरिस में इससे ज्यादा नहीं घूम पाते। हमारे पास वक्त था और लौटने के लिए किसी से पूछताछ की कोई जरूरत नहीं थी। हम आकर स्टेशन के लिए मेट्रो में बैठ गये। अचानक एक स्टॉपेज पर एक बहुत बड़े नगाड़े, एक बड़े से ढोल और पिस्टन लिये तीन मोटे-ताजे युवक चढ़ आये। एक मोटी सी युवती ने हाथ में पोर्टेबल माइक लिया और एक स्पॉनी लोकगीत छेड़ दिया। उसने एक पैर पीछे कर रखा था, दूसरा आगे। गाते हुए वह आगे झुकती, फिर पीछे, ऐसा लग रहा था, वह मानों किसी स्टेज पर परफार्म कर रही हो। उस लातिनी गीत का कुछ भी हमारी समझ में नहीं आ रहा था, फिर भी उसके आलाप अच्छे लग रहे थे। आवाज के कंपन में एक कशिश थी। नगाड़े, ढोल और पिस्टन की आवाज शायद गीत के लय में थी। कुछ पलों के लिए एक समां बंध गई। दूसरा स्टॉपेज आते ही उसने अगल-बगल एक गिलास बढ़ाया, कुछ ने सिक्के डाले और वे एक झटके में नीचे उतर गये। मेट्रो के डिब्बे में उनकी आवाज, उसका कंपन अब भी गूंज रहा था। हम समय से स्टेशन पर आ चुके थे। यह जानते थे कि पेरिस की सतह को छू कर ही हम लौट रहे हैं। हम इसकी रातों की रंगीन लहरों में बिना तैरे वापस हो रहे हैं। हम न किसी थियेटर में गये, न कोई कंसर्ट सुना, न कोई फिल्म देखी, न पब, न रेस्तारां, न ही किसी नाइट क्लब की सैर की। न किसी कलाकार, संगीतकार या लेखक से मिले, फिर भी कहेंगे हम तो पेरिस घूम आये हैं। लेकिन हम अपने मन को समझा सकते थे, आखिर मुंबई या दिल्ली की अंदरूनी दुनिया को ही हम कितना जानते हैं, कितना देख पाये हैं! हम दिन भर भागते-दौड़ते रहे। फिर भी हमें थकान महसूस नहीं हो रही थी। हम इधर-उधर टहलते हुए पेरिस स्टेशन पर वक्त गुजारते रहे। थोड़ी देर बाद हमारी ट्रेन आकर लगी। हम वापसी में तीन-साढ़े तीन सौ किलोमीटर प्रति घंटे की रफ़्तार तक चलने वाली दुनिया की सर्वाधिक तेज ट्रेनों में से एक में सवार थे। जब हम आकर अपनी सीट पर बैठे तो पेरिस अब भी हमारे भीतर घुमड़ रहा था। आधी-अधूरी यात्रा के बावजूद हम अंदर से पूरी तरह भरे हुए थे। हम पेरिस को कभी नहीं भूल पाएँगे।

रचना संदर्भ

आलोकधन्वा उन कवियों में हैं जो अपनी शुरूआती कविताओं के लिए आज भी उसी शिद्दत से याद किये जाते हैं। 'जनता का आदमी', 'गोली दागो पोस्टर', 'कपड़े के जूते', 'ब्रूनो की बेटियाँ', 'सफेद रात' सरीखी बेहद धारदार और असरदार कविताओं के रचयिता का पहला कविता-संग्रह उन्नीस सौ अट्ठानवबे में प्रकाशित हुआ था। इक्यावन वर्ष की अवस्था में। उसे पाठकों का अपार स्नेह मिला। लम्बी चुप्पी साधने में आलोकधन्वा का कोई मुकाबला नहीं। खैर! ठीक बारह वर्ष बाद उन्होंने चुप्पी तोड़ी है। 'बहुवचन' में उनकी चार नयी कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं। जीवन की छोटी-छोटी चीजों पर बहुत ईमानदारी से लिखी गयी ये कविताएँ उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का नया साक्ष्य हैं। आशा है, उनकी कविता का अरसे से इन्तजार कर रहे पाठक इन्हें पसन्द करेंगे।

– संपादक

आलोकधन्वा

मुलाक़ातें

अचानक तुम आ जाओ

इतनी रेलें चलती हैं
भारत में
कभी
कहीं से भी आ सकती हो
मेरे पास
कुछ दिन रहना इस घर में
जो उतना ही तुम्हारा भी है
तुम्हें देखने की प्यास है गहरी
तुम्हें सुनने की

कुछ दिन रहना
जैसे तुम गई नहीं कहीं

मेरे पास समय कम
होता जा रहा है
मेरी प्यारी दोस्त
तुम इस ख़त को पढ़ते ही
दिन हो कि रात
पार कर के आना

घनी आबादी का देश मेरा
कितनी औरतें लौटती हैं

शाम होते ही
अपने-अपने घर
कई बार सचमुच लगता है
तुम उनमें ही कहीं
आ रही हो
वही दुबली देह
बारीक चारखाने की
सूती साड़ी
कंधे से झूलता
झालर वाला झोला
और पैरों में चप्पलें
मैं कहता जूते पहनो खिलाड़ियों वाले
भाग दौड़ में भरोसे के लायक

तुम्हें भी अपने काम में
ज़्यादा मन लगेगा
मुझसे फिर एक बार मिलकर
लौटने पर

दुख-सुख तो
आते-जाते रहेंगे
सब कुछ पार्थिव है यहाँ
लेकिन मुलाक़ातें नहीं हैं
पार्थिव
और इनकी ताज़गी
रहेगी यहीं
हवा में!

आम के बाग़

आम के फले हुए पेड़ों
के बाग़ में
कब जाऊँगा?

मुझे पता है कि
अवध, दीघा और मालदह में
घने बाग़ हैं आम के
लेकिन अब कितने और
कहाँ कहाँ
अक्सर तो उनके उजड़ने की
ख़बरें आती रहती हैं।

बचपन की रेल यात्रा में
जगह जगह दिखाई देते थे
आम के बाग़
बीसवीं सदी में

भागलपुर से नाथनगर के
बीच रेल उन दिनों जाती थी
आम के बाग़ों के बीच
दिन में गुजरो
तब भी
रेल के डब्बे भर जाते
उनकी अँधेरी हरियाली
और ख़ूशबू से

हरा और दूधिया मालदह
दशहरी, सफेदा
बागपत का रटोल
डंटी के पास लाली वाले
कपूर की गंध के बीजू आम

गूदेदार आम अलग
और रस से भरे चूसने के लिए
अलग
ठंढे पानी में भिगोकर
आम खाने और चूसने
के स्वाद से भरे हैं
मेरे भी मन प्राण

हरी धरती से अभिन्न होने में
हज़ार हज़ार चीज़े
हाथ से तोड़कर खाने की सीधे
और आग पर पका कर भी

यह जो धरती है
कच्ची मिट्टी की
जिसके ज़रा नीचे नमी
शुरु होने लगती है खोदते ही!

यह जो धरती मेरी
मेढक और झींगुर
के घर जिसके भीतर
मेढक और झींगुर की
आवाज़ों से रात में गूँजने वाली
यह जो धारण किये हुए है
सुदूर जन्म से ही मुझे
हम ने भी इसे संवारा है!

यह भी उतनी ही असुरक्षित
जितना हम मनुष्य इन दिनों

आम जैसे रसीले फल के लिए
भाषा कम पड़ रही है
मेरे पास

भारतवासी होने का सौभाग्य
तो आम से भी बनता है!

गाय और बछड़ा

एक भूरी गाय
अपने बछड़े के साथ
बछड़ा क़रीब एक दिन का होगा
घास के मैदान में
जो धूप से भरा है

बछड़ा भी भूरा ही है
लेकिन उसका नन्हा
गीला मुख
ज़रा सफेद

उसका पूरा शरीर ही गीला है
गाय उसे जीभ से चाट रही है

गाय थकी हुई है ज़रूर
प्रसव की पीड़ा से बाहर आई है
फिर भी
बछड़े को अपनी काली आँखों से
निहारती जाती है
और उसे चाटती जा रही है

बछड़े की आँखें उसकी माँ
से भी ज़्यादा काली हैं
अभी दुनिया की धूल से अछूती

बछड़ा खड़ा होने में लगा है
लेकिन
कमल के नाल जैसी कोमल
उसकी टाँगें
क्यों भला ले पायेंगी उसका भार!
वह आगे के पैरों से ज़ोर लगाता
है

उसके घुटने भी मुड़ रहे हैं
पहली पहली बार
ज़रा-सा उठने में गिरता
है कई बार घास पर
गाय और चरवाहा
दोनों उसे देखते हैं

सृष्टि के सबक हैं अपार
जिन्हे इस बछड़े को भी सीखना होगा
अभी तो वह आया ही है

मेरी शुभकामना
बछड़ा और उसकी माँ
दोनों की उम्र लम्बी हो

चरवाहा बछड़े को
अपनी गोद में लेकर
जा रहा है झोपड़ी में
गाय भी पीछे-पीछे दौड़ती
जा रही है।

बुलबुल के तराने

एक नन्ही बुलबुल
गा रही है
इन घने गोल पेड़ों में
कहीं छुप छुप कर
गा रही है रह-रह कर

पल दो पल के लिए
अचानक चुप हो जाती है
तब और भी व्याकुलता
जगाती है
तरानों के बीच उसका मौन
कितना सुनाई देता है!

इन घने पेड़ों में वह
भीतर ही भीतर
छोटी छोटी उड़ाने भरती है
घनी टहनियों के
हरे पत्तों से
खूब हरे पत्तों के
झीने अँधेरे में
एक ज़रा कड़े पत्ते पर
वह टिक लेती है

जहाँ जहाँ पत्ते हिलते हैं
तराने उस ओर से आते हैं

वह तबीयत से गा रही है
अपने नये कंठ से
सुर को गीला करते हुए
अपनी चोंच को पूरा खोल कर

जितना हम आदमी उसे

सुनते हैं
आसपास के पेड़ों के पक्षी
उसे सुनते हैं ज़्यादा

नन्ही बुलबुल जब सुनती है
साथ के दूसरे पक्षियों को गाते
तब तो और भी मिठास
घोलती है अपने नये सुर में

यह जो हो रहा है
इस विजन में पक्षीगान
मुझ यायावर को
अनायास ही श्रोता बनाते हुए

मैं भी गुनगुनाने को होता हूँ
पुरानी धुनें
वे जो भोर के डूबते तारों
जैसे गीत!

एकान्त श्रीवास्तव

बाबूलाल और पूरन

वह एक बूढ़ा था और अपाहिज
किसी बाबूलाल का नाम वह बार-बार लेता था
कि हाय, बाबूलाल ने धोखा दिया
वे चार थे
उनको गाड़ी बदलनी थी

रात का अंतिम पहर
एक बड़े नगर का व्यस्त स्टेशन
मगर इस वक्त भीड़ कुछ कम, कुछ शांति
वे चार थे- एक अपाहिज बूढ़ा जो शायद दादा था
एक अट्ठारह-उन्नीस साल का लड़का- शायद उसका नाती
जो बूढ़े को दोनों हाथों से उठाकर
ट्रेन से उतारकर प्लेटफार्म की इस खाली जगह पर
लाया था लगभग ढोकर और हाँफ रहा था
बूढ़े की बहू भी थी साथ
कमजोर, साँवली अधेड़-सी स्त्री
बहुत चुप-चुप और उदास-सी
हाँ-हूँ करती हुई हर सवाल के जवाब में
एक और नाती था छोटा लगभग सात-आठ बरस का
बिंदास जो मगन था खेल में और बात में
दीन-दुनिया से बेखबर हो जैसे

बूढ़ा बहुत बोलता था लगातार
उसका बड़ा नाती जिसका नाम शायद पूरन था
इतना ऊब चुका था उसकी नसीहतों से
कि हूँ-हाँ करना भी बंद कर चुका था कभी का
बस छोटा नाती सुर से सुर मिला देता था कभी
वे बहुत गरीब से लगते थे कमाने-खाने वाले
उनके कपड़े मैले हो चुके थे सफ़र में

नातियों के पाँव थे नंगे
बूढ़ा झेल रहा था बुढ़ापे और बीमारी की मार
उसके दोनों पाँव बेकार थे
ऐसे में पड़ी थी उसे दुःख और धोखे की एक और मार
किसी बाबूलाल का नाम वह बार-बार लेता था
कि हाय, बाबूलाल ने धोखा दिया

बूढ़े की बड़बड़ाहट भरे एकालाप से एक करुण कथा की
कुछ झलक मिलती थी
वे शहर से आए थे और उन्हें सुबह
गाँव के लिए पैसेंजर पकड़नी थी
बूढ़े का बेटा था बाबूलाल
शहर की किसी फैक्टरी में वर्कर
किसी मोहल्ले के छोटे-से किराए के घर में
जो रहता था अपने बीबी बच्चों और पिता के साथ
मगर किसी और स्त्री के लिए उसने धोखा दिया सबको
केवल पिता को ही नहीं छोड़ दिया बीबी-बच्चों को भी
थोड़ी-सी खेती और गाँव के टूटे-फूटे मकान के सहारे
बाकी ज़िंदगी गुजारने की सोचकर बूढ़ा चला आया
शहर छोड़कर अपने नातियों के सहारे बहू को साथ लिये
ऐसी हालत में जब खाट पर पचना भी था मुश्किल

मगर बूढ़े के पास थी अनुभव की तेज़ आँख
जिससे बताता जाता था वह रास्ता
और पूरन- उसका कम पढ़ा लिखा बड़ा नाती- उस पर
चलता जाता था कि टिकट कहाँ कटाना है
पूछताछ कहाँ करनी है
किस प्लेटफार्म पर आएगी गाड़ी
उनको देखकर अंधे और लंगड़े की कहानी याद आती थी

एक न एक दिन हमारे जीवन में आता है
कोई न कोई बाबूलाल
कभी न कभी धोखा देता हुआ
कितने-कितने बाबूलालों के धोखों से भरी इस दुनिया में
हम जिये चले जाते हैं
कि हमें मिल ही जाता है सहारे के लिए
किसी न किसी पूरन का कंधा।

आम बेचती स्त्रियाँ

यह गाँव का स्टेशन था
यहाँ केवल पैसेंजर रुकती थी
वहाँ मुझे वे दिखाई दीं
आम बेचने वाली स्त्रियाँ
छोटी-छोटी टोकनियों में
बारह-बारह पके देशी आम लिये
इस बोगी से उस बोगी तक दौड़ती हुईं
पूछती हुईं
खिड़की के पास बैठे हर मुसाफिर से
केवल दस रुपए में एक दर्जन देशी मीठे आम
शहर के बाज़ार में जो दुर्लभ
पंचदारा कंची
बारहमसी
हनुमान पसंद
नागरिक जिसके नाम व स्वाद से अनभिज्ञ
ठेठ जंगल-पहाड़ों के वृक्षों में पके
उन देशी आमों की मीठी गंध से
महक उठा था पूरा प्लेटफॉर्म

कोई भाव करता
कोई देखता सूँघकर
कोई खरीद लेता तो वे हो जातीं प्रसन्न
चमक उठतीं उनकी आँखें

ट्रेन यहाँ बस दो मिनट रुकती
इत्मीनान से बैठे मुसाफिर
मज़ा लेते उनकी हड़बड़ाहट का
जो चेहरे, आवाज़ और आँखों से झाँकती
और एक बेचारगी भी जिसे वे भरसक
चेहरे पर आने से रोकतीं
कि बिक ही जाएँ आम

दूसरी ऋतुओं में करती होंगी
वे कोई दूसरा काम
खेती या बनिहारी जैसा कुछ

मगर अभी वे लाई थीं जंगलों से तोड़कर
पके, मीठे देशी आम
उन पगडंडियों से चलकर
जिन्हें ढँक लिया था ऊँची घास ने
जिन्हें केवल उनके पाँव पहचानते थे

बस दो मिनट में चलने लगती ट्रेन
कुछ शरारती और धूर्त मुसाफिर
पैसे देने का उपक्रम करते
जानबूझकर देर करते
वे गिड़गिड़ाती हुई-सी दौड़तीं
ट्रेन के साथ-साथ
अंत में हारकर कहतीं- बाबू, कम से कम
टोकनी ही फेंक दो, खिड़की से बाहर

ऐसे में फिंकी हुई टोकनी को
अपने सीने से लगाए वे खड़ी रहतीं हताश
देर तक जाती हुई ट्रेन को देखतीं
देख सको तो देखो, क्रोध की अग्नि में
जलती हुई उनकी आँखें
और डूबती हुई करुणा के जल में
खून-पसीने की उनकी कमाई का
मोल दिये बगैर जो चले गए- ऐसे
मुसाफिरों को सरापती वे खड़ी रहती हैं
देर तक प्लेटफॉर्म पर

तुम अपनी मस्ती में इतराते चले जाते हो
उन गरीब स्त्रियों के पैसे दिये बगैर
और यह जाने बिना
कि दुआएँ चाहे हो जाती हों बेअसर
इस दुनिया में
मगर उस शाप से मुक्त होना आसान नहीं
जो तुम्हें दिया जा चुका है।

बोधिसत्व

स्थाई पता

जब जंगल के पेड़ कट जाते हैं
तब पखेरू अपना स्थाई पता
क्या बताते हैं
जब नदी बहा ले जाती अपने कछार के घर
तब लोग अपना स्थाई पता
क्या छपाते हैं।

वे हिरन जिनको कभी युवराज राम ने मारा तो
कभी महाराज दशरथ ने जिसे मारा
वे श्रवन कुमार कहाँ के स्थाई निवासी थे

हमारे सप्त चिरंजीवी
वे सात दिव्य लोग जो धरती के हैं स्थाई निवासी
जिन्हें मृत्यु भी नहीं खोजती
उनका स्थाई पता क्या है।

कहाँ रहता होगा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा
क्या दिल्ली के आस-पास भटकता होता घाव भरे माथे को सहलाता
पिता को याद करता रोता फिरता होगा कुरुक्षेत्र में
कृष्ण को कोसता
युद्ध-युद्ध बुदबुदाता।

क्या बलि को मिला होगा कहीं कोई घर-छप्पर
क्या व्यास की कुटिया होगी कहीं स्थाई
जमी-जमाई गृहस्थी होगी हनूमान की
और विभीषण का कोई निश्चित घर होगा
लंका और अयोध्या या कहीं भी
परशुराम और कृपाचार्य क्या पा गए होंगे कोई स्थाई बसेरा
जब इन्हें मरना ही नहीं है तो

कहीं तो रह रहे होंगे स्थिर और शांत
कि अब मरने-जन्मने का कोई झमेला नहीं है तो
कहीं रह लिया जाए ठीक-ठिकाने से
कहाँ रहते हैं हमारे ये सातों पूर्वज स्थाई रूप से।

क्या कोई खोजता होगा इनको
क्या कोई चिट्ठी लिखता होगा इनको
क्या मैं अगर इनको पुकारूँ तो इन तक पहुँचेगी मेरी आवाज

इनकी छोड़िए
वे शेर जिनकी माँदों में मशाल जला कर
उन्हें बेदर कर दिया गया
उन्होंने फिर कहाँ किया होगा बसेरा
क्या उन्होंने मशाल या बंदूक बनाने की कोई फैक्ट्री डाली होगी
क्या उन्होंने कहीं कोई मुकदमा दायर किया होगा
अपना घर छिन जाने पर उन्होंने कैसे खुद को समझाया होगा
क्या किया होगा
कैसे अपने पूर्वजों को पुकारा होगा
कैसे अपने पुश्तैनी बसेरे को बिसारा होगा

हर पल टूट कर गिरते हैं कितने तारे
अंतरिक्ष के किसी किनारे
उनकी तो राख तक नहीं पहुँचती किसी दर तक
हर पल छूट जाते है लोग कितने सारे
धरती के किसी किनारे
उनकी तो हाँक तक नहीं पहुँचती किसी घर तक

एक सौ बीस साल तक रहा संत कबीर का ठिकाना बनारस में कहीं
लेकिन उनका स्थाई पता नहीं मिल रहा
कोई कहता है कि उनका स्थाई पता तो बता सकते थे तुलसी
लेकिन उनका भी स्थाई पता नहीं मिल रहा मुझे
बुद्ध का क्या था स्थाई पता
कहाँ रहते थे वे
सारनाथ में, पावा में या कपिलवस्तु में
क्या था सीता का स्थाई पता
धरती में धँसने के पहले
और सती का भस्म होने के पहले

और यशोधरा का
निर्वाण के पहले
या कि सिद्धार्थ के चले जाने के बाद

क्या कोई सांस किसी देह में रहती है सदा
क्या कोई लहर टिक कर रहती है तट पर
क्या बादल अडिग रहते हैं नभ में
क्या अचला धरती स्थाई है
क्या कहीं भी कोई स्थाई हो सकता है

क्या लिखते हो तुम अपना स्थाई पता
क्या है मेरा अपना स्थाई पता

यदि स्थाई पते का खाना न भरूँ
तो क्या बताऊँ, क्या करूँ

यह सब आप पर छोड़ता हूँ
जो आपका है वही मेरा है
जिस धरती पर आप का है
उसी पर मेरा भी बसेरा
मैं लिखूँ या आप दर्ज करें
स्थाई पता खो देने के लिए आप मुझे माफ करें।

भारत दुर्दशा

१

रास्ते में देश मिला
भागता दौड़ता चला जा रहा था
मैंने पूछा कहाँ जा रहे हो
बहुत जल्दी में हो
बोला उधर ही जिधर सब ले जा रहे हैं।
जिधर कबीर ने कहा उधर गया कुछ दिनों
जिधर तुलसी ने कहा उधर भी गया
नेहरू-गांधी-अंबेदकर-लोहिया-नम्मूदिरी-अन्नादुरई-एनटीआर
मनु, कृष्ण, बुद्ध, राम, शंकर, महावीर कितने-कितने अवतार
सबके कहे पर गया सब तरफ
अभी भी उधर ही जा रहा हूँ जिधर कह रहे हैं
दिल्ली वाले जाने को।
मन भर गया है
लेकिन मैं देश हूँ ठहर तो नहीं सकता
थक गया हूँ लेकिन पसर तो नहीं सकता
इसलिए अभी उधर ही जा रहा हूँ
जिधर जाने को बहुत सारे लोग कह रहे हैं,
फिर जाता हूँ कह कर
देश मुझे चौराहे पर छोड़ कर आगे चला गया
मैंने कहा जाओ
सकुशल रहना
लेकिन वह तेजी में था
चला गया
बस बोला कि मेरे बारे में किसी से कुछ न कहना
आरती उतारना, जै-जै करना औ चुप रहना

२

वह चला गया
मैं उसकी बात न मान कर बताता हूँ
उसकी छवि याद करके डर जाता हूँ
सिर पर जटाएँ थीं
हाथों में कुदाल थी या फरसा था

खूब गदरायी सांवली देह थी
घावों से भरी,
आँखें थी दूर तक देखती झाईं परी
सुर था सधा कुछ-कुछ थर्राया सा
मुख था अमंद लेकिन बर्राया सा
जैसे कोई बौराया
भूल जाए अपना नाम
भूल जाए अपना काम
पता-ठिकाना घर-धाम
वैसे ही था डगमग वह छविधाम
राम राम क्या कहूँ बोलना कठिन है
निरन्न था, दुखी था
पर रह-रह कहता स्वयं को सुखी था
मैंने जब पूछा क्या पितामह क्या हाल है
चहक कर बोला ठीक हूँ,
फिर बोला अच्छा हूँ
फिर बोला महान हूँ
देश हूँ खुश तो रहूँगा ही
रोता रहूँ यह मुझे शोभता नहीं
क्या कोई चरवाहा, किसान हूँ
क्या ताले बनाता हूँ,
क्या बीड़ी बनाने वाला हूँ
क्या मैं तमोली हूँ
पैदल जा रहा हूँ तो क्या खेतिहर मजदूर समझा है
ऐसा कोई नहीं जो सह सके मेरा भार
अपार है मेरी खुशी
सुना नहीं सब दिल्ली वाले कह रहे हैं एक सुर से कि महान हूँ तो
मानते क्यों नहीं तुम कि मैं महान हूँ।

क्या तुम चाहते हो कि कह दूँ कि महान नहीं हूँ
उलझन में हूँ लेकिन इतना नादान नहीं हूँ

३

थोड़ी दूर जाकर वह लौट आया
फिर उसने अपना गौरव-गान रो-रो कर खुद गाया
उसने याद किए बड़े सारे गए बीते दिन
उसने अतीत की एक दौड़ लगाई

उसने स्वयं की आरती गाई
उसने कहा सब चले गए
उसने कहा सब छले गए
उसने कहा कि वह भारतवर्ष है
इस का उसे बहुत हर्ष है
फिर उसने कुछ ऐसा कहा जो कि मैं यहाँ नहीं कह सकता
फिर रोते-गाते वह चुप हो गया
वह किसी पुरानी बात में खो गया
फिर उसने अपने घाव दिखाए
फिर उसने अपने गोपनीय वृत्तांत सुनाए
वह अपने अतीत से सुखी था
वह सुखी था और सोना चाहता था
पर उसे याद आया कि वह देश है
सो नहीं सकता
उसे देख कर लगा कि
वह दुखी था और रोना चाहता था
मैंने उसे याद दिलाया कि वह देश है
रो नहीं सकता
वह जाग गया
मुझसे दिल्ली का रास्ता पूछा
और उधर ही वह भाग गया

४

उसके पीछे-पीछे
कुछ लोग आए
उनके पास थीं कुछ मुर्गियाँ, कुत्ते
और
कुछ दुर्बल चौपाए
वे अपने उस देश को खोज रहे थे
उनका रूप-रंग भी देश की तरह का था
वे भी पोर-पोर घाव से भरे थे
वे भी बिकल थे कुछ डरे थे
उनका भी कहना था कि वे उधर ही जा रहे हैं
जिधर उन्हें जाने को कहा जा रहा है
कुछ लोग उनको हांक रहे हैं
वे रुक नहीं सकते

वे जनता हैं जनता रो तो सकती है
लेकिन रुक नहीं सकती
वे तेजी में थे
जैसे कोई उनके पीछे पड़ा हो
जैसे कोई उनके पीछे खड़ा हो
कोई धकिया रहा था
उनको
कोई छील रहा था नोंच निकिया रहा था
उनको
वे सस्वर बोल रहे थे
वे अपना स्वर तोल रहे थे
वे इधर-उधर देख रहे थे
वे आकाश में रेख रहे थे
वे संशय से भरे थे
वे जैसे मरे थे
पर उनका कहना था कि वे जनता है
सो तो सकती है लेकिन मर नहीं सकती
तो
वे उठे अचानक और पेट-पीठ बजाने लगे
वे झूम-झूम कर देश की आरती गाने लगे।
वे देश-देश करके झूमने गाने लगे
वे देश के जैसा भेष बनाने लगे
फिर वे देश हो गए
फिर वे खो गए
फिर उन्होंने मुझसे अपना नाम पूछा
फिर उन्होंने मुझसे अपना काम पूछा
मैंने याद दिलाया कि वे तो देश को खोजने निकले थे
देश खोजने की बात आते ही
उनमें से एक बोला
रात जाते ही हम चल देंगे
दिल्ली वालों को कुचल देंगे
अपना देश लेकर चले आएँगे
देश को गले लगाएँगे
फिर उसे कहीं जाने न देंगे
उसे किसी का अन्न न खाने देंगे
सब खराबी दिल्ली के नमक में है
सब खराबी दिल्ली की चमक में है

वे उसे दिल्ली जाने न देंगे।
सब हुए सहमत उठे फिर
एक नारा दिया जुटे फिर
था बड़ा जयघोष मुर्दाबाद दिल्ली
था बड़ा उद्घोष हो बर्बाद दिल्ली

५

तभी एक हुंकार से वे डर गए
सब उठे और शांति से भर गए
सबने सोचा क्या देश केवल उन्हीं का है
सबने सोचा क्या करेंगे देश लेकर
अपने घर में अन्न है और खाट है
अपने घर में धन है और टाट
जो दुखी हैं वे दुखी हैं
हम सुखी हैं हम सुखी हैं
देश का क्या कोई ठेका मिला है।

बात खत्म हुई देश की
फिर दिखा देश घिरा था
धरती पर मुंह के बल गिरा था
लोग उसको नोंच रहे थे लूट रहे थे
उसके हाथ पीठ पर बंधे थे
लोग उसको कोंच रहे थे, टूट रहे थे
वह देश था उठने को छटपटा रहा था
गिर रहा था, लटपटा रहा था
वह तुतला रहा था, हकला रहा था
थोड़े से ग्रामीण शहरी और बहुत से दिल्ली वाले
मिल कर भक्षण कर रहे थे, सब उजले काले।
वह देश था
चौराहे पर पड़ा था
उठने की जिद पर अड़ा था
कुछ लोगों ने देश को रोक लिया था
उसके गले में त्रिशूल सा कुछ भोंक दिया था।

मुसुआ

(नन्हें शाश्वत के लिए)

हरि भटनागर

गजराज को चमेली बाई की सेवा में लगा दिया गया है।

चमेली बाई बला की हसीन हैं। इतनी कि लोग आह करके रह जाते। ऊँचा माथा, उस पर बड़ी-सी बिन्दी। बड़े-बड़े काले बाल जो लम्बी चोटी की शक्ल में रहते। नाक लम्बी और निहायत ही चिकनी। गाल सेब की तरह लाल और गला- देखते ही बनता था।

जब वो अच्छे से तैयार होकर, चोटी करके और लहरदार, चमकीला और बड़े घेर का घाघरा पहन के मंच पर उतरतीं, लोग दीवाने होकर, चिल्ला-चिल्लाकर उनका स्वागत करते। चमेली बाई झुक-झुकके सबको सलाम करतीं, कहतीं-हमारे स्वागत के लिए तहे-दिल से आप सभी का शुक्रिया!!!

चमेली बाई ने खुद की कम्पनी खोल रखी है जिसमें वे अकेली शाम से लेकर देर रात तक फ़िल्मी और देशी गाने नगाड़े की किर्र के बीच जानमारू अदा में गाती हैं। चमेली बाई हर आदमी से टिकट के रूप में बीस रुपये लेती हैं। और यही उनका जीविकोपार्जन का एकमात्र सहारा है।

तकरीबन चार-पाँच घण्टे लगातार चमेली बाई गातीं और उसकी तर्ज़ पर विभिन्न मुद्राओं में नाचती हैं। इसके बाद वो थककर चूर हो जातीं। फिर उनकी उठने की हिम्मत नहीं पड़ती। भयंकर थकान और नींद के बीच वे थोड़ा-बहुत खा लेती हैं, लेकिन उनसे खाया नहीं जाता। उन्हें आराम की ज़रूरत होती है।

●

गजराज को उनकी सेवा के लिए लाया गया है। यह उनकी सेवा करेगा। हाथ-पाँव टीपा करेगा। पूरा ख़्याल रखेगा ताकि वो खाना तो ठीक से खा लें और दूसरे दिन नाचने लायक तो रहें।

लेकिन गजराज को यह काम पसंद नहीं। चमेली बाई- वह भी बेड़नी, नीच जात का गोड़ टीपना- उसे किसी भी तरह सह्य नहीं लग रहा है। वह परेशान है, गुस्से में, लेकिन असहाय! दूसरा कोई काम नहीं जो उसे मिल सके...

सुबह जब उसे चमेली बाई की सेवा के लिए लाया गया, चमेली बाई उसे देखकर इंतहा ख़ुश हुईं। उन्होंने पूछा कि तेरा नाम क्या है?

गजराज ने बताया तो वे चिहुँककर हँस पड़ीं। चोली में भयंकर हरकत हुई और वो देर तक ठठा-ठठाके हँसती रहीं। कहतीं- गजराज नाम है तेरा! गजराज !!! हे भगवान!!! लेकिन तू तो इत्ता दूबर, मरघिल्ला है कि इस नाम की बेइज़्ज़ती हो रही है। मैं तेरा नया नाम रखती हूँ जो कम्पनी में सिक्के की तरह चलेगा। बताऊँ नाम- तेरा नाम होगा- मुसुआ! कहकर वो इतना ज़ोरों से हँसीं कि गजराज शर्मा गया। कट के रह गया।

चमेली बाई थीं कि कहे जा रही थीं, हँसी के बीच कित्ता सुंदर नाम है तेरा, मुसुआ! मुसुआ राजा! उन्होंने उरोजों को हाथों की गोलाई में भरा और नाच के यह गाना गाया-

पीले राजा दुधुआ
मोटाजा बाबू मुसुआ!
पीले राजा...

चमेली बाई गाती जातीं और हँस-हँस के लोट-पोट होती जातीं।

इस बीच उन्होंने गजराज को बाएँ हाथ के दायरे में ज़ोरों से भर लिया और उसके मुँह को अपने दोनों उरोजों से भिड़ा दिया और जबरदस्त हँस के कहा- मेरा दूध पिएगा तो मोटाय जाएगा मुसुआ!

गजराज शर्म से गड़ गया। कैसी औरत है! ज़रा भी लाज-हया नहीं। उसे अपने दूधों से लगा रही थी। हे भगवान! कोई देख लेता तो क्या कहता?

लेकिन कहते हैं कि ख़ुदा मेहरबान तो गधा पहलवान! गजराज इस कथन के मर्म को समझ रहा है, अटकी में है, मजबूर। इसलिए चमेली बाई के पाँव टीप रहा है।

●

कल देर रात तक वह चमेली बाई के मुलायम-मुलायम, नाजुक-चिकने पाँवों को टीपता रहा। चमेली बाई कहती रहीं- तेरे हाथों में दम नहीं मुसुआ! ज़रा ज़ोर लगा के टीप! ज़ोर लगा, हाँ ऐसे। ऊपर ला हाथ और ऊपर और ऊपर... शर्माता काहे को है राजा! मैं कोई बेगानी नहीं, दबा ज़ोर से...

गजराज शर्माता, चमेली बाई कहतीं- शरमाता काहे को है मुसुआ? तेरे तो भाग्य हैं कि तू मेरा गोड़ टीप रहा है, इहाँ लोग गोड़ देखने को तरस रहे हैं, लाखों खरचने को तैयार हैं... हाँ, दबा और ऊपर और ऊपर...

रात को ऊपर तक टीपते गजराज को उतनी शर्म नहीं आ रही थी जितनी कि इस बख़त आ रही है कि वह पानी-पानी हुआ जा रहा है। दम घुटा जा रहा है उसका।

गाँव का सरपंच टीन की कुर्सी पर बैठा है। सूस जैसा मोटा। गरदन भालू जैसी। हाथ-पाँव भी

ऐसे। बड़ी-सी रंग-बिरंगी छींट की पग्गड़ बाँधे है। धोती पहने है और ऊपर मिरजई। काँधे पर लाल गमछा। पाँव में चमरौंधा धूल और तेल से अटा। पीतल की चमकती मूठवाली छड़ी टिकाए है वह पाँवों के बीच।

सरपंच ललचाई नज़रों से चमेली बाई को देख रहा है। उसकी आँखों में कामुकता है और चमेली बाई को किसी तरह भोग लेने की ललक! वह बड़ी-बड़ी मूँछों को बाएँ हाथ से मरोड़ा दे रहा है और सोच रहा है कि यह छोकरा कितना भाग्य का बली है जो इसकी टहल में है...

गजराज को लग रहा है कि सरपंच उसे देख रहा है और मन ही मन कह रहा है कि साले, तुझे यही काम मिला था करने को, नीच जात के पाँव टीप और उसके बदले में लुकमे तोड़। हद है तेरी जात को। नाक कटा दी तूने। तू तो नीच से भी नीच हो गया है- परमनीच!

गजराज पाँव टीपते-टीपते रुका तो चमेली बाई चिल्ला उठीं ठीक से गोड़ दबाता क्यों नहीं पापी! ठीक से दबा। ताक़त लगा... ज़ोर से, और ज़ोर से दबा...

यकायक चमेली बाई ने सरपंच से पूछा- मूस में कित्ता दम होता है सरपंच जी?

सरपंच जी की तंद्रा टूटी। बात वे समझ नहीं पाए। खोखली हँसी हँसने लगे। छड़ी की मूठ पकड़े वे उँगलियों के पोरों से मूँछों को सहलाने लगे। उन्होंने कहा- बहुत गरमी है। रावटी में ज़रा भी दम नहीं जो ताप रोक ले। अच्छा, चलता हूँ, शाम को भेंट होगी, जय राम जी की!

●

उस रात गजराज को भयंकर गुस्सा आया। थककर चूर आईं चमेली बाई का वह तीन घण्टे से गोड़ टीप रहा है, पूरी ताक़त से, लेकिन चमेली बाई हैं कि बार-बार चिल्ला पड़तीं कि ज़ोर से टीप! ज़ोर से टीप! मन भर खाता है, रोटी पे रोटी उड़ाता है, हाथों में ज़रा भी दम नहीं, ज़ोर से टीप!

और वे गोड़ झटकती जाती थीं।

गोड़ झटकना गजराज को उतना नहीं खला और न ही ताने मारना जितनी यह बात खल गई। उन्होंने दर्द से तड़पते हुए पैर झटका कि पैर उसके मुँह में लगा। गजराज को यह बात साल गई और वह आगबबूला हो उठा- साली छिनाल, लात मारती है। मैं इत्ती सेवा कर रहा हूँ, जाग-जाग के पैर दबा रहा हूँ उसका फल यह कि लात खाऊँ- साली मुँह पे लात मार रही है... उसने उसे माँ की गंदी-गंदी गालियाँ दीं और तय किया कि इस छिनाल को इसका सबक सिखा के रहूँगा। तभी समझ में आएगा कि लात मारने का नतीजा क्या होता है।

और दूसरे दिन गाढ़ी रात में गजराज ने एक ऐसा खेल खेला कि चमेली बाई की पीठ में धूल लग गई। उनके प्राण नहों में आ गए। वे ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थीं। और लोग थे कि उनका मज़ाक उड़ा रहे थे तालियां बजा बजाके।

बात यों हुई कि गोड़ टीपने के बाद गजराज उस रात सो नहीं पाया। पूरी रात जागता रहा, करवटें बदलता रहा। अपमान उसे खाए जा रहा था। एक बेड़नी ने उसका अपमान किया- लात से मारा। यह तो हद है और शर्म की बात! तभी उसे एक बात सूझी। इस बात को वह अमल में लाया। बात यह थी कि एक छछूँदर कई दिनों से उसकी रावटी में छू-छू करती घूम रही थी। छछूँदर काफ़ी मोटी थी और शायद बच्चे जनने वाली थी।

गजराज ने उस छछूँदर को पकड़ लिया और एक मज़बूत सुतली से बाँधकर रावटी के पीछे

छिपा दिया। इस ख़्याल से कि रात में जब थकी-माँदी चमेली बाई आएँगी, वह पाँव टीपेगा, वह गहरी नींद में गाफिल हो जाएँगी, तो वह अपना काम कर गुज़रेगा...

और उसने यह काम काफ़ी रात गए अंजाम दे दिया। उसने चमेली बाई का घाँघरा उठाया और छछूँदर अंदर छोड़ दी।

रात के सन्नाटे में भूचाल-सा आ गया।

चमेली बाई बेतरह किकिया रही थीं और आस-पास के लोग इकट्ठा हो गए थे।

नगाड़ा किरकिराने वाले एक अधेड़ मुच्छड़ ने पूछा- क्या हुआ चमेली बाई?काहे आसमान उठा लिया चीख़ के?क्या हो गया ऐसा?

चमेली बाई ज़मीन पर पसरी बैठी थीं, निःशक्त, बेतरह हाँफ रही थी। मुच्छड़ को नज़र उठाकर देखा- जवाब नहीं दिया।

मुच्छड़ ने आगे पूछा- हुआ क्या?कुछ तो बताओ?

चमेली बाई बोलीं- कुछ नहीं, छछूँदर थी। लहँगे में घुस आई थी।

हे भगवान !!! सभी लोग एक साथ ज़ोरों से हँसे- छछूँदर को वही ठौर मिलना था।

मुच्छड़ ने यकायक गंभीर होकर रहस्यमयी मुस्कान के बीच पूछा- छछूँदर थी? तो गई कहाँ?

एक दूसरे नगड़ची ने जो झबरीली मूँछों का अमीर था, जोरदार हँसी में कहा- कहाँ जाएगी? वह समझने की बात है! जहाँ मुकाम होगा, वहाँ जाएगी!!! वह ज़ोर-ज़ोर से हँसके ताली बजा उठा।

सभी लोग ठठा-ठठाके हँस रहे थे।

चमेली बाई शर्म से गड़-सी गई थीं। बोलती नहीं फूट रही थी उनकी।

गजराज अपनी हँसी छुपा नहीं पाया। उसने ज़ोरदार ठहाका लगाया।

साहित्य–संदर्भ

भूमण्डलीकरण और साहित्य

प्रभाकर श्रोत्रिय

भारत का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या विश्व कुटुम्बवाद और भूमण्डलीकरण समानार्थी नहीं हैं क्योंकि इनके निहितार्थ अलग-अलग हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उदार चरित्र का लक्षण है जो सारे विश्व में आत्मीयता स्थापित करने वाली भावात्मक मानवीय अवधारणा है, जबकि वैश्वीकरण पूँजीवादी देशों की विश्व विजय का शंखनाद है। यह पूरी दुनिया को सीधे-सीधे दो भागों में बाँटता है- अमीर देश और गरीब देश। यह शुद्ध रूप से बाज़ारवाद है जिसे उदारीकरण के मोहक शब्द जाल में बांधा गया है, जो यह सुनिश्चित करता है कि गरीब लोग और देश विश्व के नक्शे से मिट जायें। दूसरे शब्दों में यह पूँजीपति देशों का आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और सुरक्षात्मक अधिनायकत्व है, जो गरीब देशों की अस्मिता और वैविध्य को नष्ट करता है। संचार, सूचना और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के विश्व जाल इसके माध्यम हैं। दुनिया में पूँजीवाद के जितने रूप रहे हैं उनमें यह सबसे जधन्य है- सबसे सांधातिक। भूमण्डलीकरण का जो अर्थ है यह उसके आशय से ठीक विपरीत है। दरअसल लेखक को इसी विपरीत अर्थ को अपने विचार और निर्णय के केन्द्र में रखने की ज़रूरत है।

साहित्य की एक मात्र पूँजी संवेदना और सहित की भावना है, जिसका इस भूमण्डलीकरण से कोई मेल नहीं। उल्टे, यह कई तरह के दबावों से लेखक से उसका मूल चरित्र छीनता है। वह इसके प्रभाव से एक ऐसी प्रतिस्पर्द्धा में पड़ गया है जो योग्यता के लिए न होकर उपलब्धि के लिए होती है। उसे त्वरित प्रसिद्धि के लोभ ने अपने शिकंजे में कस लिया है। लेखक के रूप में जन्म लेने से पहले ही वह निराला और प्रेमचन्द बन जाता है। यह उतावलापन साहित्य की गहराई और परिपक्वता का विरोधी है। यह स्पर्द्धा उसे बाजारवाद के इस माहौल ने दी है जिसके लिए स्वार्थ ही सब कुछ है।

इसके दौर में भारतीय लेखक की मौलिक विशिष्टता नष्ट हो रही है। उसके भीतर अपरिग्रह की जो भावना हुआ करती थी वह प्रबल परिग्रह में बदल गई है और वह तरह-तरह के प्रलोभन में फँस गया है।

उसकी जीवन शैली में सामाजिकता का लोप हो रहा है और स्वार्थकेन्द्रित व्यक्तिवाद उसमें पनप रहा है। एक खास किस्म की असामाजिक नग्नता और हड़बड़ी से उसकी रचना तात्कालिक चमक का शिकार हो गई है। यह ठीक है कि नये समय की त्वरा से एक लेखक की स्पर्द्धा ज़रूरी है परन्तु क्या इसकी कीमत गहराई और सामाजिक शील के विलोपन से चुकानी चाहिए? यह ठीक है कि संवेदन के स्थिरीकरण की सम्भावना को धटनाचक्र की बहुलता, विपुलता, गत्यात्मकता आदि ने समाप्त कर दिया है, परन्तु संवेदना को पकने का वक्त भी तो देने का धैर्य होना चाहिए। मीडिया, खास कर इलेक्ट्रानिक मीडिया यदि यह वक्त नहीं लेने देता तो लेखक को अपने भीतर प्रतिरोधी सम्भावना विकसित करने की ज़रूरत है।

इस उपभोक्तावादी युग में रचनात्मक सिद्धि की जगह आर्थिक प्रश्न लेखक के सामने प्रमुख हो उठा है। इसलिये उसका पूरा ध्यान व्यावसायिक विशेषज्ञता को अर्जित करने में लग जाता है जो सर्जना के अवधान को हानि पहुँचाती है। एक समय था जबकि सर्वांगीणता पर जोर दिया जाता था, वह नितान्त एकांगिता में बदल गया है और साहित्य जिसे एक व्यापक परिसर की आवश्यकता होती है, अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण हो गया है।

हम जानते हैं कि जिन उपादानों से सृजन होता है उनमें भाषा प्रमुख है, बाज़ारीकरण के युग में यही सर्जनात्मक भाषा सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुई है। आज लेखक में प्रायः भाषा एक कटी हुई उपस्थिति है, जो अपने देश की भाषिक चेतना की निरन्तरता से लगभग कट चुकी है। लोक भाषा, मुहावरे, कहावतें, भाषिकी, व्याकरण, प्रतीक, मिथक यानि एक सांस्कृतिक चेतना भाषा से लुप्त होती जा रही है। इससे सर्जनात्मक भाषा उथली हो गयी है और चमत्कृत करने की कोशिशों के बीच बहुपरतीय नहीं रही। उसमें देसी गन्ध नहीं है वह विदेशी भाषा का कोई नया प्रारूप प्रतीत होती है। अंग्रेजी में जिसे `Code Switchover' कहा जाता है। वैसा ही विदेशी भाषान्तरण नई रचनाओं में दिखाई देता है। यह भाषा न तो हिन्दी है न अंग्रेजी। यह बाज़ार की, उसके स्वार्थ की भाषा है। साहित्य के गहन संवेदन की नहीं।

बाज़ारू प्रवृत्ति ने सबसे पहले अखबारों की भाषा को प्रदूषित किया क्योंकि उन्होंने अपना लोक-कर्म छोड़कर व्यावसायिक मार्ग अपना लिया है। सहज और व्यावहारिक भाषा पाठकों तक पहुँचाने के बहाने इस बाज़ार की भाषा ने एक कृत्रिम और मिलावटी भाषा का सृजन किया है। लेखक ने यह भाषा अखबारों और मीडिया से ली है। हैरत है कि भूमण्डलीकरण के दौर में लेखक कैसे भूल गया कि भाषा हमारी पहचान है और लेखक ही है जो भाषा का सृजन करता है। बाज़ार ने इस खिचड़ी भाषा के पैरोकार भी पैदा कर दिए हैं, जबकि यह हयवदन भाषा, भाषा की प्लास्टिक सर्जरी से बदले रूप की तरह है जिसमें मौलिकता खो गई है।

सर्जनात्मक साहित्य की भाषा ही सर्वाधिक जीवित रह पाती है। कालिदास और चाणक्य की भाषा में से कालिदास की भाषा में जीवनी शक्ति अधिक है, इसलिए साहित्य की भाषा को बहुत मूल्यवान और उत्तरदायी होना होता है। वही हर पीढ़ी की क्रमशः विरासत होती है। एक व्यक्ति से पूछा गया था कि हिन्दी को नोबल पुरस्कार क्यों नहीं मिला, उसने कहा कि उसकी भाषा में वह संवेदनात्मक चैतन्य नहीं है जो भीतर-बाहर के समतुल्य संवेदन रचती है। यह बात किसी हद तक ठीक है लेकिन अब तो यह और भी सटीक हो उठी है।

ऐसा नहीं है कि समयानुसार भाषा का रूपान्तरण और विकास नहीं होता। भाषा अपने रूप में परिवर्तन और विभिन्न भाषाओं के शब्द-निवेश से सदा समृद्ध होती रही है। पर यह सब कुछ

सर्जकगण, भाषा के मर्मज्ञ और जन-व्यवहार के स्वाभाविक मार्गों से होता है, जबकि यह भाषा तो बाज़ार द्वारा गढ़ी और थोपी गई है। उसका निहित अर्थ समझकर अपने को ही बाज़ार का अनुषंग बनाने के लिए, एक मिली भगत के तहत, अखबारों ने इस भाषा का और भी आगे बढ़कर बहुत ही फूहड़ और आक्रामक इस्तेमाल किया है। दुर्भाग्य से दैनन्दिनी में शामिल होकर अखबार अलस्सुबह आपके घर में दस्तक देता है और आप बड़े ही आग्रह से दरवाज़ा खोलते हैं। तभी गन्दगी का एक बोझा धर में धुस आता है। विज्ञापनों से लदा, और उसे बेचने के लिए शेष भाग में औपचारिक रूप से समाचार के तो आप अभ्यस्त हो ही चुके हैं, अब लीजिए भाषा की सड़ांध भी उसके साथ आपके धर में धुस आती है। अनचाहे यह आपकी अनिवार्यता बन गई है। एक को बदल कर दूसरा अखबार लें तो वहाँ भी वही सब है। आप बचकर कहाँ जाएंगे। युवा लेखक जब इस भाषा का इस्तेमाल करता है तो क्या उस निहित अर्थ को नहीं पकड़ पाता कि लेखक इस भाषा का नहीं, बल्कि यह भाषा ही लेखक का इस्तेमाल कर रही है। लेखक को अन्य भाषाओं के समावेश या निवेश के लिए सीझना पड़ता है वह यों ही एक झोंके में नहीं चली आती। दूसरी भाषाओं के तत्सम् शब्दों का ज्यों-का-त्यों इस्तेमाल कई बार परिश्रमहीनता का सूचक है। भाषा को 'फ़ास्ट फ़ूड' नहीं समझना चाहिए। उसे कमाना पड़ता है।

पिछले दिनों कुँवर नारायण ने कहा था कि एक लेखक को भाषा लगातार समृद्ध करते रहना चाहिए। उन्होंने कहा कि मुझे किसी भाषा में कहीं भी सुन्दर शब्द दिखाई पड़ता है तो मै उसे बिना शर्म हया के लूट लेता हूँ। उन्होंने कहा कि कहीं भी ऐसा शब्द मिले तो लेखक को बेधड़क उसे लूट लेना चाहिए। इस पर मैंने व्यक्तिगत चर्चा में कहा किसी में शब्द को लूटने की न तमीज़ होती है और न यह परख कि किस शब्द को लूटना चाहिए। यों भाषा की लूट-मार कम नहीं चल रही है, पर आपका आशय शायद इस तरह की नासमझ लूट तो से नहीं ही होगा। उन्होंने कहा कि यह तो गिरहकटी है।

इधर कविता में वृत्तता (रैटारिकी); लघुकथा को लम्बी कहानी और कहानी को उपन्यास बनाने की प्रवृत्ति भी खूब चल पड़ी है। यह वास्तव में बाज़ार की देन है। ईगलटन ने अंग्रेजी के उपन्यासों पर टिप्पणी करते हुए कहा है 'उसका टेक्स्ट अतिवादी है' हम देखते भी हैं कि वहाँ एक-एक हजार पृष्ठ के उपन्यास पढ़कर कूड़े में फेंक दिये जाते हैं। यही प्रवृत्ति हिन्दी में भी पैदा हो रही है। लेखक समझ रहा है कि वह विश्वव्यापी प्रवृति अपनाने की उदारता दिखा रहा, जबकि इसने लेखक का मानस असंयत और असन्तुलित कर दिया है और वह वे सारे फार्मूले अपना रहा है जो बाज़ार का चरित्र हैं। अभिव्यक्ति में अश्लीलता को मानो बोल्डनेस के बहाने धड़ल्ले से इस्तेमाल किया जा रहा है जिसका उद्देदश्य रचना को अधिसंख्य भीड़ तक पहुँचाना है। यह विचित्र है कि महिला रचनाकारों में यह प्रवृत्ति बहुत उत्साह से प्रकट हो रही है?सम्भव है यह मीडिया की फैशन शो की स्त्री का प्रभाव हो।

लगता है लेखक सिर्फ पाठक पाना चाहता है, सुपाठक नहीं; क्योंकि ऐसे पाठक को पाने के लिए सम्प्रेषण का जो संयम और शील अपनाना होता है; उसमें गहराई और मार्मिकता की अपेक्षा है, लेकिन लेखक सब कुछ तत्काल पा जाने की हड़बड़ी में इसकी चिन्ता नहीं कर रहा है। तो फिर उसे किस किस्म के पाठक मिलेंगे? दरअसल एक लेखक को उसी के योग्य पाठक और समीक्षक मिलते हैं। इसलिए हिन्दी में आम पाठक और आलोचना का जो स्तर हो गया है इसकी एक जिम्मेदारी लेखक पर भी आती है। इधर आलोचना इतनी प्रारूपिक हो गई है कि पता ही नहीं चलता कि यह

प्रसाद के बारे में कहा जा रहा है या चन्दूलाल के बारे में। इससे हिन्दी की श्रेष्ठ आलोचना भी विश्वसनीयता के संकट से जूझ रही है। बहुत से स्तरीय आलोचकों ने जिन कारणों से अन्य रचना-क्षेत्रों में मार्गान्तरण कर लिया है उनमें एक कारण यह भी है।

बाज़ार की यह प्रवृत्ति है कि वह अच्छी से अच्छी प्रतिभा को भुनाना जानता है। इससे अर्जित गुण और योग्यता की कोई गरिमा ही नहीं रह गयी है, जैसे कोई बड़ा अभिनेता या बड़ा खिलाड़ी अभिनय और खेल के क्षेत्र में पायी श्रेष्ठता को डिटर्जेण्ट या टूथपेस्ट या च्यवनप्राश को अर्पित करते हुए अपनी गरिमा के बजाय धन को प्राथमिकता देता है, उसी तरह एक लेखक अपने ज्ञान, प्रतिभा और भाषिक शक्ति को सस्ते साहित्य, फिल्मों और धारावाहिकों को अर्पित कर देता है।

वैश्वीकरण के युग में प्रायः लेखक और पाठक 'वेबसाइट रीडर' हो गए हैं, जिनकी रुचि सन्दर्भ में होती है। इसलिए पल्लवग्राही पठन पाठन है, गहराई की इसमें कोई भूमिका नहीं है। लेखक के लिए भी शायद पाठक लक्षित पाठक हो गया है। यह युग का ही प्रभाव है कि इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि वह भाषा बड़ी नहीं हो सकती जिसका पाठक बड़ा नहीं होता और पाठक को बड़ा बनाता है बड़ा साहित्य, जिसके विलोपन का खतरा पैदा हो गया है।

वैश्वीकरण के इस युग में साहित्य के प्रसारण का भी अब लगभग अलग पैमाना है- प्रमोटर की क्षमता। साहित्य अपनी गुणात्मकता की बजाय प्रमोटर का आश्रित हो गया है क्योंकि वही पढ़वाता है- आलोचक और लेखक एक तरफ रह गये हैं। साहित्य की मार्केटिंग होने लगी है। क्या वह अन्ततः कामोडिटी बनकर रह जायेगा क्योंकि उसे उसी सांचे में ढाला जाता है। यह मानने में किसी सुधी जन को कोई एतराज नहीं होगा कि जिस चीज़ का जितना अधिक विज्ञापन होता है वह गुणात्मक दृष्टि से उतनी ही धटिया होती है, लेकिन दुर्भाग्यवश वह 'बेस्ट सेलर' भी हो जाती है। साहित्य को भी इस ओर ले जाया जा रहा है।

हिन्दी प्रकाशक भी व्यापार के वे सारे हथकण्डे अपनाने लगा है जो उसे विश्व बाज़ार में दिखाई पड़ते हैं। अपने विस्तृत साधनों, व्यापक प्रदर्शनों और प्रचारशैली से वह घटिया से घटिया पुस्तक को चढ़ाता है और उसकी मांग पैदा करता है। कुछ लेखक और आलोचक ऐसे प्रकाशकों के लिए 'ब्राण्ड एम्बेसेडर' हैं।

अब बहुप्रचारित पत्र-पत्रिकाएं भी हिन्दी पाठक के स्तरीकरण की चिन्ता नहीं करतीं। यानी उसका संस्कार नहीं करतीं, उल्टे उन्होंने पाठक का अवमूल्यन और अपमूल्यन कर रखा है। वे समझती हैं कि हिन्दी पाठक सस्ती रुचियों का है और सबसे खतरनाक यह है कि सस्ती अभिव्यक्ति अब लोकप्रियता ही नहीं यश भी देने लगी है। एक पत्रिका धड़ल्ले से लगातार एक के बाद एक प्रेम विशेषांक निकाल रही है, जिन्हें देखकर देह व्यापार विशेषांकों की याद आती है। अब तो 'प्रेम में बेवफाई' अंक भी निकल गया है। क्या यह साहित्यिक पत्रिका का चरित्र है जो बड़े-बड़े दावे करती है? इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेम का साहित्य श्रेष्ठ नहीं होता। दुनिया की कई अमर कृतियों में प्रेम केन्द्रीय विषय है। परन्तु यदि इस शीर्षक के अन्तर्गत एक से एक घटिया सामग्री हमारे सामने आती है तो विषय की महिमा ही घटित है। पाठक की संख्या के लिये यदि पत्रिका नीचे गिर सकती है तो उसके हाथ भी कुपाठक ही लगते हैं, यहाँ तक कि वे कुपाठकों का निर्माण भी करती हैं। बन्दर को नचाने वाले, डुगडुगी बजाकर जिस भीड़ को खींच लेते हैं वह किस स्तर की होती है?असल में साहित्य की पाठकीयता इस भीड़ का नाम नहीं है, इसे जुटाने में क्या खूबी है। दुनिया जानती है कि जो जितना गिरता जाता है वह उतना ही फैलता जाता है।

भूमण्डलीकरण के इस युग में शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब लेखक नहीं, संगणक साहित्य की रचना करने लगेगा, रोबोट भाषण देने लगेगा, तब लेखक और साहित्य की स्थिति क्या होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। कई लेखक शायद उस समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब उन्हें लिखने, पढ़ने और बोलने में वह सुगमता हासिल हो।

जिस सुन्दरता और कोमलता को बचा लेने के लिये कवि कलाकार इतने व्याकुंल होते हैं, उसकी बाज़ार में क्या कीमत है? बाजार का स्वार्थ ही सौन्दर्य और कोमलता का निर्धारण कर रहा है। अभी कुछ वर्ष पहले तक भारत की सुन्दरियाँ लगातार विश्व सुन्दरियाँ चुनी जाती रही हैं, परन्तु इधर कई वर्षों से लगता है हिन्दुस्तान में सुन्दरियों का अकाल पड़ गया है। विश्वसुन्दरी प्रतियोगिता से निराश एक भारतीय सुन्दरी का यह व्यंग्य गौर करने लायक है कि 'लगता है भारत अब विश्व के लिये बाज़ार नहीं रह गया है' उसने यह तब कहा है जबकि भारत दुनिया का चौथे नम्बर का बाजार है। असल में बाज़ार को अब विश्व सुन्दरियों की दरकार ही नहीं रही है। उसने रैम्प पर भाँति-भाँति की सुन्दरियों को उतार कर देख लिया और अनुभव कर लिया कि विज्ञापन के क्षेत्र में विश्व सुन्दरी की कोई भूमिका नहीं है। हर सुन्दरी ही दर्शकों के लिये सुन्दरी है, बशर्ते उसे एक विशेष ढंग से प्रस्तुत किया जाए। साहित्य का भी यही हश्र बाज़ार में हो रहा है। उसमें भी गुणात्मकता की परख की बजाए प्रस्तुति के तामझाम अधिक महत्वपूर्ण होने लगे हैं।

इधर उत्तर आधुनिकता जो वैश्वीकरण का 'थिंक टैंक' है, साहित्य की पहले ही मृत्यु घोषित कर चुकी है, क्योंकि उसकी दृष्टि में बाज़ार के लिए साहित्य की कोई उपयोगिता नहीं है, परन्तु मनुष्य के लिए आज भी साहित्य और कलाएँ अपरिहार्य हैं। वह चाहे जितना भौतिकवादी या अर्थवादी हो जाये, अपने अन्तर्जगत से अनासक्त नहीं हो सकता। इसलिए वैश्वीकरण के इस घनघोर युग में भी साहित्य, कला और संस्कृति को बचाये रखना मनुष्यता का प्राथमिक कर्तव्य है। उसे सौन्दर्य भी चाहिए, संवेदना भी, अभिरंजन भी, उत्कृष्ट मनीषिता भी और जीवन का वैविध्य भी। पूँजीपति देशों की बनाई सपाट व्यवस्था में आखिर मनुष्यता कितने दिन जीवित रहेगी? क्योंकि यह पूँजीवादी व्यवस्था चाहती है कि जैसा वह सोचे, जिस भाषा में सोचे, वैसी ही भाषा में वैसा ही सोच दुनिया का हो; जैसा वह खाये, रहे, नाचे, गाये वैसा ही दुनिया में अनुकृत हो, परन्तु एक दिन ऐसा आएगा जब इस एक-से पन से दुनिया ऊब जायेगी और अपनी वैविध्यपूर्ण बहुरंगी जीवन्तता की ओर फिर से लौटेगी।

भूमण्डलीकरण ने साहित्य की सहितता को मानो एकान्तिकता में बदल दिया है। आज इस पूरी सामूहिकता और वैश्विकता के बावजूद मनुष्य नितान्त अकेला रह गया है। कम्प्यूटर में दिखने वाली दुनिया ने उसे अपने ही विश्व से काट दिया है। मनुष्य में आत्म-केन्द्रितता बढ़ती जा रही है। यह सब साहित्य के लिये गम्भीर चुनौतियाँ हैं।

साहित्य सदैव साझा संस्कृति पर जोर देता रहा है। प्रश्न यह है कि क्या वैश्वीकरण के दौर को हम साझा संस्कृति का दौर मान सकते हैं, जहाँ सम्पन्न देशों की आर्थिकी एक विशेष प्रकार के साम्राज्यवाद का स्वरूप प्रकट कर रही है। हम जानते हैं कि विश्व तापीकरण (ग्लोबल वार्मिंग) के लिए सम्पन्न देश ही अधिकाधिक जिम्मेदार हैं, जिन्होंने अधिकांश पर्यावरण को प्रदूषित कर वायुमण्डल को 'ग्रीन हाउस गैस' से भर दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने देशों की क्षमता, भूमि और साधनों का शोषण तो किया ही है उसने संसार की अमृतवाही नदियों को कारखाने के मल से

जहरीला बना दिया है और हमारे वायुमण्डल को भाँति-भाँति के उत्सर्जन से प्रदूषित कर दिया है। वह जीवन ही नहीं प्रकृति को भी प्रदूषित करने के लिए उत्तरदायी है, फिर भी कोपनहेगन में विश्व पर्यावरण को लेकर जो सम्मेलन असफल हुआ उससे भूमण्डलीकरण के नियामकों का असली चेहरा सामने आ गया है। ये पूँजीपति देश केवल गरीब और तीसरे देशों का मात्र शोषण करना चाहते हैं, न तो अपना उत्सर्जन कम करना चाहते हैं, न वायु मण्डल को शुद्ध करने में कोई सहयोग देना चाहते हैं। यह साझा संस्कृति के प्रति असहिष्णुता के दौर की सूचना है जो संवेदनशील साहित्य को चुनौती देती हैं और इस सत्य को प्रकट करती हैं कि वैश्वीकरण ने जहाँ व्यापारिक रूप से दुनिया की आवाजाही बढ़ाई है वहीं उसे अभिशप्त भी किया है, ऐसे में साहित्य का काम अत्यन्त सतर्कता और नीर-क्षीर विवेक से ही चल सकेगा, ताकि वह उसका हथियार न बनकर उसे एक दिशा दे।

अन्त में यह कहना ज़रूरी है कि भूमण्डलीकरण की इन विभीषिकाओं में कुछ थोड़े युवा लेखक अवश्य बच गए हैं, जैसे भयानक भूकम्प में दबा कोई बच्चा कई दिनों तक बच जाता है। ये लेखक भूमण्डलीकरण का निहितार्थ या इस शब्द का विपर्यय भली भाँति समझ रहे हैं और भाषा एवं साहित्य के प्रति बहुत सतर्क हैं। उन पर भूमण्डलीकरण का सन्तुलित प्रभाव है और वे अनेक नवीनतम कथ्य और शिल्प-रूप प्रकट कर रहे हैं। ऐसे लेखकों का प्रतिशत हर युग में बहुत कम होता है, परन्तु यहाँ केवल उन बहुसंख्यक लेखकों और प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है जो भूमण्डलीकरण से प्रभावित हैं। इनमें सामान्य लेखकों के अलावा प्रतिभावान लेखक भी हैं। यह आशाजनक है कि इस समय साहित्यकारों की तीन और पीढ़ियाँ सक्रिय हैं, वे भूमण्डलीकरण की वास्तविकता को समझ रही हैं। इन अपवादों को ध्यान में रखकर ही इस प्रश्न पर विचार करना समीचीन होगा।

कविता के भविष्य का प्रश्न

अरुण कमल

प्रसाद जी ने अपनी एक कविता में, जो उनकी आत्मकथा सरीखी है, लिखा है- 'ये जो मेरे जीवन की कथा है उसकी सीवन उधेड़ने को क्यों कहते हो।' इसी तरह कविता की जो कथा है उसकी सीवन उधेड़ने से क्या फ़ायदा? ऐसे समय में जब कविता पर आक्रमण हो रहा है, जब कहा जा रहा है कि कविता की ज़रूरत क्या है?कविता का कोई भविष्य नहीं है, ऐसे समय में कविता की कथा उसकी कथरी, उसकी सीवन को उधेड़ने से क्या फ़ायदा? लेकिन यह भी है कि इसी कथरी में, इसी गुदड़ी में हमें लाल, पुखराज और माणिक्य भी मिलते हैं। कविता की कथरी में, कविता की कथा में ये सारे रत्न, जो मनुष्य ने उत्पन्न किए हैं, वे सुरक्षित हैं। पहले कविता के भविष्य को लेकर कोई चिन्ता नहीं होती थी। कवि निश्चिंत भाव से कविता करते थे और उन्होंने इसको लेकर चिंता नहीं व्यक्त की। मुझे नहीं मालूम कि कालिदास के समय या तुलसीदास और कबीर के समय सामान्य जन के बीच कविता की कितनी पैठ थी। कहा जाता है कि तुलसीदास और कबीरदास के समय में बहुत थी। फिर भी इसका कोई प्रामाणिक दस्तावेज़ नहीं है। खुद ग़ालिब और मीर की कविता कितनी अपने समाज में पैठ बनाए हुए थी, यह भी मुझको ठीक से नहीं मालूम है। लेकिन इन कवियों को कभी कविता को लेकर कोई दुविधा नहीं हुई। यहाँ तक कि जिसे हिन्दी-उर्दू आलोचना की सम्मिलित परम्परा की लगभग पहली आलोचना पुस्तक कहा जाता है, जो हाली की किताब 'मुकदमा-ए-शेरो-शायरी' है, उसमें भी कविता को लेकर कोई दुविधा नहीं है। कविता क्या कार्य करती है, उस पर उन्होंने विचार किया है, लेकिन वहाँ कोई दुश्चिन्ता नहीं है।

बींसवी शताब्दी में हिन्दी में ऐसा नहीं रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रख्यात निबंध 'कविता क्या है' वास्तव में कविता के भविष्य को लेकर चिन्ता से ही आरंभ होता है लेकिन इसके पहले जो

दुनिया में आलोचना का इतिहास है, आधुनिक विश्वभाषाओं में, मेरी समझ से सर्वाधिक लम्बा आलोचना का इतिहास, अंग्रेजी भाषा में रहा है। उसके बिल्कुल आरम्भिक आलोचकों में सर फ़िलिप सिडनी हैं और उनका सबसे महत्वपूर्ण निबंध है An Apology for Poetry (कविता के लिए एक क्षमा याचना)। यह बहुत दिलचस्प है कि पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में कविता के लिए क्षमा-याचना, कविता की रक्षा के लिए, कविता के पक्ष में कुछ कहने के लिए लगातार अंग्रेज़ी में और दूसरी भाषाओं में लिखा गया है। यह भी दिलचस्प है कि यह सब कुछ होता है, वास्तव में पूँजीवाद के उदय के साथ। पूँजीवाद का आगमन और उसके साथ ही साथ कविता और सभी कलाओं के भविष्य को लेकर चिन्ता व्यक्त होना शुरू होती है। फ़िलिप सिडनी का वह निबंध बहुत ही दिलचस्प है। वह शुरू होता है कि वे एक जगह गए हैं और ज़ाहिर है वह सबसे अच्छी जगह है साम्राज्य की। वहाँ उनकी मुलाकात होती है वहाँ के फ़ौजी अस्तबल के एक बड़े अधिकारी से, जिसका बहुत नाम है। वह अधिकारी इन लोगों को बतलाता है और उसने जो बतलाया उसका नतीजा यह है कि इस पृथ्वी पर जितने प्राणी हैं, उनमें सबसे अच्छा आदमी है और आदमियों में सबसे अच्छे फ़ौजी हैं, फ़ौजियों में भी सबसे अच्छे जो घुड़सवार फ़ौजी होते हैं और धुड़सवार फ़ौजियों में, जो चीज़ सबसे अच्छी होती है, वह घोड़ा होता है। धोड़े की तारीफ़ में उसने बहुत बातें कहीं। फ़िलिप सिडनी लिखते हैं कि हालत मेरी यह हो गयी कि मुझको इच्छा होने लगी कि मैं भी घोड़ा हो जाऊँ। यह इच्छा हुई उन्हें उस समय। अब आप सोंचें कि आप अगर किसी आदमी से मिलें, भारत के वित्तमंत्री से मिलें अमेरिका के वित्तमंत्री से मिलें, बाम्बे स्टाक एक्सचेंज जाएं तो आपकी क्या इच्छा होगी?क्या बनने की?आदमी ज़ाहिर है आज भी सबसे महत्वपूर्ण है, बल्कि बाक़ी प्राणी तो बिल्कुल गए-गुज़रे हैं। उन्हें तो जितनी जल्दी खत्म कर दिया जाय, उतना अच्छा है। इसमें भी सबसे अच्छा होता है, जो प्रबन्धक कहलाता है। प्रबन्धक में भी सबसे अच्छा होता है, जो बड़ी वित्तीय संस्थाओं का प्रबन्धक होता है और अन्त में मैंने पाया कि अगर मुझको आज कहा जाय कि आप क्या बनना चाहेंगे तो मुझको लगा कि मैं ए.टी.एम. बनना चाहूँगा, जिसमें हमेशा पैसा होता है। आप उसको ज़रा-सा, ऐसे बटन दबा दें, पैसे गिरने लगते हैं।

तो ऐसे समाज में हम रह रहे हैं, जहाँ फिलिप सिडनी से लेकर आज तक महत्व अब आदमियत का नहीं है। महत्व अब कला का और कविता का नहीं है; क्योंकि इन चीजों से तो अब कुछ नहीं हो सकता। धूमिल ने बहुत रोष से, क्षोभ से कहा था- 'ससुरी कविता से तो चोली भी नहीं बन सकती।' बहुत दुःख के साथ उन्होंने कहा था, लेकिन आज यह बात मज़ाक उड़ाने के ढंग से कही जा रही है और दुःख की बात यह है कि ऐसा वे लोग कह रहे हैं जो खुद साहित्य के लोग हैं। लेकिन कोई बात नहीं। इसका एक लम्बा इतिहास है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में कविता ने लगातार इस दंश को झेला है। इसीलिए कवियों ने, जैसे अंग्रेजी में ही रोमांटिक कवियों ने लगातार कविता के पक्ष में लिखा है, शैली का प्रसिद्ध निबन्ध है- 'In Defence of Poetry'। कीट्स ने लिखा है कि इन्द्रधनुष को, जो मामूली चीजें हैं, उनके बीच रख दिया गया है, इसकी विवरणी में, उसके कैटलाग में। वर्ड्सवर्थ ने कविता की रक्षा के बारे में लिखा है और फिर १९वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं शताब्दी में जितने आंदोलन हुए, कला के क्षेत्र में चाहे वह 'रीअलिज़्म' हो, 'सिम्बालिज़्म' हो 'इमैजिनिज़्म' हो या 'फ्यूचरिज़्म' हो, वे सारे आंदोलन वास्तव में व्यवसायीकरण के विरुद्ध थे। वे कला को और कविता को व्यावसायिक बनाने के विरुद्ध थे। कलावाद अपने आपमें चाहे उसकी मान्यताएं जो भी हों लेकिन यहाँ

पर सारे आंदोलन एक मत थे कि कला को कभी भी व्यावसायिक नहीं होने देना है। यह अलग बात है कि स्वयं ये आंदोलन भी बाद में चलकर उसी व्यावसायिक जगत में खपा दिये गये। महान फिल्मकार लुई बुनवेल ने अपनी आत्मकथा 'माई लास्ट ब्रेथ' (मेरी आखिरी साँस) में बड़ी ग्लानि और क्षोभ के साथ लिखा है कि वे सारे लोग जो व्यवस्था के विरोधी थे। (सारे कला आन्दोलन व्यवस्था विरोधी आन्दोलन थे) वहाँ से चलकर अमेरिका के बीट आन्दोलन तक आए, गिन्सवर्ग, जो वाराणसी आए थे, यहाँ रहे थे, हमारे कवि त्रिलोचन के साथ रहे थे, ये व्यवस्था विरोधी थे। उनका हश्र यह हुआ कि वे धीरे-धीरे उस व्यवस्था में शामिल हो गए। कला को इस व्यावसायिक दुनिया ने बहुत आसानी से अपने में समा लिया। आप देखें कि संगीत में भी जो आंदोलन हुए, पूरी दुनिया में, चाहे वह 'पॉप' का हो, 'रॉक' का हो- सारे आन्दोलन धीरे-धीरे व्यावसायिक आंदोलन में बदल गए। लेकिन कविता एक ऐसी विधा रही जिसे व्यवसाय में खपाया नहीं जा सका। ऐसा नहीं कि कविता के कुछ तथ्यों को पूँजीवाद ने, व्यवसाय ने अपने में नहीं खपाया, लेकिन जो श्रेष्ठ कविता रही, उसका पूँजीवाद का व्यावसायिक जगत कुछ बिगाड़ नहीं सका। शायद वह अकेली विधा है, साहित्य की सभी विधाओं में, यहाँ मैं किसी विधा की तौहीन नहीं कर रहा, सिर्फ एक अजीब तथ्य की तरफ़ आपका ध्यान खींच रहा हूँ कि कविता लगातार व्यावसायीकरण का निषेध करती रही और जो श्रेष्ठ कविता है, आज भी कर रही है। ऐसा करते हुए उस कविता ने अपने को लगातार बदला भी है।

बहुत से लोग यह सवाल करते हैं कि बहुत बार कविता समझ में नहीं आती। बहुत बार वे यह भी कहते हैं कि कविता लोगों से कटती जा रही है। ऐसी बात नहीं है। कविता आपको वहाँ ले जाना चाहती है जहाँ बाकी व्यावसायिक माध्यम आपको नहीं ले जा सकते। कविता लगातार उस व्यवसायिकता से, पूँजीवाद से अलग रहकर अपना काम करती है। यह भी दिलचस्प है कि आधुनिक काल में जो कवि प्रतिक्रियावादी कहे जाते हैं उन्होंने भी उस पूँजीवाद का अपने ढंग से विरोध किया। चाहे वे टी.एस.इलियट हों, चाहे फ्रांस के कवि हों, चाहे रूस के कवि हों सबने विरोध किया। यह अलग बात है कि उन्होंने कई बार पीछे के मूल्यों को यानी राजतंत्र और सामंतवाद के मूल्यों को समर्थन दिया। लेकिन उन्होंने कविता के व्यावसायिक होने का विरोध किया।

यह कविता का मोटा-मोटा इतिहास पिछले चार-पाँच सौ वर्षों का रहा है और उसने लगातार अपने को बदला है। पिछले चार सौ वर्षों में सबसे ज़्यादा उपन्यास ने अपने को बदला, लेकिन जिसे हम आधुनिक उपन्यास कहते हैं उसका उदय ही चार सौ साल पहले का माना जाता है। कविता में जितने बड़े परिवर्तन पिछली अनेक शताब्दियों में नहीं हुए, उतने पिछले चार सौ वर्षों में हुए और अंत में कविता बदलते-बदलते वहाँ आ गई है कि आज वह निपट गद्य की तरह भी हो सकती है। ऐसा उसने लगातार इसलिए किया ताकि वह अपने को बचा सके। ऐसे समय में जब लय का होना सर्वाधिक फायदेमंद साबित होने लगे, जब संगीत का होना, जब सुगम होना, सरल होना और जब प्रचलित भावों की अभिव्यक्ति बाजारूपन की तरह होने लगे, तो कविता ने अपनी रक्षा की। ऐसी स्थिति में कविता वहाँ गई, जहाँ जाकर उसने कुछ खोया भी। लेकिन उसने अपनी रक्षा की, तो आखिर वह रक्षा क्या थी? आखिर कविता अपने किस भाव की रक्षा कर रही थी? वास्तव में कविता कला की अन्य विधाओं से और साहित्य की अन्य विधाओं से ख़ास करके इसलिए अलग है कि वह मनुष्य के आभ्यंतर को, जो उसके भीतर हो रहा है, बिल्कुल उसको सबसे ज़्यादा प्रामाणिकता से व्यक्त कर सकती है। उसे न तो

फ़ोटोग्राफी कर सकती है, न पेंटिंग व्यक्त कर सकती है, न स्कल्पचर न आर्किटेक्चर, न संगीत कर सकता है। उपन्यास अपनी तमाम तकनीकों के बावजूद वहाँ जाने में कई बार सफल नहीं जो पाता। टॉलस्टाय, मार्शल क्रूज, मार्खेज के बावजूद कविता ने लगातार मनुष्य के उस आभ्यंतर को जो मनुष्य का सर्वाधिक पवित्र कोना भी है, और उसके मन का सर्वाधिक दुरुह कोना भी है, वहाँ पहुँच कर मनुष्य को अभिव्यक्ति दी।

दूसरा काम जो केवल कविता ही कर सकती थी, वह था भाषा की जो अनेक छवियाँ होती हैं उनको व्यक्त करना। नामवर जी ने भी भाषा के इस गुण को लगातार रेखांकित किया है।

इसे भाषा का खेल भी कहते हैं। कोई भी कविता बिना इसके संभव नहीं है। भाषा का यह खेल प्रायः उपन्यास में नहीं होता। कोशिश की है कुछ उपन्यासकारों ने- जैसे अंग्रेजी में जेनेस्टायन ने की है, मार्शल क्रूज ने , मार्क्वेज ने की। लेकिन वहाँ खेल बहुत चल नहीं सकता, हो ही नहीं सकता। कविता के छोटे से मैदान में ये खेल होता है। भाषा की अनेक छवियाँ, मैं कई बार सोचता हूँ कि सूरदास की कविता में जो तत्व है, क्या यह किसी दूसरे तरीके से व्यक्त किया जा सकता है- भाषा का जो संगीत है, शब्दों का जो नाद है, शब्दों के बीच की जगहों की जो अनुगूँजें है और जो वहाँ निरन्तर शून्य का अवकाश भी है। ये सब कुछ क्या किसी भी दूसरी विधा में संभव है? 'राम की शक्ति पूजा' क्या संभव है किसी दूसरी विधा में? तुलसीदास, कबीर और हमारे आज के कवि तक जो उनकी श्रेष्ठ कविताएँ हैं, वे भाषा की उस सम्पदा को बचाने का काम, जिसे हम कई बार भूल जाते हैं (यह हमारी जमा राशि है जीवन की) करती हैं। जो भाषा हम रोज व्यवहार में लाते हैं, वह बहुत ही सीमित शब्दों और सीमित अर्थों वाली कामकाज की भाषा होती है, लेकिन जो भाषा कामकाज की दुनिया के बाहर की भाषा है, उसको बचाने का काम कविता करती है और पंत जी के शब्दों में कहें तो 'कविता शब्दों के रोमहास' को बचाती है उसे आगे बढ़ाती है और इस तरह वह हमें लगातार याद दिलाती है कि जो भाषा तुम बोल रहे हो यह भाषा सिर्फ तुम्हारी नहीं है। शुद्ध भाषा का व्यवहार हर व्यक्ति को लगातार यह बतलाता है कि इस दुनिया में उसके पहले बहुत लोग हो गए हैं और उसके बाद भी बहुत लोग होगे। और यह भाषा जो निराला की थी, तुलसीदास की थी, जिसके बहुत से शब्द वाल्मीकि और कालिदास के थे। वे आगे भी रहेंगे। यह काम कविता करती है, जो दूसरी कोई विधा नहीं कर सकती।

इसी तरह मैं सोचता हूँ कि अंग्रेजी में आज जो भारत में लिखा जा रहा है, जैसे उपन्यास और कहानियाँ उनका बहुत शोर है। उनके लिए बहुत बड़ा बाजार है, उनके लिए बड़े-बड़े विज्ञापन हैं, सारे अखबार उनकी सेवा में हैं, लेकिन क्या कविता संभव है भारत में अंग्रेजी में? संभव नहीं है। क्योंकि कविता केवल शब्दों का जो ऊपरी हिस्सा है, उससे कविता नहीं बनती। कविता वहाँ जाकर बनती है जहाँ हम शब्दों के भीतर जाते हैं। इसके लिए मैं बहुत छोटा सा उदाहरण देना चाहता हूँ कि कई बार लोग कहते हैं कि अंग्रेजी का जो लेखन भारत में है यही दुनिया में जाना जाता है, इसीलिए मैं उदाहरण दे रहा हूँ। जेम्स ज्वायस जो दुनिया के सबसे बड़े उपन्यासकारों में एक हुए, उन्होंने बड़े-बड़े काम भी किए, वे आयरलैण्ड के थे और उनको बार-बार लगता है कि यह जो अंग्रेजी भाषा वे लिख रहे हैं, इससे बहुत गहरी आत्मीयता उनको नहीं हो रही है। अपने एक छोटे से उपन्यास-'ए पोर्ट्रेट ऑव द आर्टिस्ट ऐज़ ए यंग मैन', में उन्होंने एक घटना का जिक्र किया है। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक बार मैं वाशबेसिन में हाथ धो रहा था। नल मैंने खोला और बेसिन को पानी से भर लिया और उसके छेद

को बन्द का दिया। उसके बाद मैंने जो स्टापर था, बन्द करने वाला काक, उसको हटा दिया और पानी तेजी से उस पाइप में बहा। जब सारा पानी बह गया तो बिल्कुल भीतर में एक अजीब सी आवाज़ हुई 'खः' और मैं लगातार सोचता रहा कि क्या मेरी अंग्रेजी भाषा इस ध्वनि को इस अनुभव को व्यक्त कर सकती है? उन्होंने कहा कि नहीं व्यक्त कर सकती।

जब जेम्स ज्वायस को उपन्यास लिखते हुए ऐसा लगा तो कविता के लिए तो यह संभव ही नहीं है। कविता केवल अपनी भाषा में ही संभव होती है। इसलिए कविता के भविष्य को लेकर हमारी चिन्ता ज़्यादा है कि अगर अपनी भाषा में कविता नहीं होगी, जैसा कुछ लोग कहते हैं हालाँकि मैं ऐसा नहीं मानता, तो फिर मनुष्य कैसे रहेगा। मनुष्य बिना भाषा के रह नहीं सकता। मनुष्य का अस्तित्व ही उसकी भाषा से है। इसीलिए उसकी भाषा में कविता का होना जरूरी है और हर बार जब लगता है कि कविता खत्म हो जायेगी, हर बार जब लगता है कि यह पीढ़ी शायद हिन्दी कवियों की आखिरी पीढ़ी हो, तो फिर एक नयी पीढ़ी आती है और एक टूटती हुई साँस को फिर से उठा लेती है, एक राग जो टूट रहा था उसको उठाती है और उसको ऊँचा ले जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने उसी 'कविता क्या है' निबन्ध में लिखा है कि ऐसा कोई समाज नहीं है, सभ्यता नहीं है, जिसमें कविता न हो और आज तक कोई ऐसी पीढ़ी नहीं आई जिसने कविता न लिखी हो। तो आखिर वह क्यों लिखती है कविता। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि अगर कविता न भी लिखी जाये तो क्या होगा? यह जो आज पूरी दुनिया बन रही है या बिगड़ रही है, इसके पीछे तो बहुत बड़ा दर्शन है। यह जो पूरा उत्तरआधुनिकता का दर्शन है, यह पूँजीवाद के उत्तरकाल का दर्शन है, जो बहुत सूक्ष्म तरीके से और बड़े तरीके से, बड़े पैमाने पर हमारे बीच फैलाया जाता है, बिना यह बताए कि यह काम दर्शन कर रहा है। इसकी भी तो काट जरूरी है। उसकी काट के भी तो दर्शन हैं। यह जो भारत में राजनीति चल रही है, यह जो भारत में इतने झगड़े-फ़साद चल रहे हैं, यह जो अफ़गानिस्तान में चल रहा है, लातिन अमेरिका में चल रहा है, सब जगह जो चल रहा है। पूँजीवाद ने निरन्तर अपने दर्शनिकों को उत्पन्न किया है। पूँजीवाद के विरोध में भी जो शक्तियाँ हैं, उनके भी दर्शन है, उनके भी वैज्ञानिक हैं, उनके भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण हैं और उनके भी कवि हैं। अभी नोबल प्राइज़ पाल क्रुगमैन को, जो अर्थशास्त्र में मिला। पाल क्रुगमैन ने अपने एक छोटे से लेख में लिखा है कि जब वे नोबल प्राइज लेने जा रहे थे उसके ठीक पहले दुनिया भर से उन्हें बहुत सारे बधाई संदेश मिले जिसमें एक संदेश यह भी था कि मिस्टर पाल क्रुगमैन आपको जो नोबेल प्राइज़ का चेक मिलने वाला था, होशियार रहिए कि ऐसा कहीं न हो कि जिस बैंक का चेक है, वह बैंक ही खत्म हो जाय।

ये हालत है। पॉल क्रुगमैन ने बड़ी विडम्बना के साथ इस बात को रेखांकित किया है कि ये दुनिया है और उसकी भविष्यवाणी कोई अर्थशास्त्री नहीं कर सकता है। अमर्त्य सेन भी नहीं सोच सकते थे और सब अचानक चुप हो गये। सारे अर्थशास्त्री, सारे दार्शनिक, उत्तरआधुनिकता के पैरोकार, सब चुप हो गए कि ऐसा क्यों है। कवियों ने कभी कोई कोताही नहीं की। कवियों के पास भले ही तर्क न हो, लेकिन जैसा पंत जी ने लिखा है- 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहचाना', पता नहीं वो कैसे जान जाते हैं। कोई-न-कोई शक्ति उनको होती है, पहले के लोग उसे दैवीय शक्ति मानते थे। तीसरा नेत्र, चौथा नेत्र, छठी इन्द्रिय आप जो कहिए लेकिन कवियों ने लगातार यह कहा कि यह जो समाज है, सही नहीं है, कविता लगातार सच के उस शब्द को कहती रही, उसने लगातार लोगों की

बदहाली को दिखाया। अमेरिका के कवियों ने, यूरोप के कवियों ने और भारत के कवियों ने, दुनिया भर के कवियों ने। कविता इसलिए भी जरूरी है कि कहीं तो कोई एक विवेक है, कहीं तो कोई एक चेतना है जो कई बार तर्क से परे है,लेकिन जो सच है, जो आध्यात्मिक नहीं है, जो धार्मिक नहीं है, लेकिन जो सच है। जिसका व्यावसायिकता कोई हनन नहीं कर सकती, लाख चाहकर भी। कविता ने लगातार अपने उस विवेक को, अपनी उस चेतना को बचाये रखा है और कभी भी समर्पण नहीं किया। कविता के भविष्य को लेकर जो चिन्ता लोगों को होती है, मुझे नहीं होती, मेरे जैसे लोगों को नहीं होती, लेकिन जो वास्तव में चाहते हैं कि कविता न रहे वे उसकी चिन्ता करते हैं। उनको लगता है कि अगर वे चिन्तित होंगे, दे देंगे तो कविता समाप्त हो जायगी। कविता इतनी आसानी से समाप्त नहीं होगी। कविता तो खुद एक शाप है। भारत में कविता का उदय जो वाल्मीकि के एक अनुष्टुप से होता है। वह एक शाप है और कविता अभी भी एक शाप की तरह है। व्याध के लिए एक शाप की तरह और उस क्रौंच पक्षी के लिए, हम सबके लिए वरदान की तरह मौजूद है और रहेगी। यही कविता का भविष्य है और कविता ने लगातार यह काम किया है, बीसवीं शताब्दी में भी, अभी भी कर रही है।

तब सवाल यह उठता है कि अगर कविता ऐसा काम कर रही है तो लोगों तक वह पहुँच क्यों नहीं रही है। मैं बहुत से लोगों से बात करता हूँ, वे लोग शिकायत करते हैं कि आप लोग ऐसी कविता लिखते हैं जो समझ में नहीं आती। मैं उनसे पूछता हूँ कि पिछले एक साल में क्या आपने एक भी कविता की किताब खरीदी है। वे कहते हैं ऐसी कविता कौन खरीदे। मैं फिर पूछता हूँ कि अच्छा तो आप यह बताइए कि कालिदास की कोई किताब खरीदी है आपने। सारे उदाहरण अधिक से अधिक तुलसीदास और कबीर का देते हैं। निराला, प्रसाद की वे बात नहीं करते वे कालिदास के बारे में बात नहीं करते, वे भवभूति के बारे में यह बात नहीं करते। क्यों बात नहीं करते?अगर ये पाठ्क्रम न हों हिंदी विभागों के तो जिन कवियों का वे नाम जानते हैं, उन्हें भी न जाने। पहले लोग लोकगीत सुनते थे, लोरियां सुनते थे, अब वह खत्म हो गया। अब कविता से उनकी मुलाकात वहीं, अगर वे अंग्रेजी के विद्यालयों में जाते है तो नर्सरी राइम से और हिन्दी विद्यालयों में जाते हैं शिशुगीत से होती है। इस तरह एक ऐसा समाज भी हमने रचा है कि जहाँ जो श्रेष्ठ कविता थी। (लोकगीत श्रेष्ठ कविता होती है) जिसे अनेक लोगों ने, उनके पीढ़ियों ने रचा है, उससे अब हमारी मुलाकात बन्द हो गई। पहले यह मुलाकात बिल्कुल शुरू में होती थी और वह चलती थी माँ की घुट्टी के साथ। उस तरह हम ऐसी पीढ़ी या पीढ़ियों को जन्म दे रहे हैं जो कविता के आदिम स्वभाव से परिचित नहीं है और सहज ही उनके मन में सवाल उठता है। लेकिन मैं ऐसे लोगों से भी बात करता हूँ कि मान लीजिए जो सॉफ्टवेयर इंजीनियर हैं, मैं देखता हूँ कि जब उनको ऐसी चीजें मिलती हैं तो वे बिल्कुल विह्वल हो जाते हैं। उन्होंने सोचा भी नहीं था कि दुनिया में ऐसी चीजें भी हैं। अब इण्टरनेट पर बहुत सी कविताएँ उपलब्ध हैं। वे इण्टरनेट पर बैठकर चकित रह जाते हैं कि अरे यह तो मेरे मन की बात है। उस तुमुल कोलाहल में मन की बात जो प्रसाद जी कहते हैं मन की बात होती है। मन की बात थोड़े से शब्दों में केवल कविता ही कर सकती है। यह सौभाग्य किसी दूसरी विधा को प्राप्त नहीं है। कविता अकेली ऐसी विधा है जो कम-से-कम आपके भीतर की बात कहती है। आपके भीतर तक जाती है। कोई दूसरी विधा यह काम नहीं कर सकती। यह उपन्यास नहीं कर सकता। यह कहानी नहीं कर सकती। इसीलिए कविता का होना ज़रूरी है।

इस तरह मैं नज़ीर अकबराबादी को पढ़ते हुए कई बार सोचता हूँ कि नज़ीर अकबराबादी ने

बहुत तरह की कविताएँ लिखी; जैसे ककड़ी पर भी लिखी, रोटी पर लिखी, तिल के लड्डू पर भी लिखी- 'हमने भी गुड़ मंगा के बँधवाये तिल के लड्डू'। मैं कभी-कभी बिल्कुल मज़ाकिया ढंग से सोचता हूँ कि क्या कोई उपन्यास ककड़ी पर भी लिखा जा सकता है, संभव नहीं। आज तक नहीं लिखा गया और लिखा नहीं जा सकता। कोई कहानी भी मेरी नजर से नहीं गुज़री जो सिर्फ तिल के लड्डू के बारे में हो। अब कविता एक अजीब शै है एक अजीब चीज है कि वह उन चीजों के बारे में कह सकती है, प्रामाणिकता के साथ कह सकती है, जिनके बारे में कोई नहीं कह सकता। पाब्लो नेरुदा ने इसी तरह से कुछ एक मामूली चीजों के बारे में ओड्स लिखे। ओड्स माने सम्बोधन-गीत एक तरह के, जिसमें उन्होंने टमाटर के बारे में भी लिखा और कुर्सियों के बारे में लिखा। ऐसी चीजों के बारे में लिखा। उनसे पूछा गया कि नेरुदा साहब आप ऐसी चीजों के बारे में क्यों लिखते हैं। नेरुदा ने कहा कि चीजों को और हर चीज को इस तरह से देखना चाहता हूँ जैसे आदमी ने पहली बार उनको देखा होगा। आप कल्पना कीजिए कि आदमी इस पृथ्वी पर आया और उसने पहली बार टमाटर देखा। सोचकर भी लगता है कि यह अजीब बात है- एक लाल टमाटर हरे पत्तों के बीच। जैसे प्रसाद जी ने भारतीय परम्परा के बारे में लिखा था- यहाँ ऋषि और कवि दोनों एक ही हैं, द्रष्टा हैं। उन्होंने जिस क्रिया का व्यवहार किया वह 'देखना' क्रिया थी। कहा कि दोनों देखते है, दोनों को देखने का अधिकार प्राप्त है। जबकि पाश्चात्य परंपरा में ऐसा नहीं है। हेगल को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि वहाँ कविता के ऊपर अध्यात्म और उसके ऊपर दर्शन है, तर्कशास्त्र। इसीलिए पश्चिम में कविता के पक्ष में बार-बार तर्क देते हुए यह भी कहा गया कि कविता दर्शन का स्थान लेगी। भारत में ऐसी कभी नहीं कहा गया। कवि और ऋषि दोनों द्रष्टा हैं दोनों इस जगत को देखते हैं और मन्त्रों की सृष्टि करते हैं। इसीलिए कविता मंत्र है। तो कविता यह काम करती है, यह काम दूसरा कोई कला माध्यम नहीं कर सकता। न उपन्यास, न कहानी, न निबंध। कोई नहीं, अकेले कविता। तो क्या ऐसी कविता खत्म हो जायेगी। एक दिन एक ऐसे संसार में जहाँ भयंकर बेरोजगारी है, जहाँ की आधी आबादी गरीबी रेखा के नीचे है। जहाँ का पढ़ा-लिखा नौजवान, उसको लगातार यह समझाया जा रहा है कि दुनिया में सबसे अच्छा काम है सामान बेचना और सबसे जरूरी है सामान बेचने वाले लोग। जिन्हें हम आई.आई.टी. कहते है, आई.आई.एम. कहते हैं, वे क्या करते हैं आखिर?

आजादी के बाद हमने वैज्ञानिक तो पैदा नहीं किए, सिर्फ विज्ञान सम्बन्धी काम करने वाले कुछ कुली ही पैदा किए। सबसे ज्यादा आत्महत्याएँ वैज्ञानिकों ने की, शुद्ध वैज्ञानिकों ने। क्योंकि उनको कोई सुविधा उपलब्ध नहीं है। मुझको जब कविता के भविष्य के बारे में बोलने को कहा गया तो सबसे पहले मेरा ध्यान वैज्ञानिकों की ओर गया। कविता तो मैं अकेले कर सकता हूँ, अपने कमरे में कोई मुझे कुछ नहीं कह सकता, लेकिन एक वैज्ञानिक अपना काम ऐसे नहीं कर सकता। इस समाज ने, इस शासन ने, इस पूँजीवाद ने हमें कोई सुविधा नहीं दी। बल्कि जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं, उन्हें भी छीन लिया। हम ज्ञान का कोई काम नहीं कर सकते। हम सिर्फ कुछ लोगों के मजदूर होकर रहेंगे। वे कहेंगे तुम यह काम करो, हम वह काम करेंगे। कविता लगातार प्रतिपक्ष की भूमिका निभाती चली आई है। न तो वह बाजार में गई, न तो सत्ता के पक्ष में गई। इसीलिए जब भारतीय संसद ने अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई तो उसने भारत के किसी गंभीर कवि को अपने बीच नहीं बुलाया। यह कोई सोच भी नहीं सकता था कि ऐसा भी होगा। उसने एक फिल्मी गीतकार को बुलाया भारतीय संसद को संबोधित करने के लिए एक कवि के

रूप में। यह समाज हमने बना रखा है। और इसका किसी ने विरोध नहीं किया। किसी दल के किसी सदस्य ने नहीं। किसी ने बहिष्कार नहीं किया। किसको चिन्ता है श्रेष्ठ मूल्यों की, किसको चिन्ता है मनुष्य की? कुछ सिरफिरे कवि हैं, जो मनुष्य की चिन्ता करेंगे, वे हमेशा करेंगे।

फ़िलिप सिडनी ने अपने उसी लेख का अन्त करते हुए कहा, हालाँकि मैं उसके पहले शुक्ल जी की बात थोड़ा सा और करना चाहता हूँ। शुक्ल जी कहते हैं कि ज्यों-ज्यों सभ्यता विकसित होती जायगी, कवि कर्म कठिन होता जायगा। क्योंकि पर्दे ज्यादा पड़ेंगे, बहुत सी प्रच्छन्न बातें होगी, उन पर्दों का हटाना होगा और कविकर्म कठिन होगा। लेकिन दूसरी तरफ़ कविता की ज़रूरत भी बढ़ेगी, क्योंकि बिना उन पर्दों को हटाए हम सच को नहीं देख सकते। ऐसे समाज में कविता इसीलिए ज़रूरी होगी। कवि-कर्म कठिन होने के बावजूद। कवि-कर्म हमेशा से कठिन रहा है, लेकिन शुक्ल जी का कहना अब मुझे ज़्यादा महसूस होता है कि आज कविता करना ज्यादा कठिन है क्योंकि आज पर्दे ज़्यादा हैं। 'पर्दा' ये उन्हीं का शब्द है। बहुत से पर्दे हटाने होंगे, फिर भी कुछ कवि होंगे, कुछ लोग होंगे जो कविता करेंगे और जो बार-बार कहेंगे कि कविता है, कविता थी और कविता रहेगी, क्येंकि भाषा है क्योंकि मनुष्य है। जब तक मनुष्य है, मनुष्य की मातृभाषा कविता भी रहेगी। फ़िलिप सिडनी ने अपने उस लेख के अंत में कहा कि जो कहते हैं कि कविता खत्म हो जायेगी मैं आपको शाप देता हूँ, आई कर्स, कि तुम प्रेम तो करोगे, लेकिन प्रेम में सफल नहीं होगे, क्योंकि तुम्हारे पास कोई कविता नहीं है। तुम जीवन तो जियोगे लेकिन मर जाओगे, मरने के बाद तुम्हारी समाधि पर कोई लेख नहीं होगा, क्योंकि तुम्हारे पास कविता नहीं है। यह शाप उन्होंने (फिलिप सिडनी ने) दिया। मैं फिलिप सिडनी की तरह कोई शाप नहीं देना चाहता। मैं जानता हूँ कि कविता शाप से अधिक वरदान है और जब तक मनुष्य है, तब तक कविता हमेशा, शमशेर के शब्दों में कहें, तो हमेशा कविता एक आशीर्वाद की तरह चलेगी।



भुवनेश्वर का दुर्लभ चित्र

भुवनेश्वर : भुला दिये जाने वाले साधारण लेखक नहीं

अनिल राय

भुवनेश्वर को अपने समय से आगे का, एक जीनियस लेखक कहा गया है। पर विडम्बना है कि अपने जीवन और रचना में लगातार विवादों और आरोपों में धिरे रहने वाले लेखक के रूप में ही वे ज़्यादा चर्चित रहे हैं। उन्हें लेकर प्रशंसा और विरोध का एक मिला-जुला वातावरण बना रहा है। उनकी सृजनशीलता के प्रति सम्मान और स्वीकृति का भाव भी रहा है तथा प्रश्न, सन्देह और असहमति का भी।

आलोचकों ने लक्ष्य किया है कि भुवनेश्वर की रचनात्मक क्षमता और मौलिक प्रतिभा को उचित सम्मान नहीं मिल सका। न जीते-जी और न बाद में। अपनी बिल्कुल प्रारम्भिक रचनाओं से ही प्रेमचन्द जैसे लेखक की अनुशंसाएं प्राप्त करने वाला और अपनी भाषा-शैली में जैनेन्द्र के सापेक्ष ज़्यादा सकारात्मक कहा गया रचनाकार, बाद में उस रूप में साहित्य-जगत् के लिए स्मरणीय नहीं रहा, सचमुच यह प्रश्न गहन अध्ययन का विषय हो सकता है।

भुवनेश्वर प्रेमचन्द और उनके 'हंस' के अत्यन्त गहरे सम्पर्क में थे। इनका पहला एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' अक्टूबर १९३३ में 'हंस' में प्रकाशित हुआ था और उनकी पहली कहानी 'मौसी' अक्टूबर, १९३४ के 'हंस' में।इस कहानी को प्रेमचन्द ने अपने सम्पादन में प्रकाशित एक संकलन में शामिल करते हुए 'भूमिका' में कहा- ''इनकी शैली में चोट है, ओज है और है आधुनिक कला की छाया। भविष्य में आशा है- उनकी लेखनी और विचार-शैली प्रौढ़ होकर साहित्य की अच्छी सेवा कर सकेगी।'' जैनेन्द्र से तुलना करते हुए उन्होंने लिखा-''आपकी शैली जैनेन्द्र के रास्ते पर चलती नज़र आती है। पर जैनेन्द्र की भाषा की शिथिलता इसमें अनुपस्थित है।'' भुवनेश्वर के एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा- ''भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति है। मर्म को हिला देने वाली वाक्चातुरी है।'' बाईस-तेईस वर्ष का यह एकदम नया-युवा लेखक अपनी दृष्टि, संवेदना और अभिव्यक्ति-कौशल से

अपने समय के सबसे दिग्गज कथाकार-सम्पादक को बहुत गहराई से प्रभावित करता हुआ यहाँ देखा जा सकता है।

भुवनेश्वर ने हिन्दी के अनेक लेखकों-आलोचकों को प्रभावित किया है, पर उनकी प्रतिक्रियाएँ बहुत बाद में आयी हैं। उपेन्द्र नाथ 'अश्क' ने कहा कि वह जीनियस था, बहुत प्रतिभा-सम्पन्न और अपने समय से बहुत आगे, विपिन कुमार अग्रवाल ने उन्हें नये नाटक का जन्मदाता कहा, शमशेर बहादुर सिंह का कहना है कि ऐसी प्रतिभाएँ पैदा नहीं की जा सकतीं, नरेश मेहता की दृष्टि में उनके जैसा एकांकीकार हिन्दी में दूसरा नहीं, लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार वे आधुनिक हिन्दी रंगमंच के जनक हैं, गिरिजा कुमार माथुर उन्हें नयी यथार्थवादी सामाजिक चेतना के प्रस्थान-बिन्दु के रूप में देखते हैं, तो नेमिचन्द जैन उन्हें अपने मुहावरे का सर्वश्रेष्ठ, सबसे समर्थ और सूक्ष्म रचनाकार मानते हैं। शुकदेव सिंह 'भेड़िये' के आधार पर भुवनेश्वर को 'नयी कहानी' के प्रथम लेखक के रूप में सम्मान देते हैं, तो गिरीश रस्तोगी और राजकुमार शर्मा विश्व के प्रथम 'असंगत' (एब्सर्ड) नाटक (तांबे के कीड़े) के लेखक के रूप में।

भुवनेश्वर के मूल्यांकन के ये बीज-संदर्भ उन्हें हिन्दी के परिदृश्य में असाधारण लेखक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पर यह मूल्यांकन-परिदृश्य का केवल एक पक्ष है। उनकी जीवन-शैली और व्यक्तित्व के निजी प्रसंगों को छोड़ भी दें, तो उनके साहित्य के बारे में भी जो प्रतिक्रियाएँ उनके जीवन-काल से ही सामने आती रही हैं, वे सभी सम्मानजनक नहीं हैं। उनके लेखन में अंग्रेजी साहित्य के भावानुवाद-छायानुवाद तक के आरोप लगाये गये, उनकी मौलिकता को प्रश्नांकित किया गया। बर्नार्ड शॉ, इब्सन, आस्कर वाइल्ड आदि की शैलियों की नकल कहकर इनकी रचनाओं की सीमा बतायी गयी। इन आरोपों को स्वयं इनके एक स्पष्टीकरण से भी बल मिला। इन्होंने 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में अपने नाटक 'शैतान' (पतित) पर बर्नार्ड शॉ की छाया के तनिक मुखर हो जाने की बात निर्विवाद स्वीकार की थी। प्रेमचन्द की भी कम-से-कम दो ऐसी टिप्पणियां उद्धृत की जा सकती हैं, जिनमें ऐसे विदेशी प्रभावों की चर्चा की गयी है। प्रेमचन्द ने 'हंस' में 'कारवाँ' की समीक्षा करते हुए कहा- ''कारवाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नयी प्रगति का प्रवर्त्तक है, जिसमें शॉ और आस्कर वाइल्ड का सुन्दर समन्वय है।'' एक अन्य टिप्पणी में वे कहते हैं- ''भुवनेश्वर की रचनाओं में कला का आभास है। यद्यपि उन पर पाश्चात्य प्रभाव छिपे नहीं रह सके हैं।'' इन सबसे जो वातावरण बना वह भुवनेश्वर के पक्ष में नहीं गया, व्यक्तिगत जीवन से लेकर लेखन तक के बारे में जो चर्चायें हुईं, टिप्पणियाँ की गयीं, निस्सन्देह उनसे भुवनेश्वर की ऐसी छवि बनती गयी, जिससे उनके गम्भीर मूल्यांकन की स्थितियां निर्मित ही नहीं हो पायीं। भुवनेश्वर को अपेक्षित महत्त्व न मिल पाने के पीछे इसे एक गम्भीर कारण माना गया है।

कुछ दूसरे कारणों की ओर भी ध्यान दिया गया है। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार- ''नाटककार के रूप में उनका प्रभाव इतना कम इस कारण भी हुआ कि उनके अधिकांश नाटक आकार में बहुत छोटे, एकांकियों जैसे हैं। वे कहते हैं- 'सचाई यह है कि भुवनेश्वर के छोटे नाटकों का उपयोग केवल उत्साही शौकिया संस्थाओं ने या विश्वविद्यालयों आदि ने ही किया। रंगमंच को एक गम्भीर सृजनात्मक अभिव्यक्ति का काम मानने वाली संस्थाओं ने पूर्णाकार नाटकों को ही चुना।' उनके अनुसार परिणाम यह हुआ कि छोटे आकार के कारण 'भुवनेश्वर की रचनाएँ प्रायः नहीं चुनी गयीं और बाद में किन्हीं कारणों से भुलाई जाने लगीं।'

यहाँ रंगमंचीय प्रस्तुतियों की दृष्टि से छोटे आकार के एकांकियों की सीमित उपयोगिता का तर्क

तो समझ में आता है, पर इससे इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि पाठ्य-नाटक के रूप में आखिर ये रचनाएँ समीक्षा की दृष्टि में एक लम्बी अवधि तक गम्भीर मूल्यांकन का विषय क्यों नहीं बन पायीं? कहानियाँ तो रंगमंच के लिए न थीं, फिर आरम्भिक स्वीकृति स्वीकृति के बाद उनके प्रति भी समीक्षा की उदासीनता अथवा चुप्पी का कारण क्या हो सकता है? एक ऐसा लेखक, जो अपने जीवन-काल में हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों के गहन संज्ञान,परिचय और सम्पर्क में रहा हो, उसके बारे में कुछ कहने बोलने वालों की एक अच्छी खासी संख्या रही हो उसे ऐसे अलक्षित छोड़ दिया जाना हैरान करता है।

इस सन्दर्भ में, क्षोभ प्रकट करते हुए डॉ. शुकदेव सिंह ने लिखा है- 'यदि भुवनेश्वर की सही पहचान सही वक्त पर हो गयी होती, तो जो अधबना आधुनिकतावादी साहित्य सन् ६० के बाद लिखा गया, वह साहित्य सन् ४० के बाद ही लिखा गया होता। अज्ञेय का रोमांस, जैनेन्द्र की भावुकतालिप्त दार्शनिकता, यशपाल का सेक्सी मार्क्सवाद और 'रेणु' वगैरह का आंचलिक ग्राम्यत्व साहित्य की समकालीन ऐतिहासिक धारा से जुड़ ही नहीं पाये होते। पूरे-के-पूरे दो दशक तक संघर्ष करती हुई भाषा का इतिहास में पिछड़ जाना, वह भी एक तेज साहित्यकार को नहीं समझ पाने के कारण, कोई मामूली बात नहीं है।'

शुकदेव सिंह का यह मूल्यांकन यदि भावुक हो, अतिरंजित हो, आधा अधूरा, या गलत हो, तो भी इस सच पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि भुवनेश्वर भुला दिये जाने वाले साधारण लेखक न थे।

-9-

'कारवाँ' में तथा कुछ कहानियों और कुछ अन्य रचनाओं में स्त्री की केन्द्रीय उपस्थिति है। एक उदास, दुःखी स्त्री उनकी रचनाओं में बार-बार चित्रित होती रही है। यह वैवाहिक जीवन की विडम्बनाओं, दाम्पत्य-जीवन के द्वन्द्वों में फंसी हुई कोई पत्नी या प्रेमिका अधिक है, विभिन्न सुखों-दुःखों, हर्ष-विषादों से जुड़ी हुई कोई अन्य स्त्री कम। यह विशिष्ट ज्यादा है, सामान्य कम।

१९३५ में प्रकाशित एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' भुवनेश्वर की पहली कृति थी। इसके सभी एकांकियों में एक स्त्री है, उसका पति है और एक अन्य पुरुष है। इस दूसरे व्यक्ति के साथ स्त्री का या तो प्रेम-सम्बन्ध हैं, या कुछ ऐसे सम्बन्ध बनने के संकेत हैं, जो अनुचित-से प्रतीत होते हैं। 'हमारे मानव हृदय' और 'एक रात' जैसी कहानियाँ भी दाम्पत्य-जीवन की इसी विडम्बना को उद्‌घाटित करती हैं। ये सभी रचनाएं मिलकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, प्रेम और दाम्पत्य के बारे में विचार और संवेदना का सघन वातावरण बनाती हैं। इसमें स्त्री के मन में अपने वर्तमान के प्रति असन्तोष का भाव अनुभव किया जा सकता है। प्रेम-रहित पारिवारिक जीवन असम्भव है। स्त्री को प्रेम नहीं मिलेगा, तो घर की सीमाएं टूटेंगी ही। प्रेम-त्रिकोण की इन रचनाओं का अभीष्ट इससे ज्यादा कुछ और नहीं है कि प्रेम एकनिष्ठ दाम्पत्य-जीवन की ज़रूरी शर्त है।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की इन रचनाओं में भुवनेश्वर की कल्पना में जटिल-कुटिल चरित्र नहीं हैं। पति-पत्नी प्रेमी, तीनों ही बड़े संयत और संवेदनशील हैं। स्त्री-व्यक्तित्व स्पष्ट और पारदर्शी है, कोई छल-प्रवंचना नहीं। मानवीय और भावपूर्ण। ये स्त्रियां इस अर्थ में नयी चेतना की वाहक हैं कि अवैध माने जाने वाले इस सम्बन्ध की सचाई को ढंकती-छुपाती नहीं, बल्कि साहस के साथ स्वीकार करती हैं। श्यामा, प्रतिभा, मिसेज सिंह, माया, प्रेमा- सभी की आत्म स्वीकृतियां इसे किसी अपराध-कर्म में

अपघटित होने से बचाती हैं तथा एक नयी प्रकार की वैधता की भूमिका रचती हैं। अन्य पुरुष पात्र प्रायः अपनी प्रेमिकाओं के धर में उपस्थित दिखते हैं। पति को यह पता है, दोनों आमने-सामने भी होते हैं, बातचीत भी होती है, पर कोई असामान्य द्वन्द्व और तनाव नहीं। स्त्री के मन में भय, आशंका, या घबराहट का कोई भाव नहीं है। वह पूर्णतः निरुद्विग्न और शान्त है। इतनी संवेदनशील परिस्थितियों में भी पति-पत्नी का संयम, परस्पर चिन्ता-भाव अचम्भित करता है। यह अभिनय और प्रदर्शन का छल नहीं है। घर-परिवार की परिधि को त्यागे बिना विवाहेतर प्रेम-संवेदना की ऐसी निश्छल स्वीकृतियां इन एकांकियों-कहानियों के मूल कथ्य को एक नया अर्थ सन्दर्भ दे जाती हैं। संवादों में जीवन, प्रेम और विवाह का दर्शन छाया हुआ है। भुवनेश्वर ने इनमें 'त्याग' के कई प्रसंग उपस्थित किये हैं। प्रतिभा अपने प्रेमी महेन्द्र को त्यागती है, 'लाटरी' और 'रोमांसःरोमांच' के पति अपनी पत्नियों को उनके प्रेमियों के लिए त्यागने का प्रस्ताव करते हैं, पर उनके प्रेमी इन कठिन परिस्थितियों में उनके रास्ते से हट जाते हैं। यहाँ अपेक्षाकृत एक बड़े त्याग को रेखांकित करने का प्रयत्न दिखता है।

पति-चरित्र सामन्ती पुरुषसत्तात्मक नहीं है। कदाचित् इसीलिए इन्हें कमजोर-लाचार कह दिया गया है। यह नये बनते आधुनिक सामाजिक मूल्यों का प्रभाव है कि 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' का प्रेमी युवक मनोज अपनी प्रेमिका के घर में निडर भाव से प्रवास करता है और गृह स्वामी मिस्टर पुरी से यह कहने का साहस भी कि 'मैं आपकी पत्नी से प्रेम करता हूँ।' यह नयी बनती हुई चेतना के बिना सम्भव नहीं है। यह केवल प्रेमी के रोमांटिक साहस का प्रतीक नहीं, पति के नये मूल्य-बोध का भी साक्ष्य है। इन स्त्रियों के मन में भी अपने पति के प्रति उपेक्षा या अपमान का भाव नहीं है। कहानी 'हाय रे मानव हृदय' की पत्नी सम्बन्ध के टूट जाने के बाद पतिता का जीवन जीते हुए भी अपने पूर्व पति के प्राणों की रक्षा के लिए चिन्तित है। 'मौसी' की बिब्बो प्रेमी द्वारा छली-जाने के बावजूद उसकी रागपूर्ण स्मृतियों के साथ प्राण त्यागती है। यहाँ इन स्त्रियों में अभी-भी कुछ बचा हुआ है। 'एक रात', 'लाटरी' और 'रोमांसःरोमांच' की स्त्रियां अन्य पुरुष से प्रेम के बाद भी अपने दाम्पत्य-जीवन को बिखरने से बचाती हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और प्रेम-विषयक इन सभी रचनाओं में अनेक समरूपताएं हैं। वही मूल्य, वही द्वन्द्व, वही तर्क और संवाद। एक ही अनुभव, संवेदना और समस्या की लगातार आवृत्ति। लगता है- भुवनेश्वर एक ही कथ्य को अनेक शैलियों में बार-बार रचते जा रहे हैं।

-२-

तो, यह स्पष्ट है कि दाम्पत्य-जीवन की विसंगतियों से दुःखी, ऊबी हुई, अपने पूर्व प्रेमी में जीवन-राग की सम्भावनाएं तलाशती हुई, प्रेम-त्रिकोण के थोड़े-बहुत संकटों में फंसी हुई मध्यवर्गीय स्त्री भुवनेश्वर का एक प्रिय विषय हैं। किसी रचना में जहाँ इतना-कुछ एक साथ हो, वहाँ यौन-प्रसंगों की उपस्थितियाँ असम्भव नहीं।

भुवनेश्वर को साहित्य में यौन-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति पर सिद्धान्ततः कोई असहमति भी नहीं है। 'प्रेमचन्द जी का स्वर्गवास' शीर्षक टिप्पणी में वे लिखते हैं- 'सेक्स एक बड़ी शक्ति है, पर साहित्य से उसका सम्बन्ध स्थापित करना कलाकार की इच्छा पर है।' जाहिर है कि भुवनेश्वर की दृष्टि में कलाकार की इच्छा सामाजिक-सांस्कृतिक बोध से पैदा होने वाले सौन्दर्यशास्त्र के गहरे अनुशासन से निरपेक्ष नहीं है पर, इस रचनात्मक विवेक के बाद भी वे 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में यह कहने से अपने

को नहीं रोक सके- 'प्रायः समस्त नाटककार जो पेटीकोट की शरण लेते हैं, दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़ाकर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है, केवल बुलडाग कुत्ते के मुख से हड्डी निकालकर अलग फेंक दी है। बस अब और क्या चाहिए?' पेटीकोट, स्त्री-पुरुष, बुलडाग और हड्डी- इनके यौनिक निहितार्थ निकालकर भुवनेश्वर की रचनाओं में इनकी अभिव्यक्तियों की पहचान की जाने लगी। 'भाभी कॉम्प्लेक्स और कार्ल मार्क्स' से भुवनेश्वर के इस विचार को सिद्धान्त-सूत्र की तरह ग्रहण किया गया और उन्हीं के साहित्य पर इसे लागू कर दिया गया-'पश्चिम में पुरुषों की संगत में विवाहित स्त्री को थोड़ा-सा फ्लर्ट करना लाजिम है। यह बात जैसे आम चलन की है। यह बात परदे के रिवाज़ के ज़रूरी हेर-फेर के साथ यहाँ भी हैं। संसार की सभी स्त्रियां दमक के लिए थोड़ा-सा फ्लर्ट करती हैं। परदे के समाज में वह प्रेम उन्हीं जवानों से करेंगी, जिनसे कि वह मिल सकती हैं।

भुवनेश्वर को मध्यवर्गीय स्त्री-जीवन में यौन-प्रसंगों के अवसर ज्यादा दिखते हैं। 'भाभी कॉम्प्लेक्स' में इसका भी कारण मौजूद है- 'मुनाफे के नियमों के प्रसार से और मध्यवर्ग के अहम हो जाने पर एक खास तरह की मध्यवर्ग की रोमानियत भी नजरों के सामने आयी।' इस दृष्टि की कई अभिव्यक्तियां उनकी रचनाओं में मिल जायेंगी। 'ऊसर में सेक्स' के साथ 'शाह नजफरोड' जैसे शब्द के जुड़ने से गृह स्वामी के मन में अपनी पत्नी के प्रति सन्देह जन्म लेता है। यह सन्देह यौन-प्रसंग से जुड़ा है। 'शैतान' का राजेन घर के बाहर पार्क के थोड़े अंधेरे कोने में अपनी भाभी से कुछ ऐसी ही अर्थपूर्ण बातें करता है, वह विरोध करती है और बाद में राजेन के त्याग से प्रभावित होकर उसके होठों को चूम लेती है, 'प्रतिभा का विवाह' में प्रतिभा मि.वर्मा के साथ विवाह के अपने निर्णय से प्रेमी महेन्द्र को अवगत कराती है और महेन्द्र के दुःखी हो जाने पर विवाहेतर यौन-सम्बन्ध बनाये रखने का आश्वासन देती है, 'एक साम्यहीन : साम्यवादी' की पार्वती कामरेड मिश्रा के कमरे में सजी-धजी प्रस्तुत होती है, 'एक रात' की प्रेमा अपने विवाह पूर्व प्रेमी केशव के साथ रात के एकान्त में है और संवाद में यौन-आकांक्षा का प्रच्छन्न स्वर मौजूद है, 'हाय रे मानव हृदय' की स्त्री यौन-कर्म से जुड़ी हुई है। ये सारे सन्दर्भ मिलकर भुवनेश्वर-साहित्य में यौन-प्रसंग के प्रभाव का आरोप-पत्र तैयार करते हैं।

स्त्री-जीवन पर केन्द्रित भुवनेश्वर की इन रचनाओं में यौन-प्रसंग की उपस्थिति कोई हैरान कर देने वाली बात भी नहीं है। वह है और प्रायः परिस्थिति और अवसर के तर्क से है, संकेत में है और प्रच्छन्न है। पर, जहाँ नहीं है, आलोचकों ने वहाँ भी उसकी कल्पना कर ली है। जैसे, 'कारवाँ' के प्रथम एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में पतित-गर्हित जीवन-संदर्भ और मूल्य तलाश लिये गये हैं। मनोज और मिसेज पुरी को भौतिकतावादी, विलासी और उन्मुक्त यौन-सम्बन्ध का आकांक्षी बना दिया गया है। उनके परम्परा-विरोधी चरित्र की भर्त्सना की गयी है और भुवनेश्वर को भी इन्हीं पतनशील मूल्यों का प्रतिष्ठापक मान लिया गया है। कहना ज़रूरी नहीं कि भुवनेश्वर ने एक विशेष जीवन-दशा के माध्यम से यहाँ प्रेम-संवेदना की अपरिहार्यता को रेखांकित किया है। मनोज या मिसेज पुरी कथा-सन्दर्भ के एक चरित्र भर हैं। उनमें विलासी भौतिक जीवन की उच्छृंखलता अथवा निर्बन्ध दैहिक आकर्षण का कोई संकेत नहीं है। विवाहेतर प्रेम-सम्बन्ध यहाँ उपस्थित है, पर संयम और आत्म-नियंत्रण के गहरे पारम्परिक नैतिक बोध के साथ। मजे की बात तो यह है कि स्त्री-पुरुष साहचर्य को भी अनेक टिप्पणियों में यौन सम्बन्ध समझा गया है। आलोचना में यह विचार-प्रवृत्ति मौजूद रही है और भुवनेश्वर इसकी गलत व्याख्याओं के शिकार बनते रहे हैं।

-३-

पर, 'कारवाँ' के इस 'उपसंहार' का क्या किया जाए?

- 'जब एक पत्नी की वासना अपने पति के लिए धीमी पड़ जाती है, वह एक वृद्ध और शिथिल बाघिनी के समान हो जाती है।'
- 'पुरुष अनेकों उपायों से एक स्त्री के लिए अपना प्रेम प्रमाणित कर सकता है, पर स्त्री के पास केवल एक उपाय है।'
- वृद्धा स्त्री शतप्रतिशत अपने यौवन काल में सच्चरित्र रह चुकी है। उनके लिए कुकल्पनाएं करना कापुरुषता है।'
- 'विवाहिता स्त्री वेश्या को घृणा से देखती है, उसी प्रकार जैसे एक होम्योपैथिक डाक्टर एक हकीम को।'
- 'धनाढ्य परिवारों की अधिकांश कुमारियां विवाह न करें, यदि सन्तान-निरोध की कोई घुलने वाली औषधि उन्हें मिल जाये और ह्वाइटवे के यहां बच्चे भी बिकते हों।'

'कारवाँ' के 'उपसंहार' के दस पृष्ठों की सैकड़ों टिप्पणियों में भुवनेश्वर के इस प्रकार के विचार सामने आये हैं। इनके परिप्रेक्ष्य में यह देखा जाना चाहिए कि वे किस तरह की स्त्री-छवि निर्मित कर रहे थे?यह अवसन्न कर देने वाली बात है कि यहाँ उनकी एक जबर्दस्त स्त्री-विरोधी छवि बनती दिखती है। ये विचार स्त्री के क्रूरतम अपमान के साक्ष्य हैं। स्त्री की अस्मिता उसके मान-मूल्य की धज्जियां उड़ाती ये टिप्पणियां एक झटके में दार्शनिकता का भ्रम तो ज़रूर पैदा करती हैं, पर विचार करते ही इनकी भयावह पतनशीलता उजागर होने लगती है। भुवनेश्वर की मानें, तो स्त्री का सबसे बड़ा एकान्तिक सुख किसी अन्य पुरुष को आत्म-समर्पण करने के पश्चात् अपने पति या प्रेमी की ईर्ष्या का अनुभव करना है, स्त्री अपने रहस्यमय व्यक्तित्व को समझने की कोशिश करने वाले पुरुष से घृणा करती है, अपनी वास्तविक उम्र से कम जंचना एक स्त्री के लिए वरदान है, अपनी जिन्दगी दांव पर लगा देने के बाद भी एक पुरुष स्त्री से उसका प्रेम नहीं, वासना प्राप्त करता है, स्त्री का जीवन आभूषणों में है, यदि उसकी साड़ी उतार लें तो उसके पास और कुछ नहीं मिलेगा। भुवनेश्वर ने स्त्री के बारे में ऐसे विचार व्यक्त किये हैं, मानो स्त्री केवल एक कामुक जैविक संरचना है। उसके पास देह है, आकर्षण है, धोखा-सन्देह और अविश्वास की पूँजी के अलावा और कुछ नहीं है।

विडम्बना है कि भुवनेश्वर स्त्री के बारे में उस दौर में यह सूत्रीकरण कर रहे थे, जो प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता के गहरे प्रभाव में था। स्त्री स्वाधीन आकांक्षा वाले वातावरण में नये लोकतांत्रिक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के साथ कला-साहित्य में अपनी सम्मानजनक स्वीकृति अर्जित कर रही थी। छठें-सातवें दशक में कविता-कहानी के कुछ रुग्ण-क्षयिष्णु आन्दोलनों के भीतर बहुत बाद में जिस तरह की स्त्री-छवियां निर्मित की गयीं, भुवनेश्वर बहुत पहले उस आशय के वक्तव्य देते हुए यहाँ देखे जा सकते हैं। दो-ढाई दशकों के साहित्यिक इतिहास के अपने उस दौर में भुवनेश्वर इस तरह के

शायद अकेले लेखक होंगे। स्त्री-जीवन के प्रामाणिक यथार्थ के उद्‌घाटन की इनसे कुछ ज्यादा ही अपेक्षा की जा सकती थी, पर इनके विचारों का यह परिदृश्य इसके ठीक विपरीत है। भुवनेश्वर यहाँ चिन्तित करते हैं। यह सच है कि इनके स्त्री-चरित्र प्रायः उच्च मध्यवर्ग, या मध्यवर्ग के हैं। यहाँ धन है, सुख-समृद्धि तथा विलास है। अपेक्षाकृत ज्यादा मुक्ति और स्वच्छन्दता भी है। पर, इस वर्ग की कुछेक स्त्रियों के जीवन-प्रसंगों के आधार पर समूची स्त्री-जाति का यह सामान्यीकरण एक प्रकार की सांस्कृतिक दुर्घटना है।दुःखद है कि हिंदी आलोचना में इस पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है।

-४-

'कारवाँ' के 'उपसंहार' के ये वक्तव्य एकांकियों के विभिन्न पुरुष-चरित्रों के वक्तव्य नहीं हैं। ये भुवनेश्वर के अपने विचार हैं, जिन्हें बर्नार्ड शॉ के नाटकों की भूमिकाओं से प्रभावित माना जाता रहा है। इसलिए भुवनेश्वर स्वयं यहाँ प्रश्नों में हैं। वैसे, रचनाओं के पुरुष पात्रों के विचार कम स्त्री-विरोधी नहीं हैं। एक दार्शनिक अंदाज में आये ऐसे संवादों की वहाँ भी भरमार है। पात्रों के कथन-रूप में होने के बाद भी यह देखा ही जाना चाहिए कि लेखक का ऐसे वक्तव्यों के साथ रचना-व्यवहार कैसा रहा है? ऐसे चरित्रों, संवादों के साथ लेखक के सम्बन्ध की प्रकृति क्या है और क्या पूरी रचना में ऐसे विचारों की 'क्रिटीक' का कोई संकेत दिखता है? ये विचारणीय प्रश्न हैं।

वस्तुतः ऐसे विचारों के प्रतिवाद की कोई तर्क-योजना इन रचनाओं में नज़र नहीं आती। 'प्रतिभा का विवाह' में मि.वर्मा कहते हैं- 'एक स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध या तो आर्थिक है, या कामुक।' यही मि.वर्मा एक अन्य प्रसंग में मिसेज जोशी से कहते हैं- 'मातृत्व एक पेशा है और आप या प्रतिभा की-सी स्त्री के लिए एक निष्ट पेशा है। मैं नहीं चाहता प्रतिभा जीवन को समझने के लिए अपना शरीर और यौवन बेचे, मैं नहीं चाहता वह अपनी जीविका कमाने के लिए एक माता बने।' 'रोमांस : रोमांच' के मि.सिंह का विचार है- 'मैं स्त्री को पुरुष के लिए संकट समझता हूँ और मेरे निकट उस संकट से बचने का केवल एक उपाय है, उसे गर्भवती कर देना।' यहाँ इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन संवादों के श्रोता-पात्र कहीं-भी, किसी एक जगह भी इन स्त्री-विरोधी धारणाओं का प्रतिवाद नहीं करते। एक-आध बार कुछ प्रतिक्रियाएँ होती भी हैं, तो वे अपनी प्रभाव क्षमता में इतनी लचर और निस्तेज हैं कि उक्त विचारों की छद्म दार्शनिक युक्तियों के सामने कोई विमर्श नहीं रच पातीं।

ये विचार नाटकों के पात्रों के हैं। भुवनेश्वर के अपने विचार के रूप में इनके पाठ का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता। लेखक से हर रचना में किसी प्रकार के वैचारिक प्रतिपक्ष की भी मांग नहीं की जानी चाहिए। यह प्रतिपक्ष सन्दर्भ-सापेक्ष पाठ-प्रक्रिया में भी उपलब्ध किया जा सकता है। पर, यह प्रश्न फिर-भी बचा रहेगा कि भुवनेश्वर के समग्र कथा और नाट्य-साहित्य में पुरुषों के स्त्री-विरोधी कथन तो हैं, स्त्रियों के पुरुष विरोधी कथन क्यों नहीं? प्रश्न जरा स्थूल हो गया है। किन्तु, स्त्री-विमर्श के समानान्तर इसका कोई पुरुष-विमर्श बन सकता है क्या?

-५-

''हमारा आधुनिक युग एक पागल वृद्धा के समान है, उसे बकने दो और यदि तुम सतर्क नहीं हो, तो बर्तन, कुर्सिया और टेबुल भी तोड़ने दो।''

'कारवाँ' के 'प्रवेश' में प्रकाशित भुवनेश्वर का यह वक्तव्य काफी चर्चित रहा है। 'भुवनेश्वर साहित्य की भूमिका' में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने बर्नार्ड शॉ की शैली में कहे गये इस वाक्य को दोहरे अर्थ वाला बताया है। उनके अनुसार- 'इसका यह भी एक अर्थ है कि आधुनिक युग हमारे लिए अप्रासंगिक है। साथ ही इसका एक अर्थ यह भी है कि आधुनिक उन्मेष को सहन करो। सतर्क रहो। युग प्रवाह में जो टूट रहा है, उसे टूट जाने दो।' वस्तुतः यह स्वीकृति और निषेध का द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व भुवनेश्वर में गहरे में मौजूद है। इसकी प्रकृति जटिल है और संरचना के कई स्तर हैं। यह नये और पुराने का ही नहीं, नये और नये तथा पुराने और पुराने का भी द्वन्द्व है। न नये में सब कुछ स्वीकार्य अथवा सब कुछ अस्वीकार्य है, न पुराने में। नये और पुराने के अपने-अपने भी अन्तर्विरोध हैं। भुवनेश्वर इन्हीं द्वन्द्वों के अन्तर्विरोधों में उलझे हुए लेखक हैं।

हर युग के सर्जक साहित्यकार द्वारा अपनी परम्परा और परिवेश के मूल्यांकन के साथ किसी नयी सम्भावना के अन्वेषण का उद्यम किया जाता है। भुवनेश्वर भी यह कर रहे थे। एक ओर वे अपने समय में मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों के साथ राग-विराग के द्वन्द्व में थे, तो दूसरी ओर नये आधुनिक मूल्यों के कठिन आलोचनात्मक परीक्षण में। दोनों के साथ उनका सम्बन्ध न पूर्णतः स्वीकृति का था और न ही पूर्णतः निषेध का। उनके साहित्य में मूल्यों का यह द्वन्द्व मौजूद है। इसीलिए, कहीं उनकी विचार-दृष्टि प्रगतिशील दिखती है, तो कहीं नये-पुराने के विकृत घाल-मेल की। इस अन्तर्विरोध की सबसे सधन उपस्थिति उनकी स्त्री-केन्द्रित रचना-दृष्टि में अनुभव की जा सकती है। इसकी निर्मिति में अंग्रेजी साहित्य, उर्दू शायरी और छायावाद की भावुक-रोमानी दृष्टि की भूमिकाओं के साक्ष्य तलाशे जा सकते हैं। भुवनेश्वर के अत्यन्त प्रिय अंग्रेजी साहित्य का गहरा प्रभाव तथा छायावाद की स्त्री-दृष्टि के साथ प्रभाव और प्रतिक्रिया का सम्बन्ध भी लक्ष्य किया जा सकता है। इन सबके बीच भुवनेश्वर ने अपने ढंग से स्त्री का अर्थ उपलब्ध किया था। इसमें व्यक्तिगत जीवन-दशाओं की उत्प्रेरक भूमिका से भी इंकार नहीं किया जा सकता।

प्रतिभाशाली लेखक अपने युग की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिक्रिया भी करता है। स्त्री के प्रति छायावादी भावुक राग-सम्बन्धों से निःसृत एक प्रीतिकर छवि के प्रति भुवनेश्वर प्रतिक्रिया करते प्रतीत होते हैं। वे उससे पृथक स्त्री-छवि निर्मित करने के अघोषित कार्यक्रम में शामिल दिखते हैं। अंग्रेजी साहित्य में आधुनिकता के प्रभाव में स्त्री के नये रूप रचे जा रहे थे। भुवनेश्वर की तलाश और आकांक्षा को उसने प्रेरणा और दिशा प्रदान कर दी। प्रेमचंद ने इनके नाटकों में विदेशी प्रभाव और छाया की बात की है। बर्नार्ड शॉ और आस्कर वाइल्ड के प्रभावों की चर्चा बार-बार होती रही है। इन सबके प्रभाव में भुवनेश्वर जिस एक नयी स्त्री की कल्पना करते हैं, उसे अपनी रचना में रूपान्तरित कर देते हैं, अपने समाज-परिवेश में उसकी वैधता के सत्यापन के बिना ही। पर, आधुनिक जीवन-दशाओं के विकास और नये वर्गों के उदय के बाद भुवनेश्वर की ये आयातित और काल्पनिक छवियां अमूर्त्त नहीं रह गयीं। कालान्तर में ये आकृतियां समाज में चिह्नित की जाने लगीं और कहा जाने लगा कि भुवनेश्वर अपने समय से बहुत आगे के रचनाकार थे। वस्तुतः यह समाज

के आधुनिक गति-शास्त्र का अनिवार्य परिणाम था। बात केवल इतनी थी कि भुवनेश्वर ने पश्चिमी स्रोतों से स्त्री-जीवन की उन नयी व्यक्तित्व-रेखाओं को, अपने वैचारिक द्वन्द्वों-अन्तर्विरोधों के साथ हिन्दी में कुछ पहले ही सम्भव कर दिखाया था।

पुरुष सत्तात्मक समाज-संरचना में प्रेम, विवाह, दाम्पत्य और परिवार से सम्बद्ध मूल्यों का एक त्रासद् इतिहास है। स्त्री इस त्रासदी की सबसे निरीह भोक्ता है। काया और आत्मा की पराधीनता स्त्री के सन्दर्भ में इन मूल्यों की सबसे क्रूर अभिव्यक्ति है। भुवनेश्वर के नाटकों में रूपायित स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) सम्बन्ध में प्रेमी की उपस्थिति से बनने वाले त्रिकोण की, मध्यकालीन सामन्ती पुरुष-सत्तात्मक मूल्यों से आधुनिक मूल्यों के संधर्ष के रूप में एक सकारात्मक व्याख्या हो सकती है। प्रेम-त्रिकोण की कल्पना को तत्कालीन परिवार-संरचना में स्त्री की मुक्ति के एक नये सन्दर्भ के रूप में भी देखने का प्रस्ताव किया जा सकता है। मध्यवर्गीय युवा-आकांक्षा की विफलता और नयी-पुरानी पीढ़ी के संधर्ष की प्रतीक-कथा के रूप में भी इन रचनाओं के पाठ की सम्भावना पर विचार किया जा सकता है। पतियों से युवतर प्रेमी जिसे प्राप्त करना चाहते हैं, उस पर दूसरे अपात्रों का नियंत्रण है और स्त्री की प्रेम-स्वीकृतियों के बावजूद उन्हें निराश होना पड़ता है। पुरानी कोठियों-बंगलों में चलने वाली प्रेम-त्रिकोण की इन कथाओं में नयी उम्र का प्रेमी युवक अपने से बड़ी उम्र के पति के सामने विफल हो जाता है। इस यथार्थ के रचनाकार के रूप में भी भुवनेश्वर के मूल्यांकन की कोई दिशा तलाशी जा सकती है। भुवनेश्वर को आधुनिकता के विविध रूपों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ करते हुए देखा जा सकता है। प्रेम नहीं होगा, तो घर टूटेगा, मर्यादाएँ टूटेंगी, घर के भीतर तक प्रेमी की उपस्थिति और प्रवास होगा- जैसे अपेक्षाकृत नये मूल्यों के पक्ष में उन्हें खड़े होते देखा जा सकता है, तो वैभव की आकांक्षा में आसन्न वैधव्य की चिन्ता न करते हुए वैवाहिक निर्णय लेने वाली नयी स्त्री की विडम्बना उद्घाटित करते हुए भी। पर, इन रचनाओं के पास प्रेम और दाम्पत्य के इन संकट-रूपों के रेखांकन के आगे का कोई रास्ता नहीं है। यही कारण है कि इन रचनाओं में स्त्री-जीवन के दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष तो उपेक्षित हुए ही हैं, प्रेमिका या पत्नी के रूप में भी स्त्री-व्यक्तित्व के अन्य प्रश्नों को छोड़ दिया गया है। निस्सन्देह प्रेम एक बड़ा मूल्य है, पर वह अन्य श्रेष्ठ मूल्यों से जुड़कर ही ज्यादा और व्यापक तथा उदात्त हो पाता है। यह वैयक्तिक संवेदन-जगत में जन्म लेकर भी सामूहिक अभिव्यक्ति बन जाता है। पर, भुवनेश्वर की इन प्रेम करती स्त्रियों के विधान में यह कहाँ?

नये बनते मूल्यों अथवा मूल्यों में तीव्र परिवर्त्तनशीलता के रचनाकार के रूप में भुवनेश्वर स्मरण किये जाते हैं। कहा गया है कि वे नये मूल्यों की खोज के लेखक हैं। पर प्रेम-त्रिकोण की इन रचनाओं में उनकी सीमा यह है कि वैवाहिक पारिवारिक विडम्बनाओं से आगे वे किसी नये प्रगतिशील स्त्री-मूल्य की या किसी स्वस्थ सांस्कृतिक स्त्री-छवि की खोज नहीं कर सके हैं।

-६-

प्रेम-त्रिकोण और दाम्पत्य-जीवन की वैयक्तिक व्यथा-कथा की सीमा के बाहर भुवनेश्वर का एक दूसरा ही लेखकीय रूप सामने आता है। शहरी मध्यवर्ग के अन्य जीवन-विद्रूपों पर यहाँ उनकी तीक्ष्ण दृष्टि है। जीवन की यांत्रिकता, आत्मकेन्द्रीयता, भावात्मक सम्बन्धों का विघटन, भौतिक-आर्थिक संकट, राजनीति, आधुनिक जीवन-बोध अलगाव और मृत्युबोध को रचते हुए हम एक दूसरे भुवनेश्वर को देख सकते हैं।

मध्यवर्गीय जीवन भुवनेश्वर का बहुत जाना-पहचाना है। इसी के इर्द-गिर्द के प्रसंगों को उन्होंने ज्यादा उद्घाटित किया है। प्रेम-त्रिकोण की कल्पना भी वे यहीं करते हैं और जीवन के दूसरे संकट-रूपों के यथार्थ की भी। अपनी सुख-आनन्द की दुनिया में जीने वाले आत्मकेन्द्रित मध्यवर्ग की जीवन-दशाओं को, उनके मूल्य-बोध और विचारों को बहुत भीतर तक जाकर बेपर्द करते हुए एक नये भुवनेश्वर को यहाँ देखा जा सकता है। 'ऊसर' एक सुखी-सम्पन्न वर्ग के स्त्री-पुरुषों का आख्यान है, जिनके लिए सोशलिज़्म-ओशलिज़्म फालतू चीज़ है और बराबरी-समानता की बात करने वाला पागल है। अपने समय के इतिहास-बोध और ज्ञान-शास्त्र से कटे हुए इस वर्ग की दिनचर्या में मस्ती है, पार्टी है, सिनेमा है। इस वर्गीय मूल्य-बोध को पकड़ने के लिए भुवनेश्वर ने एक अद्भुत रचनायुक्ति की कल्पना की है। वे शब्द के बदले शब्द की जो योजना बनाते हैं, वह कौतुक नहीं, केवल खेल नहीं, एक तार्किक-मनोवैज्ञानिक युक्ति है, जो शब्द के सहारे व्यक्ति के मन तक जाकर उसके व्यक्तित्व को समझने में सहयोग करती है। कमरा, बिजली, सेक्स, बाथरूम, अंधेरा, शाहनजफ रोड जैसे शब्द आपस में मिलकर एक अर्थ-सरणि बनाते हैं। सुख और भोग के भौतिक स्रोतों की ओर संकेत करते ये शब्द उस वर्ग के जीवन-दर्शन के बीज-सूत्र हैं। यह जीवन इन्हीं मूल्यों के आस-पास है। उसके बाहर का कोई सन्दर्भ यहाँ नहीं है। मोटी रमणी युवक से कहती है कि तुम्हें क्या मालूम कि विक्टोरिया के जमाने में क्या सुख था?

नयी बनती हुई आर्थिक-भौतिक दुनिया में पतनशील जीवन-मूल्यों ने आत्मिक भावात्मक सम्बन्धों का अन्त कर दिया है। भुवनेश्वर इस नये यथार्थ के प्रति संवेदनशील हैं। 'मां-बेटे' इस संवेदना की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। एक भरा-पूरा, व्यवस्थित-सन्तुष्ट परिवार जिस तटस्थता और निरुद्विग्नता से 'मां' की मरण-प्रक्रिया का प्रतीक्षारत द्रष्टा बनाया गया है वह स्तब्धकारी है। मरती हुई 'मां' के मन के द्वन्द्वों, भावनाओं के आरोहों-अवरोहों, अपनों की स्मृतियों के साथ चलने वाली मौन अन्तःक्रियाओं के सापेक्ष बेटे-बेटियों, परिजनों की ठण्डी, आवेगहीन भाव-दशाओं का सत्य एक गम्भीर सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटना की ओर ध्यान खींचता हैं। भुवनेश्वर यहाँ भावात्मक सम्बन्धों के विघटन का गहरा दर्द पैदा करते हैं। अपनी महत्वाकांक्षाओं की छोटी दुनिया में आत्मरति पीड़ित मध्यवर्गीय चरित्रों के विविध पक्षों को उद्घाटित करतीं इनकी रचनाएं सामाजिक यथार्थ का एक नया बोध रचती हैं। एक ऐसे समाज की कल्पना करें, जिसके विशिष्ट जनों के मन में अपनी रुचियों, अपनी बातों, अपनी सक्रियताओं और योजनाओं के अलावा किसी अन्य में कोई दिलचस्पी नहीं है। किसी तथाकथित ईमानदार को केवल अपनी ईमानदारी, कवि को केवल अपनी कविता, विशेषज्ञ को अपनी विशेषज्ञता, पेशेवर नेता को क्राइसिस और पब्लिक मीटिंग तथा किसी सुन्दर स्त्री को अपने होंठों और चेहरे की चिन्ता है। भुवनेश्वर ने एक सतर्क रचना-दृष्टि के साथ 'आजादी की नींद' में ऐसे ही समाज की कल्पना की है। यह देश की आजादी के ठीक बाद प्रकाशित उनका एकांकी है, जो भद्र-लोक के राष्ट्रीय-सामाजिक सरोकारों से कटे हुए अकर्मक चरित्र को पूरी निर्ममता से अनावृत्त करता है। यही वह वर्ग है, जो व्यर्थ की बातें करता है, निष्क्रिय सुविधाभोगी है- यह बौद्धिक, कवि, कलाकार, पेशेवर नेता हैं। इन सबका एकांकी के अन्त में कुर्सियों पर बैठा होना अत्यन्त प्रतीकात्मक है। आजादी की रात पूरी निश्चिन्त और तटस्थ नींद सोने वाला यह वर्ग आजादी को सड़क की भीड़ से चलने वाली एक ख़बर से ज़्यादा महत्त्व नहीं देता। असम्बद्ध और असंगत-सी प्रतीत होने वाली संवाद-योजना के साथ आगे बढ़ता यह एकांकी अपने सरलीकृत प्रभाव में एक प्रहसन से कुछ अधिक नहीं लगता। पर, है यह गहरे सामाजिक संकेतों वाली अर्थ-व्यंजक रचना।

पूँजीवादी-औद्योगिक समाज-संरचना से पैदा होने वाले नये मूल्यों की पहली अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय जीवन के जिन प्रमुख पक्षों में दिखी थी, 'परिवार' उनमें से एक है। यह दो भिन्न समाजों के मूल्यों की संघर्ष-भूमि है। यह सामन्ती मूल्यों के पूँजीवादी मूल्यों से टकराहटों और संक्रमण की भूमि है। भुवनेश्वर ने दाम्पत्य-जीवन की विडम्बनाओं से अलग मध्यवर्गीय परिवार के ऐसे संकटों को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया है, जिनमें आधुनिकता सभ्यता के रुग्ण-यांत्रिक जीवन-मूल्यों के विनाशकारी प्रभावों की अभिव्यक्ति तो हुई ही है, नये और पुराने का द्वन्द्व भी सामने आया है। 'स्ट्राइक' उनका एक ऐसा ही एकांकी है।

सामान्यतः दाम्पत्य-विसंगतियों पर आधृत यह 'कारवाँ' का कोई एकांकी प्रतीत होता है। इसमें एक ऐसी स्त्री की छवि बनती हुई दिखती है, जो स्वच्छन्द है, परिवार की मर्यादाओं की चिन्ता न करती हुई कहीं भी रात गुजार सकती है। भुवनेश्वर यहाँ मध्यवर्गीय जीवन का अपना अत्यन्त जाना-पहचाना वातावरण तो चुनते हैं, पर, उसमें एक नयी सामाजिक अन्तर्वस्तु आविष्कृत करते हैं। यह पहला एकांकी है, पहली बार पति-पत्नी सम्बन्ध और पारिवारिक जीवन-पद्धति को, प्रेम त्रिकोण से बाहर निकालकर, कुछ दूसरे गम्भीर प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। यहाँ कोई प्रेमी नहीं है। सन्देह और आरोपों का भी परिचित वातावरण नहीं है। स्त्री अपनी महिला मित्रों के साथ है, इसलिए स्पष्ट है कि यह साथ घूमने-फिरने, खाने-पीने और थोड़ी मौज-मस्ती का मामला है।

समस्या दूसरी है। यहाँ यांत्रिक जीवन-शैली को उसके पूरे दर्शन के साथ प्रश्नांकित किया गया है। 'पुरुष' बिल्कुल यंत्र की तरह जीवन को देखने-समझने और चलाने की गलती करता है। ट्रेन के आने से लेकर पेट्रोल पम्प पर कार तक पहुँचने और फिर घर आकर डायनिंग टेबुल पर होने तक को जिस तरह वह घड़ी देखकर, धण्टे और मिनट तक में विभाजित-नियोजित करता है, वह सब एकदम गणितीय और यांत्रिक है। पुरुष लगातार समय का हिसाब लगाता हुआ, तेजी से काम निपटाता और अगली योजना बनाता हुआ। अपने काम के अलावा, अन्य के मामलों में पूर्णतः निर्लिप्त। इसका एक दर्शन भी उसके पास है। वह स्त्री से कहता है कि दुनिया का भविष्य उन लोगों के हाथ में है, जो अपनी जिम्मेदारी को मशीन की तरह पूरा कर रहे हैं। वह मशीन को, कल पुरजे को, उसकी कार्य-प्रणाली को स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, परिवार पर रूपक की तरह लागू करता है। उसका दर्शन है कि दुःख या सुख इतनी ठोस चीजें हैं कि वे शीशियों में बिका करेंगी, स्त्री-पुरुष तो जीवन की मशीन के दो पुरजे हैं, मशीन का एक पुरजा यदि बिगड़ जाये, तो पुरजा बदल डालिए, स्वयं बदल जाइए। भुवनेश्वर इस प्रकार की आधुनिकता के पक्ष में नहीं हैं, जो मानवीय जीवन को जड़-यांत्रिक समझ लेने या बना देने का दर्शन प्रस्तावित करती है। इसलिए, वे युवक की व्यंग्यात्मक टिप्पणियों से इस जीवन-शैली और उसके विचार की विडम्बना उद्‌धाटित करते हैं। यहाँ भुवनेश्वर युवक में उपस्थित हैं। पत्नी रात को घर नहीं आ पायेगी- इस सूचना पर घर-परिवार को कल-पुरजे वाली फैक्ट्री समझने की बात करता हुआ पति जब विमूढ़ हो जाता है कि अब रात के खाने का प्रबन्ध कैसे हो पायेगा, तो भुवनेश्वर युवक से एक अर्थपूर्ण टिप्पणी कराते हैं- ''मेरे होटल में आइए। आपकी फैक्ट्री में तो आज स्ट्राइक हो गयी।'' इस एकांकी शीर्षक का व्यंग्य यही है कि 'स्ट्राइक' तो फैक्ट्री में होती है, पर यहाँ तो घर में हो गयी। भुवनेश्वर कहना चाहते हैं कि नये यांत्रिक जीवन-मूल्यों के

प्रभाव में घर को जब भी फैक्ट्री समझने की कोशिश की जायेगी, ऐसी ही त्रासदी घटेगी। पारिवारिक जीवन यंत्र नहीं है। यह रागात्मक अन्तःक्रियाओं और संवेदनशील अन्तःसम्बन्धों में सम्भव होता है। पर, भुवनेश्वर 'स्ट्राइक' से कुछ और भी कहना चाहते हैं। इसकी अन्तर्वस्तु सामाजिक यथार्थ के कुछ दूसरे रूपों की ओर भी संकेत करती है। इस एकांकी में पति एक अतिथि युवक के साथ पत्नी की प्रतीक्षा में है। पत्नी दिन-भर बाहर रहने के बाद, रात को घर न लौट पाने की सूचना भेज देती है। यहाँ संकट यह है कि इतनी रात को खाने का प्रबन्ध कैसे होगा? सामन्ती मूल्य-चेतना के लिए यह एक बड़ी घटना है। उसके अनुसार पत्नियाँ किसी ज़रूरी काम से बाहर निकलें भी, तो रात को हर हाल में उन्हें अपने घर के भीतर होना चाहिए, उन्हें खाने के प्रबन्ध की चिन्ता रखनी चाहिए। यह पत्नियों के धर्म को परिभाषित करने वाली, उनकी जिम्मेदारियाँ तय करने वाली एक सुपरिचित पुरानी चेतना है। किन्तु, भुवनेश्वर इस एकांकी में ऐसा कुछ नहीं कहते। वे सजग हैं और इसे एक दूसरा वैचारिक परिप्रेक्ष्य दे देते हैं। यहाँ पुरुष को चिन्ता इस बात की नहीं है कि पत्नी क्यों नहीं लौटी। उसके मन में कोई सन्देह अथवा आरोप भी नहीं है। पत्नी के प्रति पुरुष-वर्चस्व का दम्भ और अधिकार-चेतना का आक्रोश भी नहीं है। पुरुष यदि चिन्तित है, तो इस बात पर कि खाने का और गाड़ी का क्या होगा? गाड़ी तो पेट्रोल पम्प पर खड़ी है। पत्नी के प्रति किसी संवेदना, चिन्ता और तनाव की जगह वह व्यावहारिक चिन्ताओं में फंसा हुआ है।

पूँजीवादी भौतिक-आर्थिक संरचना से निकलने वाले मूल्यों ने यदि पुराने कोमल-रागात्मक मानवीय सम्बन्धों को अपदस्थ कर घर-परिवार, पति-पत्नी की प्रगाढ़ आत्मीयता तक को कल-पुरजे और फैक्ट्री के यांत्रिक सम्बन्धों में अपघटित कर दिया है, तो उसने परिवार में पुरुष-सत्ता के अलोकतांत्रिक वर्चस्व, सामन्ती नियंत्रण और हस्तक्षेप के विरुद्ध भी वातावरण बनाया है, चेतना पैदा की है और लोगों को बदला है। भुवनेश्वर पूँजीवादी यांत्रिकता को तो यहाँ प्रश्नांकित करते ही हैं, पूँजीवादी आधुनिक मूल्यों के दबाव में स्त्री-विरोधी पुराने मूल्यों में घटित होने वाले परिवर्तन को भी रेखांकित करते हैं।

-८-

भुवनेश्वर की कहानी 'सूर्यपूजा' का विलास अपने डॉक्टर मित्र से कहता है कि 'तुम मुर्दा हो, बिल्कुल मरे हुए', 'यह नरक है, यह भरा-पूरा शहर मुर्दों की बस्ती है', 'हमें तो कब का मरघट पहुंच जाना चाहिए था', 'हम लोग जिन्दा कहां रहते हैं'। 'हम लाशों की तरह सड़ते-गलते हैं', 'आओ हम यह दुनिया त्याग दें।'

विलास के ऐसे ही संवाद इस कहानी के एक बड़े हिस्से में मौजूद हैं। उनमें अपने परिवेश का एक भयावह यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। जीवन की जगह नरक और मृत्यु की त्रासद् स्थितियों का सघन यथार्थ। बस्ती, शहर, दुनिया- हर जगह मरे हुए लोग। जीवन के लक्षण कहीं नहीं, बस मृत्यु ही मृत्यु। यह सब विलास का प्रत्यक्षीकरण है। किन्तु, भुवनेश्वर के विचार-विन्यास में यह व्यापक सामाजिक संत्रास में रूपान्तरित हो गया है। आधुनिक युग की जटिलताओं के भीतर से उपजने वाली मनुष्य-विरोधी जीवन-परिस्थितियों पर भुवनेश्वर की दृष्टि बार-बार जाती रही है। वे जीवन-संकटों में निपट अकेले, थके-हारे, ऊबे, उदास, विवश और पराजित मनुष्य की संवेदना और अनुभूति के

प्रामाणिक पुनर्सृजन के प्रयत्नों के रचनाकार हैं। वे जानते हैं कि सामाजिक तनावों और द्वन्द्वों में फंसा हुआ यह आधुनिक मनुष्य अपने शेष परिवेश से विच्छिन्न होता चला जाता है और उसकी अनिवार्य परिणति उसके व्यक्तित्व-विघटन में दिखती है- अलगाव, व्यर्थता बोध से लेकर मृत्यु-बोध तक की परिणति। वे अपनी अनेक रचनाओं में इन आधुनिक जीवन-प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इनके लगभग सभी स्त्री-चरित्र उदास, अन्यमनस्क और क्षुब्ध हैं। अनेक पुरुष चरित्रों की दशा भी यही है। ऊब और अकेलेपन की मनःस्थितियां हैं। कहीं कम, कहीं ज्यादा। परन्तु, इसकी सबसे सघन, संश्लिष्ट और तीक्ष्ण उपस्थिति 'सूर्यपूजा', 'तांबे के कीड़े' और 'मास्टरनी' में अनुभव की जा सकती है। 'तांबे के कीड़े' सामाजिक और वैयक्तिक विघटन के गहरे संवेदनात्मक जीवन-सन्दर्भों को प्रत्यक्ष करता है। यहां समाज और व्यक्ति के संकट विभाजित नहीं हैं। एक तार्किक अन्तः सम्बन्ध की त्रासदी को एक नयी अर्थ-व्यंजना दे देता है। यहाँ विशृंखलित मनोदशाओं के वस्तुगत भौतिक आधार हैं। इसलिए, यहाँ व्यक्तिगत भी सामाजिक को प्रतिध्वनित करता है। यहाँ सब ऊबे हुए, थके हुए लोग हैं। भय और आशंका का वातावरण है। सब एक साथ होते हुए भी अलगाव जीते और व्यर्थता बोध का अनुभव करते हुए। जीवन का अर्थपूर्ण सृजनशीलता का कोई संकेत यहाँ नहीं हैं।

यहाँ जीवन है, पर विशृंखलित, क्षणों-घटकों में विभक्त। यह आधुनिकतावाद का हस्तक्षेप है। इसने साहित्य में कुछ संकट पैदा किये हैं। एक ऐतिहासिक मनुष्य के बदले क्षणों को जीता-भोगता, अनुभव करता हुआ, छोटी जीवन-परिधि का मनुष्य इस साहित्य के केन्द्र में है। पर, भुवनेश्वर ने आधुनिकता के इस नकारात्मक मूल्य-सन्दर्भ के प्रति एक चेतस् सृजनात्मकता का परिचय दिया है। इसका उत्कट साक्ष्य 'सूर्यपूजा' है, जहाँ अन्ततः मृत्यु जीवन से हार जाती है।

'सूर्यपूजा' में पहले जीवन की व्यर्थता का, ऊब का, आत्महंता निराशा और मृत्युबोध का कथा-दृश्य रचा गया है। इसी कारण इसे अब, संत्रास और मृत्युबोध की कहानी कहा गया। यह सही है कि इसके एक बड़े हिस्से में नरक और मौत की इतनी सघन चर्चा है कि यह मृत्युबोध की कहानी बनती दिखती है। पर, अन्तिम अनुच्छेद में भुवनेश्वर ने एक विलक्षण नाटकीय परिवर्त्तन किया है। यह सतर्क रचना-दृष्टि का हस्तक्षेप है। जीवन, समाज और दुनिया में केवल नरक और मृत्यु की स्थितियाँ देखते आ रहे विलास के भीतर कहानी के अन्तिम, छोटे-से अनुच्छेद में अचानक एक प्रबल जिजीविषा जन्म लेती है। वह डॉक्टर से कहता है कि हमें जीना है, हमें जरूर जीना है, हम कागज की कन्दीलों की तरह बुझे हुए फर्श पर पड़े हैं, पर देखना हम लोग फिर जल उठेंगे। यह भुवनेश्वर की प्रगतिशील दृष्टि का प्रभाव है। विलास डॉक्टर से दो अलग-अलग दुनिया की बात करता है। एक झूठ और दुकानदारी की दुनिया और दूसरी गरीबों की, सर्वहारा की दुनिया। पहली को त्यागना चाहता है और दूसरी को प्यार करता है। इसी दूसरी दुनिया के लिए वह जीना चाहता है। यह मृत्यु बोध से जिजीविषा तक की यात्रा है। यातना और संत्रास से जीवन-संसक्ति की ओर का परिवर्तन। इस द्वन्द्वको यह कहानी तीक्ष्णता से उद्घाटित करती है। यह द्वन्द्वमुक्ति की कथा भी है। एक बड़े तनाव से बाहर निकालती हुई। मृत्यु के घने वातावरण का अन्त इसमें सुबह की रोशनी से होता है। एक नयी दुनिया के सूर्य से। सूर्य पूजा की मुद्रा उस नयी दुनिया की स्वीकृति और उसमें मनुष्य की आस्था का रेखांकन है। कहानी के अन्त में ऐसा लगता है कि मृत्यु की फांस में पड़ा हुआ आदमी अंततः उससे मुक्त होकर 'जिन्दगी जिन्दाबाद' के पक्ष में खड़ा हो गया हो।

भुवनेश्वर की रचनाओं में अकेलापन, ऊब और व्यर्थता-बोध के भिन्न-भिन्न सन्दर्भ हैं। 'सूर्य

पूजा' में जहाँ इसका एक बड़ा सामाजिक सन्दर्भ है, वहीं 'तांबे के कीड़े', में वैयक्तिक और सामाजिक-सब मिला-जुला है। 'मास्टरनी' शीर्षक कहानी व्यक्तिगत जीवन-परिदृश्य में उनके स्रोतों की ओर अधिक संकेत करती है। यह मास्टरनी की उदासी, विक्षोभ, चिड़चिड़ेपन और असंयत व्यवहार को उसकी निजी जीवन-स्थितियों में खोजने का एक व्यवस्थित तर्क प्रस्तुत करती है। भुवनेश्वर स्त्री-पुरुष की वैवाहिक विडम्बनाओं के प्रश्नों पर ध्यान खींचने वाले रचनाकार तो हैं ही, उनकी दृष्टि में अविवाहित जीवन के संकटों का प्रश्न भी महत्वपूर्ण नहीं है। कम से कम 'मास्टरनी' की कथा-संवेदना से तो ऐसा अनुभव किया जा सकता है। यह अर्थपूर्ण है कि दाम्पत्य-जीवन के असन्तुलन के समाधान के रूप में भुवनेश्वर विवाह के निषेध का कोई तर्कशास्त्र नहीं रचते। एक विडम्बना का उत्तर वे एक अतिवाद से नहीं दे सकते थे।'मास्टरनी' वस्तुतः इस अतिवाद का निषेध है।यह अकेलेपन की रुग्ण परिणतियों को उद्घाटित कर उसके विरोध का वैचारिक पक्ष निर्मित करती कहानी है। इसके आरम्भिक अंशों में ही कथाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मास्टरनी रूखी, गुस्सैल और चिड़चिड़ी हो गयी है। वह अब अधिक कठोर हो गयी है। एक आकलन है कि इस असंगत व्यवहार का कारण उसके मां-बाप का परिवार है, जो उसके साथ लोभ-लालच का सम्बन्ध रखता है। पर, कथा-वस्तु इस आकलन को पुष्ट नहीं करती। परिवार से दूर रहती मास्टरनी से बराबर कुछ मांग होती रहती है- कहानी में इसका कोई संकेत नहीं है। स्वयं आगन्तुक भाई से मास्टरनी की बातचीत पर ध्यान दें, तो यह स्पष्ट है कि वर्षों बाद वे मिल रहे हैं। बहन को भाई के बारे में यह तक नहीं पता कि वह आजकल कर क्या रहा है? इससे पता चलता है कि वे लोग बहुत सक्रिय सम्पर्क में नहीं हैं। फिर यह कठोरता, यह चिड़चिड़ापन? यह मनोदशा व्यक्त तो होती है अपने घर-परिवार के प्रति। किन्तु उसका मूल कारण तात्कालिक सन्दर्भों से नहीं, उसके कठिन-कठोर जीवन से है। इस जीवन में किसी के लिए भी कोई उल्लास नहीं। लगता है, सब सूख गया है। भाई के आने पर भी कोई विशेष भावात्मकता नहीं प्रकट होती। एक मौन, एक अन्तराल, जो कभी-कभी टूटता है। वह अपने जीवन की व्यथा बताती है- 'मैं जैसे जिन्दा दफना दी गयी हूँ।' वे कौन-सी जीवन की स्थितियाँ हैं, जो मास्टरनी के लिए इतनी दुस्सह और अवांछनीय हैं। आर्थिक कारण तो नहीं दिखते। जितने दिखते हैं, वे इस मनोदशा के प्रभावी कारक नहीं हैं। यह अर्थपूर्ण है कि मास्टरनी ईसाई है। वह एक अविवाहित मिशनरी जीवन जी रही अध्यापिका है। ध्यातव्य है कि इसमें पति अथवा वैवाहिक जीवन का सन्दर्भ अनुपस्थित है। मास्टरनी एकान्त और अकेलापन जी रही है। कुछ बच्चे, दो-एक लोग, बस।अन्य किसी व्यस्त सामाजिक दिनचर्या का अभाव। इन सारी स्थितियों की जटिल संरचना में मास्टरनी के व्यक्तित्व की व्याख्या की सम्भावनाएँ खुलती हैं।

क्या 'मास्टरनी' को भुवनेश्वर के एक नये स्त्री-विमर्श के रूप में देखने का कोई प्रस्ताव किया जा सकता है?

-६-

किसी लेखक के मूल्यांकन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह हो सकता है कि उसकी रचनाओं में अपने समाज के आर्थिक चरित्र की कोई पहचान मौजूद है, या नहीं? भुवनेश्वर के प्रिय लेखक प्रेमचन्द इस सन्दर्भ में अत्यन्त जाग्रत और सावधान हैं। वे भौतिक-आर्थिक प्रश्नों को अत्यन्तिक महत्व देने वाले

लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका कहना है कि इस दुनिया में अब न हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति। अब केवल एक ही संस्कृति है और वह है आर्थिक संस्कृति। भुवनेश्वर में भी एक ऐसा ही आर्थिक परिप्रेक्ष्य मौजूद है। उनके एकांकी 'शैतान' (पतित) का राजेन एक संवाद में हरदेव सिंह और उसकी पत्नी से रुपये को एक ऐसा ईश्वर बताता है, जो समस्त मानव धर्म और जाति का विधायक और पोषक है। इसी एकांकी के एक दूसरे संवाद में वह निर्धनता को एक निर्दय पाप और बड़ा अपराध मानते हुए उसका दंड फांसी बताता है ।सम्पन्नता ईश्वर है और गरीबी पाप। एक असंगत-से प्रतीत होने वाले मुहावरे में भुवनेश्वर अपने समय और समाज के अर्थशास्त्र पर एक विडम्बना मूलक टिप्पणी कर रहे थे।

समाज की निम्नवर्गीय आर्थिक समस्या और चेतना के बारे में भी प्रेमचन्द्र और भुवनेश्वर के विचारों में आश्चर्यजनक समानताएँ देखी जा सकती हैं। 'एक साम्यहीन : साम्यवादी' के मजदूरों की आपसी बातचीत में आर्थिक चेतना आकार ग्रहण करती दिखती है। वर्गीय यथार्थ यहाँ बहुत स्पष्ट है- 'यह क्या है कि रईस हजारों रुपया नाच-मुजरे, मेले-तमाशे में उड़ा दें, दस रुपये के पान खाकर थूक दें और हम पेट-भर खाने को भी न पायें। हमें भी तो अपने बच्चे इतने प्यारे हैं, जितने उन्हें। उनके लड़के अलल्ले-तलल्ले करें, धी-दूध में नहायें और हमारे बच्चे पेट भर खाना भी न पा सकें, लज्जा छिपाने के लिए कपड़े भी न मिलें।' असमानता को रेखांकित करती यह वर्ग-दृष्टि जब किसान जीवन के आर्थिक यथार्थ को देखती है, तो वहाँ का दृश्य कुछ कम भयावह नहीं लगता। इसी एकांकी का एक मजदूर कहता है- 'खेती में क्या धरा है, छाती फाड़कर धरती से अन्न पैदा करो, पर खाने को तो मिलता नहीं। परसाल चाचा के चार बीघे गेहूं हुए, पर अबकी बीज तक उधार लिया। कितना लगान पड़ता है और फिर उन पर नजराना, मिटौनी और महाजन...।' जैसे लगता है कि हम प्रेमचन्द के कथा देश से गुजर रहे हों। इस एकांकी को साम्यवादी ट्रेड यूनियन की राजनीति के पाखण्ड को अनावृत्त करने वाली एक रचना के रूप में प्रायः मूल्यांकित किया गया है। वह एक यथार्थ है। इसके एक और यथार्थ पर भुवनेश्वर की दृष्टि है।यहाँ पार्वती की कामरेड मिश्रा के घर तक की पतन-यात्रा का प्रच्छन्न यथार्थ ज्यादा भयावह है। सुन्दर और पार्वती की नैतिक पराजय के मूल में आर्थिक कारण हैं। भूख और पेट का यथार्थ है, देह और काम का नहीं। इसे पार्वती के मन के द्वन्द्व को देखकर सुन्दर द्वारा की गयी इस टिप्पणी में अनुभव किया जा सकता है- 'आ जाऊँगा, नहीं तो क्या भूखों मरूंगा?'

भुवनेश्वर की आर्थिक चेतना 'सूर्यपूजा' में भी सक्रिय है। मृत्यु के उस घनीभूत वातावरण के भौतिक-आर्थिक कारण हैं। विलास जिन्दगी नहीं, नरक जी रहा है- इसका प्रमाण उसकी दृष्टि में यह है कि उसके पास छदाम तक नहीं है। उसकी सर्वहारा-चेतना झूठ और दुकानदारी चलाने वाले प्रभु-वर्ग के विरोध में खड़ी है। यह बार-बार कहा गया है कि भुवनेश्वर की ज्यादातर रचनाएँ मध्यवर्ग और उसके आस-पास के जीवन-परिवेश से जुड़ती हैं। मध्यवर्ग एक सामाजिक-आर्थिक संरचना है। इसके पारिवारिक सम्बन्धों की विसंगतियों के उद्घाटन पर ही उनका ध्यान ज्यादा है। इस वर्ग के समाजार्थिक चरित्र, जीवन-मूल्यों के अन्तर्विरोध, आत्म-केन्द्रण, उत्तरदायित्वहीनता, छल-छद्म, पाखण्ड आदि के व्यापक यथार्थ को उद्घाटित करने वाली रचनाएँ कम हैं। पर, ऐसे मध्यवर्गीय दाम्पत्य-प्रसंगों में भी जहाँ अवसर मिला है, उनकी आर्थिक चेतना ने अपने समय का एक यथार्थ खोज लिया है, 'प्रतिभा का विवाह' में नये पूँजीवादी मूल्यों के उन खतरों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, जो मानवीय गरिमा को नष्ट करने वाले हैं। आत्मिक-भावात्मक तत्वों से

सम्पन्न वैवाहिक जीवन के सापेक्ष एक सम्पन्न वैधव्य के विकल्प का निर्णय आर्थिक मूल्यों की श्रेष्ठता की घोषणा है। भुवनेश्वर तीक्ष्ण व्यंग्य-दृष्टि से इसे प्रश्नांकित करते हैं। 'आदमखोर' मिलों में हाड़-तोड़ श्रम करने वाले वर्ग की आर्थिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात तो करता है, किन्तु यहाँ उसका मुख्य प्रयोजन दूसरा है। मजदूर वर्ग पर कोई रचना केन्द्रित होगी, तो उसका परिवेश आयेगा ही और उसके आर्थिक सन्दर्भ भी आयेंगे। इस एकांकी में भी आये हैं। पर, यहाँ इन सन्दर्भों की जगह औद्योगिक परिसर और श्रमिक जीवन से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रश्नों समस्याओं को चित्रित किया गया है। 'खामोशी' आर्थिक शोषण-तंत्र की जटिल संरचना को गहरी प्रतीकात्मकता में अभिव्यक्त करने वाला एकांकी है। उधार और नकद विक्रय-प्रणाली की दुरभिसन्धियों में फंसे हुए आदमी के त्रास को असंगत शिल्प-कौशल में प्रतिबिम्बित करती यह रचना भुवनेश्वर की आर्थिक चेतना का कलात्मक रूपान्तरण है।

-१०-

मध्यवर्गीय अन्तर्वस्तु का अतिक्रमण कर औद्योगिक मजदूरों के निम्नवर्गीय जीवन-यथार्थ का साक्षात्कार कराते हुए भुवनेश्वर अपनी दो रचनाओं 'एक साम्यहीन : साम्यवादी' और 'आदमखोर' में अपनी बिल्कुल भिन्न चेतना के साथ उपस्थित हैं। मजदूरों की सामाजिक आर्थिक दशाओं, हड़ताल, ट्रेड यूनियन के नेतृत्व के भ्रष्टाचार, शोषण, बेकारी और मजबूरी इन रचनाओं का मूल कथ्य है।

'एक साम्यहीन : साम्यवादी' में कथ्य और संवेदना के दो केन्द्र हैं। एक में मजदूरों की बस्ती है और दूसरे में यूनियन के नेता कामरेड मिश्रा की कोठी। मजदूरों की आपसी बातचीत बहुत अर्थपूर्ण है। वर्गीय यथार्थ के आर्थिक सन्दर्भ बहुत महत्त्व के हैं। जीवन के आत्यन्तिक संकटों में मजदूर दम्पत्ति- सुन्दर और पार्वती की विवश-कातर नैतिक पराजय अपने उत्तरदायी कारकों की पहचान का प्रश्न पैदा करती हैं। यह इस एकांकी का विशिष्ट रचनात्मक मूल्य है। ट्रेड यूनियन की नेतृत्वकारी शक्तियों के छल-छद्म और भ्रष्टाचार का यथार्थ भुवनेश्वर के समय तक प्रकट होने लगा था, इसलिए इस केन्द्र के आस-पास का पतनशील राजनीतिक परिदृश्य एकांकी का यह महत्त्वपूर्ण आयाम है, जो अपेक्षाकृत नया और विश्वसनीय है। प्रेमचन्द को भी इसमें यही लगा था और उन्होंने कहा था कि आजकल जैसे साम्यवादी देखने में आते हैं, इसमें उनकी जीती जागती तस्वीर है। प्रेमचन्द की यह प्रतिक्रिया प्रथमतः प्रत्यक्ष यथार्थ पर केन्द्रित हैं। उस यथार्थ पर, जो साम्यवादी रणनीति के अनपेक्षित विचलन से सम्बद्ध है पर, इस यथार्थ-निरूपण के कुछ दूसरे अन्तर्वर्ती सन्दर्भ भी हैं, जो भुवनेश्वर की विचार-दृष्टि को प्रश्नांकित करते हैं।

एकांकी के आरम्भिक पृष्ठों में वर्गीय चेतना का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले इस लेखक के प्रति दूसरे दृश्य में सन्देह पैदा होता है। यह कामरेड मिश्रा और उद्योगपति मि.अग्रवाल के बीच के संवाद का दृश्य है। मि.अग्रवाल की संवाद-रचना और विचार-युक्तियों में भुवनेश्वर ने अपनी वाग्मिता का, अपनी तर्क-बुद्धि की सारी ऊर्जा उड़ेल दी है। 'दुनिया के मजदूरों एक हो' की युगान्तर उपस्थित करने वाली क्रान्तिकारी चेतना की इस महान अभिव्यक्ति की अपमानजनक नकल करता हुआ मि. अग्रवाल जब 'संसार के जुआरियों, शराबियों, सूदखोरों' के एक होने की बात करता है, तो कामरेड मिश्रा के पास केवल एक निरीह और निरर्थक से शब्द के अलावा कोई प्रतिवाद नहीं होता।

मि. अग्रवाल प्रत्युत्पन्न मति, वाक् चतुर, मुखर और आक्रामक बौद्धिक के रूप में अपनी एक विशिष्ट छबि बनाता दिखता है। इस एकांकी का यह दृश्य उसका जबर्दस्त प्रभा-मण्डल रचता है। उसके सामने कामरेड मिश्र हतप्रभ और निस्तेज है। साम्यवादी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के अन्तर्विरोध, छल-छद्म को उद्घाटित करने के क्रम में भुवनेश्वर मार्क्स और मार्क्सवाद को ही निशाना बनाने लगते हैं। व्यक्ति और विचारधारा के बीच के अन्तर का विवेक यहाँ स्थगित है। साम्यवाद के उपहास का एक मानसिक वातावरण और उसके साथ पाठक-दर्शक के अनुकूलन के प्रयत्नों के संकेत चाहे जितने धूमिल हों, पर उन्हें लक्ष्य किया जा सकता है। कामरेड मिश्रा के बंगले के भीतरी प्रवेश द्वार पर हंसिया-हथौड़ी का खूनी चिह्न अंकित है, कार्लमार्क्स के तैल-चित्र के नीचे लगी घण्टी से उनके आशीर्वाद का स्वर निकलता है और अन्त में इस चित्र का स्थान कृष्ण का एक रसीला चित्र ले लेता है। ये सारे सन्दर्भ एकांकीकार द्वारा दिये गये रंग-निर्देश में उपस्थित हैं। इसके प्रच्छन्न अर्थ-संकेत कामरेड मिश्रा ही नहीं, साम्यवाद के विरोध में भी जाते हुए देखे जा सकते हैं।

मिलों में हाड़-तोड़ श्रम करने वाले वर्ग की सामाजिक-आर्थिक नियति का साक्षात्कार कराता एकांकी 'आदमखोर' मिल मालिकों के मजदूर विरोधी षड्यंत्रों पर टिप्पणी करता है। रामू के माध्यम से मिल के भयावह राक्षसी, मानव-विरोधी रूपों का उल्लेख है। रामू की बातों में गहरे अर्थ संकेत हैं। वह बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों की आदमखोर प्रवृत्तियों पर चोट तो करता ही है, इस विडम्बना की ओर भी संकेत करता है कि रब्बानी, माताबदल और लंगड़ा महतो जैसे ज़रूरतमंद मज़दूरों को इस मिल के अलावा कहीं चैन नहीं। रब्बानी की गांव से मिल में वापसी मिल की उस क्षमता की ओर संकेत है, जो ग्राम-जीवन में सम्भव नहीं। रामू की मां अपने बेटे की मिल-विरोधी टिप्पणियों की प्रतिक्रिया में झुंझलाकर कहती है- 'गांधी ने अपनी मिलें खड़ी कर लीं, तेरे कुछ भूंजी भांग है?' यह प्रतिक्रिया उस पूरे युग के उस राजनीतिक अन्तर्विरोध को उजागर करती है, जिसमें बड़े उद्योगों और कल-कारखानों को लेकर मतभेद रहे हैं।

-99-

युगीन राजनीतिक सन्दर्भों की दृष्टि से भुवनेश्वर की 'आजादी की नींद, 'ऊसर' तथा 'रोशनी और आग' महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं। वैसे, डॉ. शुकदेव सिंह उनकी कहानी 'लड़ाई' को भी राजनीतिक मोहभंग की एक प्रभावशाली रचना मानते हैं। उनका कहना है- 'खद्दरपोश को जिस गहरे व्यंग्य और नफरत के साथ इस कहानी में व्याकृत किया गया है, वह आज के आदमी के लिए स्वाभाविक हो सकता है, लेकिन भुवनेश्वर का मोहभंग इतना पहले कैसे हो गया था, यह जानकर अचरज होता है। तत्कालीन सन्दर्भ में यह कहानी ७५ या ८० की कहानी है।' इस कहानी में खद्दरपोश की ओर कथा-वाचक बार-बार ध्यान आकृष्ट तो करता है, हर बार उसकी गति-क्रियाओं में 'महारत' भी देखता है, पाठक यहाँ सचेत भी होता है कि कथाकार की दृष्टि में 'खद्दरपोश' लगातार प्रश्नांकित हो रहा है। लेकिन, केवल इतने-भर से यह मोहभंग की कहानी नहीं बन जाती। समकालीन राजनीतिक मोहभंग एक बड़ी वैचारिक परिघटना है। उसके साथ इस सन्दर्भ का कोई सम्बन्ध बनता हुआ कहीं नज़र नहीं आता।

वस्तुतः यह राजनीतिक मोहभंग की जगह युद्ध-विरोध की कहानी है। कहानी का शीर्षक

'लड़ाई' (युद्ध) का एक पात्र सोल्जर से जुड़ता है। यह सोल्जर कहानी के आरम्भ से लेकर अन्त तक मौजूद है। इसमें लड़ाई अर्थात् युद्ध पर चार अर्थपूर्ण टिप्पणियाँ हैं। महिला का पति कहता है- 'लड़ाई हुई तो देवी बन जायेगा बड़ा साव, सबसे बड़ा करनैल मिहरबान है।' महिला कहती है- 'अब लो फौज का ठीका, मजा तो अब है।' सोल्जर का कहना है- 'इन्हीं हाथों में सन् १४ में चार राष्ट्रों ने एक राइफल थमा दी थी कि वह अपने ही जैसे दो हाथ-पैर वाले जानवरों का शिकार करे।' स्ट्रडेण्ट कहता है- 'लेकिन तुम किसलिए खड़े थे, तुम्हें क्या पल्ले पड़ा, चमकीले बटन, मुर्दों के तन से उतारी हुई वर्दियां, गर्मी, सूजाकवाली बदचलन नर्सें।' भुवनेश्वर यहाँ एक सामाजिक-आर्थिक विमर्श बनाते दिखते हैं, जो युद्ध के विरोध में जाता है।

'आजादी की नींद' स्वाधीनता के तत्काल बाद प्रकाशित एकांकी है। स्वाधीनता के वर्ग-सापेक्ष राजनैतिक आशयों पर टिप्पणी करती इस रचना के कई अर्थ-स्तर हैं। सामाजिक राजनैतिक सरोकारों से कटे हुए विशिष्ट भद्रजनों की आत्मकेन्द्रीयता को तो यह रेखांकित करती ही है, निम्नवर्गीय समाज के नये स्वप्नों, नयी आकांक्षाओं को भी प्रतिबिम्बित करती है। इस एकांकी में केवल दो चरित्र 'एब्सर्ड' नहीं हैं- नौकर और दाई। यह अभिप्राय गर्भित हैं इन्हें एक वर्ग के रूप में, भारतीय समाज के निम्नवर्गीय श्रमिक-समाज के नागरिक के रूप में देखें, तो इसकी अर्थ-व्यंजनाएं खुलती जाती हैं। मिस कटारा आजादी की रात नौकर के नशे में होने की बात करती है। यह अभिधा में होते हुए उसका अतिक्रमण है। यह वर्ग सचमुच आजादी के उल्लास के नशे में है वह अब अपनी रस्सियों को काटकर अपने उत्पीड़न के विरुद्ध यह कह सकने का साहस रखता है-'अब ई सब न होई, अब कुछ और होई।' यह शोषित पीड़ित जनता की आवाज़ है। इसमें आजादी के बाद के नये सपने का नशा है यह नींद नहीं है। नींद में तो वे लोग हैं, जो आजादी को विशेषज्ञता फिलासफी का विषय और सड़क की भीड़ में एक खबर मानते हैं। भुवनेश्वर एक ही आजादी के दो अलग-अलग वर्गीय राजनीतिक निहितार्थों की ओर संकेत करते हैं।

यह राजनीतिक चेतना 'ऊसर' में भी मौजूद है। मध्यवर्गीय परिवार के गृहस्वामी के विचारों में उसका समूचा वर्ग-चरित्र उद्घाटित है। गृह स्वामी और मोटी रमणी विक्टोरिया राज के सुख की चर्चा करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी के विरुद्ध परमाणु शक्ति बनने की आकांक्षा प्रकट करते हैं। यह फासिज़्म के विरोध के कारण नहीं, विक्टोरिया-प्रेम के कारण है। गृहस्वामी उपनिवेशवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि चरित्र की तरह बातें करता है। अंग्रेज नहीं आये होते, तो इस देश में आधुनिकता नहीं आती, बौद्धिक-सांस्कृतिक, भौतिक-आर्थिक विकास के रास्ते नहीं खुलते- जैसी औपनिवेशिक विचार-दृष्टि की ध्वनियाँ गृहस्वामी के इस वक्तव्य में साफ़-साफ़ सुनी जा सकती हैं- 'तुम अपने सोशलिज्म-ओशलिज्म के जोश में शायद यह समझ बैठे हो कि जिन्दगी का गहरे से गहरा मतलब तुम्हारे लिए साफ हो गया है।....साहब सोशलिस्ट हैं, पर आज जो कुछ भी हम कुत्तों के समाज से आए इंसानों को मिला है, हम वापस ले लें....हाँ, हमारे स्कूलों, यूनिवर्सिटियों की तालीम हमारी लाइब्रेरीज़, हमारे बाज़ार हमारे.....।' उपनिवेशवादी महिमा-गान यही है। गृहस्वामी ट्यूटर के बहाने अपने समय की युवा पीढ़ी के प्रति गहरी शिकायत दर्ज़ कराता है। उसका कहना है कि किताबों के अधकचरे असर से सब बगावत करना चाहते हैं। वह कहता है कि यह बगावत सफल नहीं हो सकती। प्रकृति के विरुद्ध नहीं हुआ जा सकता। व्यवस्था से टकराने का मतलब छत से गिरे हुए व्यक्ति के सिर का जमीन से टकरा कर फट जाना है।

यह गृहस्वामी बातूनी है, पढ़ा-लिखा जान पड़ता है। यह मध्यवर्ग का व्यवस्थापोषी बुद्धिजीवी

है, जो अपने समय की औपनिवेशिक राजसत्ता के पक्ष में मुस्तैदी से तर्क बांधते दिखता है। यह गृहस्वामी मोटी रमणी के इस विचार का विरोध करता है कि राजा तो ईश्वर है। वह यह नहीं मानता। यह सामन्तवाद के विरोध में सामने आयी आधुनिक पूँजीवादी औपनिवेशिक मूल्य-दृष्टि से प्रभावित है। पर, इसकी विडम्बना यह है कि एक ओर यह राजा की सत्ता की मध्यकालीन अवधारणा का विरोध करता है, तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी- उपनिवेशवादी शक्तियों के विरुद्ध किसी भी प्रकार के प्रतिरोध को, किसी 'सोशलिज़्म-ओशलिज़्म' को अधकचरी समझ का भ्रम मानता है।

भुवनेश्वर का पक्ष यहाँ स्पष्ट है। गृहस्वामी और उसके आस-पास के वर्ग-समूह को बहुत गहरे में प्रश्नांकित करती, उनको घेरती यह रचना उपनिवेशवादी व्यवस्था की ज्ञान-मीमांसा के खतरे की ओर तो संकेत करती ही है, भारतीय समाज के एक वर्गीय-यथार्थ को भी सामने लाती है।

-१२-

हिन्दू-मुस्लिम आकांक्षाओं और उपनिवेशवादी षड्यंत्रों पर केन्द्रित एक अत्यन्त प्रभावशाली एकांकी है- 'रोशनी और आग।' भुवनेश्वर की यह एक मात्र रचना है, जिसमें आजादी के संघर्ष को विषय बनाया गया है। युगीन स्वाधीनता-चेतना तो प्रत्यक्ष विषय नहीं है, पर गदर की पृष्ठभूमि के बहाने वे हिन्दू-मुस्लिम आकांक्षाओं पर रोशनी डालते हैं। शताब्दी-भर पहले के एक पुराने ऐतिहासिक सन्दर्भ से जुड़े होते हुए भी यह एकांकी अपने समय के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को अप्रत्यक्ष ढंग से सामने ला खड़ा करता है। १९४१ में लिखे गये इस एकांकी का रचनाकाल भारतीय राजनीति का वह दौर है, जहाँ आजादी को अपने अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिशें अपने परवान पर होती हैं। हिन्दू और मुस्लिम समुदाय की धर्म-सम्प्रदाय केन्द्रित राजनीति करने वाली नेतृत्वकारी शक्तियों के राजनीतिक घोषणा-पत्रों ने देश की एकता और संगठित संघर्ष चेतना के विभाजन की आशंकाएं पैदा कर दी थीं। भुवनेश्वर की यह रचना इसकी जड़ें तलाशती हुई पीछे गदर तक के इतिहास में जाती है और बताती है कि गदर भी हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा अपने-अपने इतिहास के गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए एक संघर्ष था तथा उस संघर्ष की चेतना वर्तमान की स्वाधीनता से न जुड़ी होकर अतीत के पुनरुत्थान की थी।

यह एकांकी कुछ गम्भीर प्रश्न खड़े करता है। १९४१ के काल-खण्ड में एकांकी के इस सन्दर्भ का प्रयोजन क्या हो सकता है?एक ऐसे समय में जब धर्म-सम्प्रदाय की राजनीति करने वाली शक्तियों ने पहले से ही सन्देह और भय का वातावरण बना रखा हो, तो उस समय भुवनेश्वर गदर की उक्त व्याख्या से क्या सिद्ध करना चाह रहे थे? कम-से-कम यह एकांकी हिन्दू-मुस्लिम विवाद अथवा दो राष्ट्रीयताओं के संघर्ष की परिघटना में किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका में तो खड़ा नहीं ही दिखता। इसके अन्तिम प्रभाव का पाठ जनता की संगठित चेतना को खतरनाक ढंग से खण्डित करने वाला है।

इस रचना का सबसे सार्थक अंश वह है, जहाँ मशीन, अक्ल, जंग और क्लाइव की आवाजें आती हैं। भुवनेश्वर यहाँ एक फैण्टेसी रचते हैं। यह एक सार्थक युक्ति है। उपनिवेशवाद की षड्यंत्रकारी भूमिका को यह अंश बेपर्द करता है। जनता की संघर्ष-शक्ति के विभाजन की कुटिल योजनाओं को उद्‌घाटित करना अपने समय के एक बड़े प्रश्न में एक गम्भीर रचनात्मक हस्तक्षेप है। यह एक बड़ी भूमिका में साहित्य को खड़ा करने का उद्यम है। परन्तु, ये आवाज़ें इस रचना के एक

दूसरे प्रभावशाली संदर्भ के शोर में डूब गयी हैं। ये सार्थक आवाजें बहुत सुनी नहीं जा सकी हैं। यहाँ इतिहास के एक सन्दर्भ ने इतने सशक्त ढंग से सारे घटना परिदृश्य को आच्छादित कर रखा है कि उपनिवेशवाद-विरोध कहीं भीतर ढंक-छुप गया है। सारा प्रभाव इस बात पर आकर केन्द्रित हो जाता है कि गदर के पीछे हिन्दुओं, मुसलमानों का अपने-अपने अतीत का गौरव-बोध था, जिसे वे किसी भी तरह पुनः उपलब्ध कर लेना चाहते थे।

भुवनेश्वर गदर का इतिहास लिख रहे होते, तो यह प्रश्न नहीं होता। वे यहाँ साहित्य रच रहे हैं। साहित्य-लेखक इतिहासकार नहीं होता। वह इतिहास का सर्जनात्मक रूपान्तरण करता है वह अपने समय और इतिहास, वर्तमान और अतीत के बीच अन्तःसम्बन्धों का तार्किक समीकरण निर्मित करता है। इस प्रक्रिया में चयन का विवेक और निषेध का तर्क मौजूद होता है। वह चुनता ही नहीं, छोड़ता भी है। अनेक बार यह छोड़ना, चुनने से ज्यादा उपयोगी और प्रासंगिक होता है। भुवनेश्वर के सामने भी गदर के इतिहास की एक व्याख्या थी, हालांकि यह पूरी नहीं थी। पर, प्रश्न यह है कि एक इतिहासकार के रूप में नहीं, एक साहित्यकार के रूप में भुवनेश्वर का बर्त्ताव गदर के साथ कैसा होना चाहिए था। यह एक ऐसा इतिहास है, जिसकी रोशनी में उपनिवेश-विरोधी चेतना की गौरवशाली परम्परा को भी रेखांकित किया जा सकता था और हिन्दू-मुस्लिम संगठित शक्ति की ज़रूरत पर बल देते हुए अपने समय के उपनिवेश विरोधी संधर्ष में आग पैदा की जा सकती थी। पर, इसकी जगह भुवनेश्वर अपने समय का यह कैसा राजनीतिक पाठ तैयार कर रहे थे?

-१३-

भुवनेश्वर का समय स्वाधीनता-संघर्ष का समय है। इनके रचना-काल १९३३ से १९५७ के बीच का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों का समय है। आश्चर्यजनक है कि भुवनेश्वर की दो-एक रचनाओं के अपवाद को छोड़कर उनके लगभग सम्पूर्ण साहित्य में इस काल खण्ड की मूल चेतना- उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना की कोई प्रभावशाली अनुगूंज सुनाई नहीं पड़ती। साहित्य में भी यह प्रेमचन्द-प्रसाद-निराला-मुक्तिबोध का समय है। इनमें अलग-अलग रूपों में उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद के प्रश्न मौजूद हैं। एक लेखक की चेतना सामाजिक-राजनीतिक परिवेश और कला-साहित्य के वातावरण, दोनों स्रोतों से अपना संस्कार करती हैं। पर, भुवनेश्वर के रचनामानस की इन स्रोतों के साथ, इस वैचारिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में, अन्तःक्रिया के अभिलक्षण कहीं नहीं दिखते। 'ऊसर' तथा 'रोशनी और आग' के दो छोटे-छोटे अंशों के अपवाद को छोड़कर।

एक विचार-सम्पन्न लेखक अपने समय के इतिहास के बड़े प्रश्नों से बाहर नहीं हो सकता। अतिक्रमण के लिए भी गहरा युग-बोध अपरिहार्य है। यही इतिहास बोध है। यह इतिहास का ज्ञान-शास्त्र नहीं, इतिहास की सृजन-चेतना है। अतीत से भविष्य तक की यात्रा का उपयोगी सूत्र। भुवनेश्वर में अपने समय के इस इतिहास का यह विचार-सूत्र लगभग अनुपस्थित है। अमूर्त्त संवेदन को भी पकड़ लेने का कौशल जिस रचनाकार का वैशिष्ट्य रहा हो, उसके द्वारा अपने ऐतिहासिक समकाल की केन्द्रीय परिघटना को लगभग अलक्षित छोड़ दिया जाना एक गंभीर प्रश्न है जिस पर विचार किया जाना चाहिए।

'भेड़िये' और 'तांबे के कीड़े' भुवनेश्वर की सर्वाधिक चर्चित कृतियां हैं। 'भेड़िये' को हिन्दी की पहली 'नयी कहानी' और 'तांबे के कीड़े' को विश्व का पहला असंगत (एब्सर्ड) नाटक बताते हुए भुवनेश्वर की असाधारण सर्जनात्मक प्रतिभा की चर्चा की जाती रही है।

'भेड़िये' को 'नयी कहानी' की पहली कृति कहा गया है। यह कोई साधारण महत्त्व की बात नहीं है। मौलिकता-अमौलिकता के विवाद से बाहर निकलकर देखें, तो यह निस्सन्देह एक अत्यन्त प्रभावशाली और स्तब्ध कर देने वाली असाधारण कहानी है। यह अस्वाभाविक नहीं है कि राजेन्द्र यादव को 'भेड़िये' पर सोचते हुए 'कफन' की याद आती है उनका कहना है- 'कफन के घीसू और माधव अगर पाशवीकरण (ब्रूटलाइजेशन) की परिणतियाँ हैं, तो 'भेड़िये' अलग अस्तित्ववादी स्थिति में उसकी अगली प्रक्रिया है, जहाँ खुद आदमी परिस्थिति और व्यवस्था के द्वन्द्व में भेड़िया बन रहा है एक अंधी दौड़ में अपनों को ही खाता-चबाता हुआ।' पर, इसकी अर्थ व्यंजना यहीं तक सीमित नहीं है। यह अनेक स्तरीय जटिल अर्थ संरचना की कहानी है। गहरी और प्रतीकात्मक। पाठ की अनेक दिशाएं खोलती हुई। इफ़्तिखार के खारू बन जाने के अमानवीकरण की, भावुकता के निर्मम तटस्थता में बदल जाने की, स्त्री के पण्य और फिर जड़वस्तु में रूपान्तरण की, मृत्यु के आतंक और उससे संघर्ष करती दुर्धर्ष और अपराजेय जिजीविषा की, आधुनिक वर्ग-विभाजित समाज में सामान्य जन की खाई-चबाती जाती ज़िन्दगी की और अन्त में एक नयी स्फूर्ति के साथ भूखी-नंगी जनता के उठ खड़े होने की संघर्ष-चेतना की कहानी के रूप में यह अनेक-पाठ सम्भावनाओं वाली कृति है।

इसके अतिरिक्त अभी कई पाठ-संदर्भ हैं। बाप द्वारा बेटे को बचा लेने का भाव, दूसरी नटिन बांदी को बचा लेने की खारु की संवेदना, बैलों को क्रमशः छोड़े जाने और उनके मारे जाने पर बाप की आँखों में आंसू भर जाने का भाव- इन सब की व्याख्या अपेक्षित है। क्या इसे मौत की थरथराहट में अपनी जान बचाते- बेतहाशा भागते आदमी द्वारा राग-तत्त्व को बचा ले जाने की कोशिश के रूप में नहीं देखा जा सकता। भेड़ियों के फिर वापस आ जाने पर खारू के बाप का गहरी सांस लेते हुए कहना- 'हम क्या करें, भीख मांग के खाना बंजारों का दीन है, हम रईस बनने चले थे' क्या पूरी कहानी की संरचना में सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के किसी विशेष सन्दर्भ की ओर संकेत करता है? ऐसे कई प्रश्न-परिप्रेक्ष्य हैं, जिनका इस कहानी के पाठ के सन्दर्भ में बहुत महत्त्व है।

भुवनेश्वर का नाटक 'तांबे के कीड़े' १९४६ के हंस में प्रकाशित हुआ था। कई आलोचकों की मान्यता है कि उस समय तक पश्चिम में भी 'एब्सर्ड' नाटकों के प्रकाशन का कोई प्रमाण नहीं है। इस तर्क से इसे विश्व का प्रथम असंगत (एब्सर्ड) नाटक कहा गया। एक नये नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इसकी बहुत चर्चा हुई है और इसने भुवनेश्वर को बहुत यश दिलाया है। यह संवेदना और संरचना में अपने आधुनिक प्रयोगों के कारण नाट्येतिहास के एक नये प्रस्थान-बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित है। आधुनिक जीवन में तनाव, विक्षोभ, अवसाद, अनास्था, मृत्यु के वातावरण ने जो 'एब्सर्डिटी' पैदा की थी, 'तांबे के कीड़े' उसी की अभिव्यक्ति हैं। इस जीवन-यथार्थ को, आधुनिकता की इस मनुष्य विरोधी परिणतियों को भुवनेश्वर ने न केवल अनुभव किया, बल्कि उसकी अन्तर्वस्तु के लिए एक प्रभावशाली कलात्मक रूप भी आविष्कृत किया। आधुनिक प्रवृत्तियों- ऊब, व्यर्थताबोध, निस्संगता,

उदासी, पीड़ा आदि के लिए रचना का पुराना रूप-विन्यास अपर्याप्त था। भुवनेश्वर ने इस नयी अन्तर्वस्तु को नये रूप में प्रस्तुत कर नाटकों की दुनिया में एक नया प्रयोगधर्मी वातावरण बनाया।

'तांबे के कीड़े' की असंगति अन्तर्वस्तु और रूप की मिश्रित संरचना है। वह संवेदना भी है और प्रविधि भी। वह एक असंगत जीवन-कथ्य को असंगत पद्धति से रचता, प्रस्तुत करता एक असंगत नाटक है। उस दृष्टि से इसकी व्याख्या सम्भव नहीं, जो एक संगत अन्तःसम्बन्धों वाले कथ्य और उसकी तार्किक अन्विति में रचना को उपलब्ध करने की अभ्यस्त है। इसमें किसी एक केन्द्रीय समस्या का पुराना कथा-क्रम नहीं खोजा जा सकता। इसकी कोई केन्द्रीय संवेदना है, तो वह जीवन की असंगति ही है। जहाँ जीवन में सब कुछ असम्बद्ध-विशृंखल हो, वहाँ इसकी अभिव्यक्ति में संगति कैसे दिख सकती है? जीवन की असंगतियों को व्यक्त करती जटिल प्रतीक-विधान वाली रचना है यह। पर, यह प्रतीकात्मक नाटक के भिन्न-भिन्न हिस्सों में विन्यस्त है, वह हर जगह मौजूद नहीं है। पूरे नाटक में यदि कुछ उपस्थित है, तो वह 'एब्सर्डिटी' ही हैं। यदि वह नहीं होगी, तो नाटक में इस जीवन-प्रवृत्ति का एक अविकल वातावरण भी नहीं बन पायेगा। अर्थपूर्ण प्रतीकात्मक स्थलों के अतिरिक्त इस तत्त्व की जो भूमिका है, उससे कथ्य का एक समग्र वातावरण निर्मित होता है। असम्बद्धता, असंगति, अर्थहीनता, तर्कहीनता, ऊब, थकान यदि इसकी भाषा और रूप में है, तो इस कारण कि वह जीवन में भी है। 'तांबे के कीड़े' वस्तुतः इसी यथार्थ की प्रस्तुति है।

-१५-

हिन्दी की जिन थोड़ी-सी कहानियों के बारे में सबसे ज्यादा लिखे जाने, या बहस चलाये जाने का कोई इतिहास बने, तो 'भेड़िये' उनमें से एक होगी। पर, इस विडम्बना के साथ कि इस इतिहास का एक बड़ा हिस्सा इस प्रश्न पर केन्द्रित मिलेगा कि क्या यह भुवनेश्वर की अपनी मौलिक कहानी है? मौलिकता और विदेशी प्रभाव के जो प्रश्न और सन्देह कभी भुवनेश्वर के जीवन-काल में ही उठने लगे थे, उनकी मृत्यु के चार-पांच दशकों बाद भी वे किसी-न-किसी रूप में सामने आते रहे हैं। फर्क सिर्फ यह है कि पहले ये एकांकियों के सन्दर्भ में किये गये थे और बाद में 'भेड़िये' के बारे में। इन प्रश्नों-सन्देहों से एक बात स्पष्ट होती है कि भुवनेश्वर के लेखन में कुछ ऐसा ज़रूर है, जिससे अपने समय, साहित्य और अपनी भाषा के प्रचलित परिवेश और वातावरण से उनके पृथक अथवा विशिष्ट होने के प्रभाव ग्रहण किये जाते रहे हैं। भुवनेश्वर के पक्ष में इस विवाद की सबसे सकारात्मक व्याख्या शायद यही हो सकती है कि वे अपने समय-भूगोल को अतिक्रमित कर जाने वाली प्रतिभा के लेखक थे। ऐसी प्रतिभा, जो अपने प्रति सहज विश्वास से ज़्यादा विस्मय और सन्देह पैदा करती है।

अन्तर्संवाद



गांधी, कस्तूरबा और टैगोर शांतिनिकेतन में

गुरुदेव और महात्मा

(बुद्धिवादी आध्यात्मिक और अध्यात्मवादी राजनीतिक के बीच मित्र संवाद)

विनोद तिवारी

प्रिय महात्मा जी,

हमें समझना चाहिए कि सफल होना नैतिक विजय नहीं है और असफलता इसे इसकी गरिमा से वंचित नहीं कर सकती। जो लोग आध्यात्मिक जीवन में निष्ठा रखते हैं वे जानते हैं कि अनैतिक भौतिक शक्तियों के विरुद्ध लड़ाई अपने आप में विजय है; विरोध के बावजूद यह एक आदर्श के प्रति निष्ठा की विजय है। मैंने सदा यह महसूस किया है और तद्नुसार कहा है कि स्वाधीनता की महान भेंट जनता को दान में कभी नहीं मिल सकती। हमको इसे उपलब्ध कराने के लिए जीतना होगा और भारत को इसे जीतने का अवसर तब आएगा जब यह सिद्ध कर देगा कि चारित्रिक रूप से वह उन लोगों से श्रेष्ठतर है जो विजेता होने के अधिकार से उस पर शासन करते हैं। अपनी इस कष्टपूर्ण तपस्या को स्वेच्छा से स्वीकार करना होगा, यह तपस्या महानता का भूषण है। अपनी अच्छाई की परमनिष्ठा के बल पर उन घमंडी शक्तियों का अदम्य साहस के साथ मुकाबला करना है जो आत्मिक शक्ति का तिरस्कार करते हैं। आप अपनी मातृभूमि के पास ऐसे समय पधारे हैं जब उसे उसके लक्ष्य की याद दिलाने की, उसे विजय के असली रास्ते पर ले जाने की और आजकल की राजनीतिक कमजोरी से मुक्ति दिलाने की आवश्यकता है जो यह मान बैठी है कि उसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है जबकि वह उधार की कूटनीतिक बेईमानी में अकड़कर चल रही है।.....

(५ अप्रैल, १९१९ को गांधी जी के पत्र के जवाब में जलियांवाला बाग नरसंहार की पूर्व संध्या पर १२ अप्रैल १९१९ का टैगोर का पत्र)

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ब्रिटेन की सरकार ने युद्धकालीन परिस्थितियों की समीक्षा के लिए ब्रिटिश उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर सिडनी रॉलट की अध्यक्षता में एक सेडिशन समिति गठित की। इस समिति को यह निर्देश था कि युद्धकालीन क्रांतिकारी गतिविधियों एवं आतंकवाद के संबंध में लागू 'भारत रक्षा कानून' के संबंध में अपना स्पष्ट मत दे। समिति ने अपना मत देते हुए यह कहा कि 'भारत रक्षा कानून के कारण ही युद्धकालीन क्रांतिकारी गतिविधियों पर काबू पाया जा सका था, पर उनके पुनः भड़कने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता, अतः दंडात्मक और निरोधात्मक उपाय जारी रखना चाहिए।' इस रिपोर्ट के आधार पर फरवरी १९१९ को दो बिल सेन्ट्रल एसेम्बली में पेश किए गए। इस बिल के तहत नागरिक अधिकारों पर लगे युद्ध कालीन प्रतिबंधों को स्थायी रूप दिया गया। तमाम संवैधानिक विरोधों के बावजूद यह बिल पास हुआ।

इसी रौलट कानून के विरोध में गाँधी जी ने सत्याग्रह की घोषणा की और विरोध के लिए ६ अप्रैल १९१९ की तारीख निश्चित किया। अपने इस संघर्ष के लिए वे गुरुदेव से सहमति और संदेश के लिए ५ अप्रैल १९१९ को बंबई से पत्र लिखते हैं:

> प्रिय गुरुदेव, ... मैं आपसे संदेश भेजने के लिए कहने का साहस कर रहा हूँ। यह संदेश उन लोगों के लिए जो अग्नि में कूदने जा रहे हैं आशा और प्रेरणादायक होगा। मैं ऐसा इसलिए कर रहा हूँ कि आपने मुझे अपना आशीर्वाद पहले भी भेजा था जब मैंने संघर्ष का श्रीगणेश किया था। जो शक्तियाँ मेरे विरुद्ध व्यूह रचना कर रही हैं जैसा कि आप जानते हैं कि वे बड़ी विकराल हैं। मैं उनसे भयभीत नहीं हूँ क्योंकि मेरा अदम्य विश्वास है कि वे असत्य को समर्थन दे रही हैं। और यदि सत्य में हमारी पर्याप्त निष्ठा है तो यही निष्ठा हमें उन पर विजय प्राप्त करने में सहायक होगी। लेकिन सभी शक्तियाँ मानव के माध्यम से कार्य करती हैं। इसीलिए मैं इस महान संघर्ष को जो लोग अनुमोदन करते हैं उनका उदात्त सहयोग एकत्र करने के लिए उत्सुक हूँ। देश के राजनैतिक जीवन को पवित्र करने वाले इस प्रयास के बारे में जब तक आपकी विचारपूर्ण सम्मति मुझे नहीं मिलेगी, तब तक मुझे संतोष नहीं होगा। यदि आपने ऐसा कुछ देखा है जिससे आप इसके बारे में अपनी पहली सम्मति को बदलना चाहते हैं तो मुझे आशा है कि आप उसे बताने में हिचकिचाएंगे नहीं । मैं मित्रों की प्रतिकूल सम्मतियों का भी आदर करता हूँ क्योंकि यद्यपि वे मुझे मेरे रास्ते से विचलित नहीं कर पाएँगी फिर भी वे उन बहुत सारे प्रकाश स्तंभों की भांति हैं जो जीवन के तूफानी मार्गों में आने वाले खतरों से सावधान करती हैं।

उपर्युक्त दोनों पत्रों के कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत करने का उद्देश्य स्पष्ट है। हम सब भी जानते हैं कि महात्मा गांधी और कवि-गुरु में वाद-विवाद पूर्ण संबंध जीवन भर चलता रहा। दोनों के बीच महत्वपूर्ण राष्ट्रीय राष्ट्रीय प्रश्नों और समस्याओं तथा उनको हल करने की क्रियाविधि में असहमतियाँ थीं परंतु अपने समय की इन दो महान आत्माओं की मैत्रीपूर्ण घनिष्ठता और मानव-कल्याण की आकांक्षा में उत्तम सामंजस्य एक दुर्लभ चीज है। प्रारंभ में ही जिस पत्र का कुछ

अंश उद्धृत किया गया है उस की प्रारंभ की पंक्तियों में ही सत्याग्रह की क्रियाविधि से गुरुदेव सहमत नहीं हैं, वे मानते हैं कि 'सत्याग्रह अपने आप में निश्चित रूप से नैतिक बल नहीं है इस का प्रयोग सत्य के विरोध में किया जा सकता है और सत्य के पक्ष में भी।' वे सत्याग्रह के लिए अनशन के माध्यम को सही नहीं मानते थे उनको इस बात की आशंका थी कि छुटभैये किस्म के नेता इसको छोटी-छोटी निरर्थक बातों को मनवाने का एक सुलभ हथियार बना लेंगे। ११ मई, १९३३ को लिखे अपने पत्र में गुरुदेव लिखते हैं- 'छुटभैय्या लोग, महान अथवा छोटे-मोटे कामों के लिए अनशन का सहारा लेना शुरु कर देंगे। इससे आत्म संताप के गहन गर्त में गिरने का आसान और निरर्थक रास्ता खुल जाएगा।' बावजूद इस अस्वीकृति और असहमति के गुरुदेव महात्मा गांधी के आत्म बल और ईमानदारी की प्रशंसा करते हैं, गांधी स्वयं अपनी आश्वस्ति के लिए अपने प्रत्येक कार्यक्रमों के लिए कवि का आशीर्वाद चाहते हैं। गांधी ने ऊपर अपने पत्र में जिन 'विकराल शक्तियों' का जिक्र किया है उनसे हम सब परिचित है। हम सब जानते हैं कि रौलट सत्याग्रह शुरु करने की तैयारी के समय गाँधी को किन-किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा। 'होमरूल' को आजमा चुकीं एनी बेसेन्ट ने तो यहाँ तक कहा कि 'गाँधी अभी राजनीतिक बच्चा है।'[१], परंतु इतिहास की माँग तो कुछ और ही थी। १८५७ के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर रौलट सत्याग्रह सबसे बड़ा जन-आंदोलन सिद्ध हुआ।

दरअसल, महात्मा और कवि के बीच राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मुद्दों पर कई सारी असहमतियों के बावजूद मानसिक साहचर्य का कोई ऐसा अटूट विश्वास था जो दोनों को परस्पर जोड़े रहा और जीवन पर्यन्त मर्यादित सम्मान के साथ बना रहा। सव्यसाची भट्टाचार्य ने सही लिखा है कि 'संकट की घड़ी में एक तरह के मानसिक साहचर्य की खोज में गाँधी और टैगोर एक दूसरे के साथ हो जाते थे।' हम सबको विदित है कि गांधी और टैगोर के बीच सबसे तीखा विवाद 'चरखा' कार्यक्रम को लेकर हुआ था। टैगोर गाँधी के इस 'रचनात्मक कार्यक्रम' और उसकी आर्थिक क्षमता एवं परिवर्तन को लेकर सशंकित थे। उन्होंने ब्रहमसमाजी पत्रिका 'प्रवासी' में १९२१ में बांग्ला में एक लेख लिखा जो 'मार्डन रिव्यू' में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ। 'सत्य का आह्वान' शीर्षक इस लेख में टैगोर ने गाँधी की 'अर्थशास्त्र' में नैतिकता संबंधी विचार की कटु आलोचना की। उन्होंने बहुत ही साफ शब्दों में लिखा- ''किसी विशेष वस्त्र निर्माता का कपड़ा पहनना या न पहनना, यह प्रश्न अर्थशास्त्र का है अतः अर्थशास्त्र की भाषा में ही इस प्रश्न पर हमारे बारे में चर्चा होनी चाहिए थी। यदि वास्तव में देश में बुद्धि से काम लेने की आदत छूट गई है, तो सबसे पहले इस घातक आदत के विरुद्ध हमें लड़ाई लड़नी चाहिए और स्थायी तौर पर अन्य काम छोड़ देने चाहिए। यही आदत हमारा मौलिक अपराध है और इसी से सारी बुराइयाँ पैदा हो रही है। लेकिन इसके विपरीत हम उस जादुई फार्मूले को प्रश्रय दे रहे हैं कि विदेशी कपड़ा 'अपवित्र' है। अर्थशास्त्र को धता बताकर उसकी जगह झूठे नैतिक उपदेश को घसीटा जा रहा है।'' इस लेख के जवाब में गाँधी ने 'यंग इंडिया' में (१३ अक्टूबर, १९२१ के अंक में) 'महान प्रहरी' नामक लेख लिखा। वे जवाब देते हुए लिखते हैं- ''चरखे को उसके गौरवपूर्ण स्थान से विदेशी वस्त्रों के प्रति हमारे आकर्षण ने ही दूर किया। इसलिए मैं विदेशी वस्त्र पहनना पाप मानता हूँ। मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में बहुत ज्यादा या तनिक भी फर्क नहीं करता। जो अर्थव्यवस्था व्यक्ति या राष्ट्र की नैतिकता को चोट पहुँचाती है, वह अनैतिक है और इसलिए पापपूर्ण है। इसलिए जो अर्थव्यवस्था एक देश को दूसरे देश को लूटने की छूट देती है वह अनैतिक है।'' अर्थशास्त्र की यह बहस बहुत दिनों तक चली। कई नेता, चिन्तक, लेखक, संपादक इसके पक्ष-विपक्ष में खड़े हुए। असहयोग आन्दोलन के दौरान मार्च १९२२ में महात्मा गांधी की

गिरफ्तारी और १९२४ में उनकी जेल की रिहाई के बीच में गुरुदेव और महात्मा के बीच यह बहस बंद रही। जेल से रिहा होते ही टैगोर ने गाँधी को तार से संदेश भेजा- 'सेवा में, महात्मा गाँधी, ससून अस्पताल पूना। हमें खुशी है।- रवीन्द्रनाथ। जेल से छूटने के बाद गांधी ससून अस्पताल, पूना में स्वास्थ्य लाभ कर रहे होते हैं उनकी सेवा और देखभाल के लिए गुरुदेव सी.एफ.एण्ड्रूज को भेजने संबंधी पत्र लिखते हैं जिसमें वे इस बात का अत्यंत ही मार्मिक उल्लेख करते हैं कि 'कुछ लोग बेधड़क, आजादी से आपके स्वास्थ्य और मानसिक शांति का सत्यानाश कर रहे हैं यह देखकर मैं शांत और निश्चेष्ट नहीं रह सकता। इस संकट के समय, मैं इतनी सेवा तो आपकी कर ही सकता हूँ कि चार्ली को आपके पास रहने और सहायता करने भेजूँ क्योंकि वे ही जानते हैं कि प्रेमपूर्वक काम कैसे किया जाता है।'' राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर मतभेद होने और कटु लेखन के बावजूद पारस्परिक सद्भाव और मैत्री का यह तरल मानवीय जज़्बा ही इन दोनों विभूतियों को महान बनाता है। १९२५ में, स्वास्थ्य लाभ करने के पश्चात् गांधी शांतिनिकेतन पधारे। चरखा संबंधी आर्थिक बहस को गुरुदेव ने पुनः शुरू किया और बांग्ला पत्रिका 'सबुज पत्र' में 'चरखा' शीर्षक से लेख लिखा जिसका अनुवाद तुरंत सितंबर १९२५ में 'माडर्न रिव्यू' में 'दि कल्ट ऑफ चरखा' शीर्षक से छपा। इसके जवाब में गांधी ने 'यंग इंडिया' में दो लेख लिखे- 'कविवर और चरखा' (नवंबर, १९२५) तथा 'कविवर और चक्र' (मार्च, १९२६)। उत्तर-प्रत्युत्तर वाले इन लेखों की तल्खी और व्यंग्यपूर्ण भाषा देखने लायक है। कविगुरु टैगोर स्वराज्य को चरखे से जोड़कर देखने के बिल्कुल खिलाफ हैं वे मानते हैं कि चरखे से स्वराज्य की प्राप्ति एक बचकाना प्रयास है, लिखते हैं- ''बंगाल में एक नर्सरी गीत है जिसमें बच्चे को बहलाया जाता है कि यदि वह अपने हाथ घुमाएगा तो उसे लॉलीपॉप मिलेगा। लेकिन क्या यह संभाव्य नीति है सयाने लोगों को आश्वस्त करने की, उन्हें यह कहना कि वे स्वराज्य प्राप्त करेंगे, अर्थात् सम्पूर्ण निर्धनता से छुटकारा पाएंगे, बावजूद अपनी सामाजिक रूढ़ियों के जो चिरस्थायी अड़चनें हैं और मानसिक आदतों के जो बुद्धि और इच्छा शक्ति को निष्क्रिय बनाती हैं यह संभव होगा केवल उनके हाथों को घुमाने से। नहीं। बाहर दिखाई देने वाली इस निर्धनता से यदि हमें छुटकारा पाना है तो हमें बुद्धिमता के आंतरिक बल को जाग्रत करना होगा जो भाई चारे और आपसी विश्वास के आधार पर सहयोग की भावना पैदा करेगा।'' महात्मा गांधी अपने लेख 'कवि और चरखा' में जिस ढंग से टैगोर को गुरुदेव या कविगुरु के संबोधन से अलग 'सर रवीन्द्रनाथ' कहकर संबोधित करते हैं वह अत्यंत ही व्यंग्यपूर्ण है। वे लिखते हैं- ''कवि में जो कुछ है, उसका अंश भी मुझमें नहीं है। उनकी महत्ता को प्राप्त करने की आकांक्षा मेरे मन में कभी नहीं आ सकती। वे अपनी महत्ता के निर्विवाद अधिकारी हैं। आज संसार में कोई दूसरा कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकता। वे अपने क्षेत्र में जिस निर्विवाद स्थिति के अधिकारी हैं उससे मेरे 'महात्मापन' का कोई संबंध नहीं है। यह बात समझ लेनी चाहिए कि हमारे कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं और वे कहीं भी एक दूसरे से नहीं टकराते। कवि अपनी ही कल्पना के भव्य लोक में अपने विचारों की दुनिया में रहते हैं, जबकि मैं किसी दूसरे की बनाई चीज- चरखे का गुलाम हूँ। कवि अपनी बंसी की तान पर अपनी गोपियों को नचाता है और मैं अपनी प्यारी सीता- चरखे के पीछे भटकता फिरता हूँ और उसे दैत्य दशानन से- जापान, मैनचेस्टर, पेरिस इत्यादि से- मुक्ति दिलाने का प्रयास करता हूँ। कवि नया आविष्कार करता है। वह सृष्टि करता है, उसे मिटाता है और फिर सृष्टि करता है। मैं तो केवल शोधक हूँ और इसलिए एक वस्तु का शोध कर लेने पर मुझे तो उसी को पकड़कर बैठे रहना है। कवि दिन प्रतिदिन दुनिया के सामने नई और मोहक चीजें रखता है। मैं तो सिर्फ पुरानी, बल्कि जीर्ण-शीर्ण

वस्तुओं में छिपी संभावनाओं को ही दिखा सकता हूँ। नई-नई और चमत्कृत कर देने वाली चीजें पेश कर देने वाले जादूगर को संसार में बड़ी आसानी से गौरव का स्थान प्राप्त हो जाता है। किन्तु मुझे तो अपनी जीर्ण-शीर्ण चीजों के लिए इस विस्तृत संसार में एक छोटा सा कोना हासिल करने के लिए भी घोर परिश्रम करना है। इसलिए हम दोनों में कोई स्पर्द्धा ही नहीं है। लेकिन मैं संपूर्ण नम्रता के साथ इतना कह दूँ कि हमारे कार्य और व्यापार एक दूसरे के पूरक हैं।'' असहमति के सर्वोच्च बिन्दु तक जाकर भी दोनों ने एक दूसरे के प्रति एक अतिशय विनम्रता का, व्यक्तिशः जो स्वीकृति का भाव था वह अद्‌भुत था। इसी भाव ने भाषा की व्यंग्यात्मकता, कटुता और तल्खी के बावजूद दोनों को एक दूसरे से जोड़े रखा। अन्यथा इस तरह की सीख कि- ''यदि कवि भी रोजाना आधा घंटा कातें तो उनकी कविता और भी निखरेगी। कारण, तब उनकी कविता में गरीबों का दुःख-दर्दों का आज की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त चित्रण होगा''- आज के किसी भी कवि मित्र से जीवन भर संबंध खत्म कर देने के लिए काफी है। यह दिलचस्प है कि गांधी के आग्रह पर टैगोर ने 'चरखा कार्यक्रम' पर हस्ताक्षर किया था और खादी आश्रम आकर भाषण भी दिया था किन्तु चरखा को आत्मशुद्धि, पवित्रता और स्वराज्य प्राप्ति का हथियार बनाने वाले गांधी के तर्क से वे कभी सहमत नहीं हो पाए। इस मत-भिन्नता के पीछे का एक महत्वपूर्ण कारण दोनों के संस्कार और निर्माण की वह प्रक्रिया है जिसके बारे में, गांधी के आश्रम और टैगोर के शांति निकेतन में काफी समय बिताने वाली अंग्रेज लेखिका मार्जोरी साइकस[२] ने लिखा है- ''गांधी और टैगोर के स्वभाव में जो भिन्नता थी वह उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि और परंपरा द्वारा संचालित थी। टैगोर के परिवार में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, व्यक्तिगत निर्णय लेने की और उद्यमशीलता की परंपरा थी। बचपन से ही टैगोर का नियमों के प्रति विरोध था, स्कूल के प्रति विरोध था और समाज के द्वारा माने जाने वाले रीति-रिवाजों और रूढ़ियों के प्रति विरोध था।[३] गांधी का परिवार पारंपरिक, गंभीर सामाजिक उत्तरदायित्व को मानने वाला और एक राज्य-प्रशासन को स्वीकार कर चलने वाला था। टैगोर का अव्यक्त सरोकार था व्यक्तिगत काम की ईमानदारी की सुरक्षा। गांधी का ध्यान इस बात की व्यवस्था की ओर था कि किस प्रकार ईमानदारी के साथ राज्य स्तर पर विशेष कार्यक्रम चलाया जाय ताकि उसका देश व्यापी प्रभाव हो।'' साइकस की बात एक हद तक ठीक हो सकती है परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजा राममोहन राय द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों और समाज-सुधार कार्यक्रमों से टैगोर के परिवार का गहरा रिश्ता था। टैगोर स्वयं 'ब्रह्म समाज' के सदस्य थे और उसकी प्रगतिकामी और सुधारवादी नीतियों से सहमत थे। गांधीजी के कार्यक्रमों में धर्म की पवित्रता, नैतिकता, भारतीय जनमानस में व्याप्त अंधविश्वास का व्यावहारिक कुशलता के साथ तात्कालिक राजनीति के लिए उपयोग को टैगोर स्वीकार नहीं कर सकते थे। वे किसी भी तरह की राजनीतिक अथवा प्राकृतिक घटना को ईश्वरीय विधान से जोड़कर देखने के पक्षकार नहीं थे। सन् १९३४ ई. में बिहार में आए भयंकर तूफान को लेकर गांधी जी का अखबारों में वक्तव्य छपा कि, 'बिहार का यह अनर्थकारी भूकंप अछूत जातियों के प्रति हो रहे अत्याचार और पापकर्मों के विरुद्ध ईश्वरीय दंड है।' टैगोर, गांधी जी के इस वक्तव्य पर २८ जनवरी,१९३४ को उन्हें पत्र लिखते हैं जिसमें वे कहते हैं कि, ''मेरे लिए इस पर विश्वास करना मुश्किल है। लेकिन वास्तव में आपका यदि यही विचार है तो मेरे विचार से इसका प्रतिरोध होना चाहिए।'' महात्मा गांधी ने टैगोर की इस असहमति और प्रतिरोध को 'हरिजन' (१६ फरवरी, १९३४ के अंक में) में प्रकाशित किया। 'बिहार का भूकंप' शीर्षक इस लेख में गुरुदेव ने गांधी के उपर्युक्त वक्तव्य की अवैज्ञानिक, विवेकहीन और ब्रह्माण्ड संबंधी घटनाओं को नैतिक सिद्धांत से जोड़ने वाले

अंधविश्वासी के रूप में आलोचना की है, ''हम लोग जो महात्मा जी की अद्‌भुत प्रेरक कर्मणता से अत्यंत आभारी हैं कि उन्होंने देशवासियों के मन को भय और दुर्बलता से मुक्त किया है और जब उन्हीं लोगों के मन में स्वयं महात्मा जी अपने मुख से अविवेकपूर्ण बातों का महत्व दर्शाते हैं तो हम गंभीर रूप से आहत महसूस करते हैं। अविवेक जो सभी अंध-शक्तियों का आधार है, जो हमें स्वाधीनता और आत्म सम्मान के विरुद्ध प्रेरित करती हैं।'' टैगोर के लिए आधुनिक सभ्यता में प्रौद्योगिकी और विज्ञान विवेकपूर्ण मानवता के विकास के लिए अपरिहार्य है। 'विज्ञान के प्रयोग को वे मानव की विपन्नता से मुक्ति का साधन मानते थे।' उनका मानना था कि किसी भी तरह का अंधविश्वास देशवासियों को कमजोर बनाएगा। जब तक 'मानसिक स्वराज्य' नहीं मिल जाता तब तक वास्तविक आजादी नहीं प्राप्त होगी। गांधी स्वयं इस मानसिक स्वराज्य के पक्षधर थे, उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'स्वराज्य आत्मा के लिए होना चाहिए।'[४] रही बात अमानवीय प्रौद्योगिकी और मशीनों की दानवी शक्ति की टैगोर गांधी के साथ थे- 'जहाँ तक महात्मा गांधी की लड़ाई विश्व को उत्पीड़ित करने वाली मशीनों की क्रूरता से है हम सब उनके झंडे तले हैं।' टैगोर के दो नाटकों- 'मुक्तधारा (१९२२)' और 'रक्तकरबी' (१९२६) में विज्ञान के दुरुपयोग और यंत्रों की क्रूरता का रूपक मिलता है। गांधी का 'हिन्द स्वराज' (१९०९) तो इसका 'क्रिटीक' है ही जिस पर पिछले दिनों पूरे विश्व में 'एक वैकल्पिक व्यवस्था' की संभावना के रूप में खूब चर्चा हुई। गांधी आधुनिक ढंग की यांत्रिक सभ्यता की 'सख्त टीका' इस पुस्तक में करते हैं। इसके बावजूद वे १९२१ में टैगोर को उत्तर देते हुए 'यंग इंडिया' में लिखते हैं- ''मैं अपने घर के चारों ओर दीवार नहीं खड़ी करना चाहता और न इसकी खिड़कियों को बंद करना। मैं चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृति की हवा यथासंभव स्वतंत्र होकर मेरे घर की ओर बहे। लेकिन किसी भी बाहरी शक्ति के द्वारा मेरे पैर लड़खड़ाएँ, मैं बर्दाश्त नहीं करूँगा।'' महादेव देसाई ने दिल्ली में सन् १९२४ में रामचन्द्रन से गांधी जी की हुई एक बातचीत का उल्लेख[५] किया है जिसमें रामचन्द्रन का सवाल है कि, 'क्या आप तमाम यंत्रों के खिलाफ हैं?' गांधी जी ने मुस्कराते हुए जो उत्तर दिया वह दिलचस्प है- 'मैं सभी यंत्रों के खिलाफ कैसे हो सकता हूँ, जबकि मैं जानता हूँ कि यह शरीर भी एक बहुत नाजुक यंत्र है। खुद चरखा भी एक यंत्र ही है, छोटी दांत कुरेदनी भी यंत्र है। मेरा विरोध यंत्रों के लिए नहीं, बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है, उसके लिए है। आज तो जिन्हें मेहनत बचाने वाले यंत्र कहते हैं, उनके पीछे लोग पागल हो गए हैं। उनसे मेहनत जरूर बचती है, लेकिन लाखों लोग बेकार हो भूखों मरते हुए रास्ते पर भटकते हैं। श्रम और समय की बचत तो मैं भी चाहता हूँ, परंतु वह किसी खास वर्ग की नहीं, बल्कि सारी मानव जाति की होनी चाहिए। कुछ गिन-गिनाए लोगों के पास संपत्ति जमा हो ऐसा नहीं, बल्कि सबके पास जमा हो ऐसा मैं चाहता हूँ। आज तो करोड़ों की गर्दन पर कुछ लोगों के सवार हो जाने में यंत्र मददगार हो रहे हैं। यंत्रों के उपयोग के पीछे जो प्रेरक कारण है वह श्रम की बचत नहीं है, बल्कि धन का लोभ है। आज की इस चालू अर्थ-व्यवस्था के खिलाफ मैं अपनी तमाम ताकत लगाकर युद्ध चला रहा हूँ।''

इस तीखे चरखा-विवाद के अतिरिक्त टैगोर और गांधी में और भी कई मुद्दों पर वैचारिक असहमतियाँ मिलती हैं। गुरुदेव का गांधी की वर्णाश्रम व्यवस्था की हिमायत एवं शिक्षा व्यवस्था संबंधी विचार और नीति से मतभेद था। हम सब इतिहास के अध्ययन से यह जानते हैं कि महात्मा गांधी की आलोचना करते हुए डॉ. बी.आर. अंबेडकर ने एक लेख लिखा जिसमें यह सवाल उठाया कि 'कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया?' गांधीजी ने इसके जवाब में 'यंग इंडिया' में लिखते

हुए वर्णाश्रम धर्म को अपनी सुरक्षा की छतरी बनाते हुए लिखा कि ''वर्णाश्रम धर्म का अनुपालन न करना ही हमारे आध्यात्मिक व आर्थिक सर्वनाश के लिए जिम्मेदार हैं। निश्चित सुखी जीवन और धार्मिक क्रिया कलाप के लिए वर्ण सबसे अच्छी व्यवस्था है, मैंने भगवद्गीता से यह परिणाम निकाला है।..... एक शूद्र जो ब्राह्मण के गुण अर्जित कर लेता है इस जन्म में शायद ब्राह्मण न कहा जा सके। और यह उसके लिए अच्छी बात है, वह उस वर्ण को पाने का झूठा दावा न करे जिस वर्ण में वह जन्मा ही नहीं।'' वर्ण-व्यवस्था के इस समर्थन को टैगोर गलत मानते थे और उन्होंने जवाब में 'शूद्र धर्म' शीर्षक लेख लिखा जो बांग्ला में 'कालान्तर' पत्रिका में छपा और मूल बांग्ला से अनुदित होकर १९२७ ई. में 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ। सव्यसाची भट्टाचार्य ने इस लेख को व्यंग्यात्मक खंडन-मंडन शैली के लेखन का सर्वोत्तम उदाहरण माना है।

टैगोर और गांधी दोनों ही अपने-अपने स्तरों पर शिक्षा-व्यवस्था के औपनिवेशिक ढाँचे और पद्धति के विपरीत शिक्षण-संस्थाएँ और उनमें लागू की जाने वाली पद्धतियों में लगे हुए थे। गांधी और टैगोर का परिचय ही इसी प्रसंग में उस समय हुआ जब १९१४-१५ में गांधी दक्षिण अफ्रीका के अपने फीनिक्स स्कूल के छात्रों के साथ शांति निकेतन आए। यहीं पर टैगोर ने गांधी को 'महात्मा' और 'गांधी' ने तत्काल टैगोर को 'गुरुदेव' कहकर संबोधित किया। महात्मा गांधी को टैगोर द्वारा लिखित पहला पत्र इसी 'फिनिक्स स्कूल' के छात्रों के बारे में है जिसमें वे लिखते हैं 'अपने छात्रों को हमारे भी छात्र बनाने के लिए मैं आपको धन्यवाद ज्ञापन का यह पत्र लिख रहा हूँ इससे हम दोनों के जीवन की साधना का जीवंत सूत्र निर्मित हुआ है।' बहरहाल, गांधी और टैगोर दोनों का ही शिक्षा के लिए 'उपनिवेशीय साँचे में ढली सरकारी शिक्षा पद्धति से एकदम भिन्न' ऐसी शिक्षा-व्यवस्था पर जोर था जिसमें मातृभाषा पर बल हो, भारतीय जीवन-पद्धति और संस्कृति को महत्व दिया जाय और सृजनशील एवं उत्पादक गतिविधियों में छात्रों की भागीदारी हो। सव्यसाची भट्टाचार्य लिखते हैं- ''टैगोर द्वारा १९२४ में शांति निकेतन में स्थापित ग्रामीण विद्यालय 'शिक्षा सत्र' में गांधी १९२५ में पधारे थे। इसके प्रधानाचार्य ए. विलियम्स आर्यनायकम को गांधी ने १९३४ में वर्धा में गांधीयन प्रणाली पर आधारित प्रयोगात्मक विद्यालय का प्रमुख बनने का आमंत्रण दिया था और इन्हीं आर्यनायकम को १९३७ में गांधी ने बेसिक शिक्षा पद्धति की रूपरेखा तैयार करने वाली समिति का सचिव नियुक्त किया था। जब यह पद्धति जो 'वर्धा पद्धति' के नाम से भी जानी जाती है १९३७ ई. में 'हरिजन' में प्रकाशित हुई और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अगली बैठक में चर्चित हुई, टैगोर ने इसके बारे में कई सवाल उठाए। उनकी टिप्पणियाँ इस पद्धति के दो पहलुओं पर केन्द्रित थीं। पहल प्रश्न, बेसिक शिक्षा पद्धति में उत्पादक शारीरिक श्रम की उपादेयता को प्रमुखता देने के विषय में था, 'जैसा कि यह पद्धति लिखित रूप में उपलब्ध है उससे ऐसा लगता है कि इसमें व्यक्तित्व के विकास की अपेक्षा भौतिक उपयोगिता ही शिक्षा का ध्येय है।'..... दूसरा टैगोर के लिए यह विचार भी कष्टकर था कि निर्धन ग्रामीणों को अलग से एक विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाय जिसमें पहले से ही एक सीमित व्यवसाय निर्दिष्ट हो। टैगोर का प्रश्न था कि, 'क्या निर्धनों की शिक्षा उन लोगों से भिन्न प्रकार की होनी चाहिए जो धनवान हैं।'' टैगोर ने गांधी, मालवीय और कुछ आर्य-समाजी लोगों के इस मत से भी असहमति जताई कि 'पाठ्यक्रमों में धार्मिक शिक्षा का भी स्थान हो।'[६]

अपने बीच तमाम मतभेदों के बावजूद दोनों मनीषियों पर एक दूसरे का गहरा प्रभाव भी था। कई सारे विचारों और मुद्दों पर दोनों एक दूसरे को आंतरिक सहमति और स्वीकृति देते थे। गांधी जी की 'राष्ट्रवाद' संबंधी धारणा, वर्णाश्रम व्यवस्था को सर्वोत्तम मानने के बावजूद अस्पृश्यता

निवारण के लिए उनकी रचनात्मक कार्ययोजना और सांप्रदायिकता की समस्या और उसको हल करने के बारे में उनकी नीति से टैगोर सहमत दिखते हैं। गांधी देश की स्वतंत्रता के लिए शुरू किए जाने वाले किसी भी संघर्ष और आंदोलन से पहले टैगोर से सलाह और आशीर्वाद जरूर चाहते थे। टैगोर को लगता था कि गांधी के कार्यक्रम में कुछ कमियाँ हैं वे दो टूक सलाह के साथ उनकी क्षमता की प्रशंसा करना नहीं भूलते थे। गांधी के संघर्ष और आंदोलन संबंधी कार्यक्रमों में 'आत्मशुद्धि' एक मुख्य आधार हुआ करता था। इसके लिए वे 'आमरण अनशन' को एक प्रमुख हथियार के रूप में इस्तेमाल करते थे। टैगोर गांधी के इस प्रयोग से शुरू से ही असहमत थे। इस लेख के शुरू में इस प्रसंग का उल्लेख हुआ है। ऐसा ही एक प्रसंग यरवदा जेल में गांधी के आमरण अनशन की प्रतिज्ञा का है। २ मई १९३३ को वे आधी रात के बाद १.४५ बजे गुरुदेव को पत्र लिखते हैं- ''प्रिय गुरुदेव, अभी सबेरे के १.४५ बजे हैं और मैं आपके तथा कुछ अन्य मित्रों के बारे में सोचता हूँ यदि संकल्पित उपवास के लिए आपका हृदय समर्थन करता है तो मैं पुनः आपके आशीर्वाद का इच्छुक हूँ।'' टैगोर ९ मई, १९३३ को दार्जिलिंग से इस पत्र का जवाब लिखते हैं। पत्र लम्बा है। वे गांधी के बार-बार इस तरह उपवास के संकल्प से असहमत हैं। पत्र खत्म करते हुए लिखते हैं- ''मैं यह विश्वास करने का प्रयास करूँगा कि आपका संकल्प सही है और मेरी आकांक्षाएँ मेरे अज्ञान की भीरुता से उत्पन्न हुई होंगी।..... स्नेह और समादर सहित ..... रवीन्द्रनाथ टैगोर।'' दो दिन बाद ११ मई, १९३३ को पुनः वे गांधी को दूसरा पत्र लिखते हैं जिसमें उपवास के नैतिक पक्षों पर सवाल खड़ा करते हुए गांधी के अमूल्य जीवन का हवाला देते हुए 'लाखों देशवासियों की खातिर' ऐसा उपवास न करने का आग्रह करते हैं। परन्तु गांधी इस आग्रह को अस्वीकृत कर देते हैं। बावजूद इसके वे बराबर मानते रहे कि, ''आप (टैगोर) सदैव मेरे सच्चे मित्र रहे हैं क्योंकि आप स्पष्टवादी मित्र हैं और अक्सर आपने अपने विचार जोरदार ढंग से मुखरित किए हैं। इस ओर अथवा उस ओर, मुझे आपकी राय का पक्का भरोसा है।'' सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान गांधी ने 'कम्यूनल-एवार्ड' में निहित भेद के आधार पर सांप्रदायिक प्रश्नों को लेकर २० सितंबर, १९३२ को यरवदा जेल में ही उपवास शुरू कर दिया। इस उपवास और उसकी सफलता के लिए भी गांधी ने टैगोर का आशीर्वाद लिया था। गुरुदेव ने महात्मा की प्रशंसा करते हुए पत्र लिखा- ''महात्मा जी, ... छूआछूत के विरुद्ध लड़ाई की अपेक्षा इसमें सफलता पाना अधिक कठिन है क्योंकि हमारे अधिकांश लोगों में मुसलमानों के प्रति बड़ी गहरी घृणा की भावना है और उन्हें हमारे प्रति भी कोई खास प्रेम नहीं है। लेकिन आप जानते हैं कि हठी लोगों के दिल को किस तरह द्रवित किया जाता है और मुझे विश्वास है कि केवल धैर्यपूर्वक प्रेम से जो घृणा सदियों से घनीभूत हो गई है उसे जीता जा सकता है। इसके राजनैतिक परिणामों की गणना करना मैं नहीं जानता लेकिन मुझे विश्वास है कि उससे कीमती और कुछ नहीं है जिससे हम उनका भरोसा जीत सकें और उन्हें आश्वस्त कर सकें कि हम उनकी मुश्किलों को और उनके दृष्टिकोण को समझते हैं। तथापि मैं आपको कोई सलाह नहीं देना चाहता हूँ मुझे पूरा भरोसा है कि आप अपनी समझ से सही रास्ता अपनाएंगे। मैं केवल एक सुझाव देने का साहस करता हूँ कि आप हिन्दू महासभा से अनुरोध करें कि वे दूसरे संप्रदाय के लोगों से सुलह का संकेत दें।''

बाद के दिनों में तो टैगोर धीरे-धीरे गांधी के आत्मबल और उपवास की शक्ति को स्वीकार करने लगे थे- ''मुझे विश्वास हो चला है कि आपके उपवास से जिस आंदोलन का सूत्रपात हुआ है वह सभी कठिन बाधाओं को पार करता हुआ, शक्ति-संपन्न होता जा रहा है।''- ये पंक्तियाँ 'अस्पृश्यता के दानव को उखाड़ फेंकने की मुहिम' में गांधी द्वारा संकल्पित उपवास शुरू किए जाने से

पूर्व गुरुदेव से आशीर्वाद प्राप्त करने के जवाब में टैगोर ने १५ नवंबर, १९३२ के पत्र[७] में लिखीं। गुरुदेव अस्पृश्यता, जाति-पाति और छूआछूत को मानव समाज की आध्यात्मिक एकता के विरुद्ध पाते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि, ''किसी विशेष व्यक्ति समूह के द्वारा शोषण के उद्देश्य से ईश्वर को ईंट गारे के मंदिर की चारदीवारी में बंद कर दिया जाय यह मुझे स्वीकार नहीं।'' गुरुदेव ने शांतिनिकेतन में स्थापित 'प्रार्थनाभवन' के संबंध में उठाए गए कुछ प्रश्नों को लेकर मार्च १९३३ में महात्मा गांधी को पत्र लिखा- ''जहाँ तक शांतिनिकेतन के प्रार्थना-भवन का प्रश्न है, यह हर धर्मावलंबी के लिए खुला है। जैसे इसके दरवाजे किसी के लिए भी बंद नहीं है वैसे ही साधारण पूजा पद्धति में ऐसा कुछ भी नहीं है जो विभिन्न धर्मो के लोगों को वर्जित करें। वैसे हमारी धार्मिक उपासना किसी वृक्ष के तले भी हो सकती है इसकी पावनता और सत्य किसी भी तरह प्रभावित नहीं होगा बल्कि संभवतः ऐसे प्राकृतिक वातावरण में इसका महत्व और बढ़ जाएगा।''

सार्वजनिक रूप से तमाम सहमतियों-असहमतियों और वाद-विवादों के बावजूद दोनों मित्रों में इस बात की एक सहज आंतरिक समझदारी थी कि, 'इस जीवन-लक्ष्य का वास्ता केवल भारत की आर्थिक समस्या अथवा इसके साम्प्रदायिक धर्मों से नहीं है बल्कि अपने विस्तृत अर्थ में मानव के अंतःकरण की संस्कृति को समाहित करना है।' महात्मा और गुरुदेव के बीच के संवादों और बहसों की क्रिया-प्रतिक्रिया को पढ़कर कभी-कभी यह आश्चर्यजनक संदेह होने लगता है कि बीसवीं शताब्दी के इन दो महान पुरुषों का कार्यक्षेत्र अलग होते हुए भी देश और समूचे मानव जाति के कल्याण हेतु इनका योगदान कितना निःस्वार्थ और पवित्र है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में इन दो महान नेताओं के बहसों से निकले सहमति असहमति के निष्कर्षों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुरुदेव मानते थे और उनका अटूट विश्वास था कि गांधी ही ऐसा चमत्कारिक व्यक्तित्व है जो इस देश को वास्तविक 'स्वराज' के रास्ते पर ले जा सकता है- ''बहुत दिन तक हमारे नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया उनके लिए 'देश' नाम की वस्तु वही थी जो अंग्रेजी की इतिहास की पुस्तकों में मिलती है। वह देश अंग्रेजी भाषा के वाष्प से निर्मित एक मरीचिका जैसा था जिसमें वर्क ग्लड्स्टन, मैजिनी, गैरीबाल्डी की अस्पष्ट प्रतिमाएँ ही दिखाई देती थीं। उसमें आत्मोत्सर्ग अथवा देश के लोगों के प्रति यथार्थ सहानुभूति जैसी कोई बात नहीं थी। ऐसे समय में महात्मा गांधी भारत के कोटि-कोटि गरीबों के द्वार पर आकर खड़े हुए उन्हीं की वेशभूषा में और उनकी अपनी भाषा में उनकी बातें कहीं। यह एक सत्य वस्तु थी और इसमें पुस्तकीय दृष्टांत नहीं थे। इसीलिए उन्हें जो महात्मा नाम दिया है वह सही नाम है।'' टैगोर की मृत्यु के चार साल बाद गांधी आखिरी बार शांतिनिकेतन आए। गुरुदेव की उपस्थिति का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा, ''शुरु में मेरी प्रवृत्ति अपने और गुरुदेव के बीच संघर्ष खोजने की थी लेकिन इसका अंत बड़ी शानदार खोज के साथ हुआ कि हम दोनों के बीच ऐसा कुछ था ही नहीं।''

यह सही है कि अपनी वैचारिक मान्यताओं में टैगोर 'अत्यधिक आधुनिक और प्रगतिशील थे'[८] पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि गांधी अंधविश्वासी, दकियानूस और जड़ थे। टैगोर का कार्यक्षेत्र बौद्धिक-दार्शनिक विचार-विनिमय का था जबकि गांधी के समक्ष पूरे भारत की अंधविश्वासी, निरक्षर, रूढ़िवादी जनता थी, जिससे गांधी को संबोधित होना था। संभवतः इसीलिए गांधी को समय-समय पर उन मुहावरों की भी जरूरत पड़ी जिसकी अवैज्ञानिकता से वे परिचित थे। टैगोर गांधी के 'सहराजनीतिक' थे। गांधी इस बात को पूरी विनम्रता के साथ स्वीकारते हुए कहते थे, ''कि हम एक दूसरे की गतिविधियों के पूरक हैं।'' जवाहर लाल नेहरू ने गुरुदेव की मृत्यु पर २७

अगस्त १९४१ को कृष्ण कृपालानी को एक पत्र लिखा, जिसमें वे कहते हैं- ''शायद किन्हीं दो व्यक्तियों में इतना मतभेद नहीं होगा जितना गांधी और टैगोर में था। आश्चर्य की बात है कि बहुत सी समानताओं के बावजूद इन दोनों के आचार-विचार और बुद्धिमानी की प्रेरणा का एक ही स्रोत होते हुए भी वे एक दूसरे से कितने गंभीर रूप से अलग थे- मैं भारत की प्राचीन सांस्कृतिक प्रतिभा के बारे में सोचता हूँ जो एक ही पीढ़ी में, अपनी प्रकृति के अनुसार दो उत्कृष्ट नमूने पैदा कर सकती है जो उसकी बहु-आयामी विशिष्टता के अलग-अलग पहलू हैं।''

आज प्रबल रूप से स्वाग्रही और अहंमन्य संवादहीनता वाले इस समय में महात्मा और गुरुदेव के बीच हुए वाद-विवाद और बौद्धिक आदान-प्रदान संबंधी दस्तावेजों के पुनः जाने का कोई मानवीय और सामाजिक सांस्कृतिक अर्थ निकलता है तो वह यही कि आधुनिक होने, मनुष्य होने, बुद्धिजीवी होने और सभ्य होने का आधार है, पारस्परिक सम्मान और एक दूसरे की गौरव-गरिमा की स्वीकृति के साथ ईमानदार और निष्कपट व्यवहार। इन दोनों महापुरुषों के पत्रों और विचार-संवादों को पढ़ने के बाद लगता है कि मित्रता का मानसिक साहचर्य के धरातल पर क्या मूल्य होता है। सव्यसाची भट्टाचार्य का यह निष्कर्ष महात्मा और गुरुदेव के संबंधों पर कितना सटीक लागू होता है, ''गांधी और टैगोर के बीच बौद्धिक संवाद की अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह है कि राजनैतिक बहसों को उन्होंने दार्शनिक ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया। हद यह थी कि दोनों में से एक राजनैतिक सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर था तो दूसरा बौद्धिक श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर, फिर भी दोनों एक दूसरे से सीख लेने के लिए तत्पर रहते थे। जब यह तथ्य हमारी समझ में आ जाता है तब महात्मा और कवि के बीच हुए बौद्धिक संवाद की विचित्रता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।''

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. देखें, आधुनिक भारत का इतिहास- संपादक- रामलखन शुक्ल, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण- १९९८। (पृष्ठ-५६५)

२. अपने बचपन के दिनों को याद करते हुए टैगोर ने 'छेलेबेला' (Chhelebela) नाम से बंगाली में पुस्तक लिखी जो १९४० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद मार्जोरी साइकस ने ही शांतिनिकेतन में रहते हुए 'विश्वभारती त्रैमासिक' (Vishwa-Bharti Quarterly) के लिए क्रमशः किया था। अप्रैल, १९४० में यह अनुवाद पुस्तकाकार 'My Boyhood Days' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

३. मार्जोरी साइकस की इस बात की पुष्टि टैगोर द्वारा अपने बारे में दिए गए वक्तव्य 'My LIfe' के इस उद्धरण से भी होती है- ''We (members of my family) were ostracized because of our heterodox opinions about religion, therefore, we enjoyed the freedom of the outcaste. We had to build our world with our own thoughts, we had to build it from the foundation, and therefore had to seek the foundation that was firm.''- Lectures and Addresses by Rabindranath Tagore, compiled by: Anthony X. Soares.यह वक्तव्य गुरुदेव ने, यूनिवर्सिटी लेक्चर एशोसिएशन, पेकिंग (चीन) के अध्यक्ष लियांग ची-चाओ के निमंत्रण पर अप्रैल-मई, १९२४ में चीन प्रवास के दौरान दिया था।

४. ''मैं विकास चाहता हूँ, आत्म निर्णय का अधिकार चाहता हूँ, स्वतंत्रता भी चाहता हूँ लेकिन सबकुछ आत्मा की खातिर चाहता हूँ। मुझे तो इसमें शक है कि मानव सचमुच में प्रस्तर युग से आगे लौह युग में बढ़ा है। मैं इस ओर से उदासीन हूँ। हमें अपनी बौद्धिक शक्ति और अन्य सभी शक्तियों का उपयोग आत्मा के विकास के लिए करना है।'' - महात्मा गांधी, १३ अक्टूबर, १९२१ में 'यंग इंडिया' में छपे लेख 'The Great sentinel' के हिन्दी अनुवाद 'महान प्रहरी' से।

५. देखें, नवजीवन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'हिन्द स्वराज' की सन् १९३८ ई. में महादेव देसाई द्वारा लिखित नई आवृत्ति की प्रस्तावना।

६. ''सरकारी-शिक्षा के धर्म निरपेक्ष चरित्र पर आघात कर गांधी जैसे नेताओं ने उस शिक्षा के प्रगतिशील तत्वों पर हमला किया। पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का भी स्थान हो, इस तरह का उनका सुझाव प्रतिक्रियावादी था। गांधी ने विद्यामंदिर योजना को विकसित किया। उन्होंने इसको शिक्षा की बहुशिल्पीय योजना कहा, क्योंकि इसमें व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए सैद्धांतिक और प्रौद्योगिक शिक्षा दोनों का स्थान था। बहुशिल्पीय शिक्षा का सिद्धांत तो प्रगतिशील था, लेकिन जब यूरोप में इस शिक्षा का सिद्धांत निरूपित हुआ तो उसका अर्थ था आधुनिक सैद्धांतिक ज्ञान और आधुनिक उद्योग का समन्वय। लेकिन गांधी ने आधुनिक शिक्षा पर धर्म का मुलम्मा चढ़ाया और उसे बीते हुए युग के हस्तशिल्प से जोड़ दिया। आधुनिक शिक्षा आधुनिक सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में जन्मी थी और उनका पथ-प्रदर्शन कर रही थी। गांधी का प्रयोग पुरातन शिल्पों और आधुनिक शिक्षा का अनैतिहासिक संयोग प्रस्तुत करता था। अवास्तविक और अनैतिहासिकता पर आधारित ऐसी शिक्षा संबंधी योजनाओं को व्यापक समर्थन नहीं मिल सकता था, और न मिला।'' - देखें- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि- ए.आर.देसाई, हिन्दी अनुवाद-प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-२०००, पृष्ठ सं. १२५।

७. इस पत्र के प्रारंभ में केलप्पन नामक व्यक्ति का उल्लेख आया है। केलप्पन नायर एक कांग्रेसी नेता था और १९२० में 'वायकोम मंदिर-सत्याग्रह' में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसी सत्याग्रह के समय उनका संपर्क इझवा लोगों से हुआ था। महात्मा गांधी के संपर्क में ये तभी से थे और 'नमक-सत्याग्रह' के समय मालाबार में इसका नेतृत्व किया था। बाद में केरल में कम्युनिष्ट आंदोलन के जन्मदाता पी.कृष्ण पिल्लई के सम्पर्क में आए।

८. देखें, गांधी गवेषणा- पन्नालाल दास गुप्ता

९. इस लेख में आए शेष सभी संदर्भ और उद्धरण 'महात्मा और कवि', संकलन एवं संपादन- सव्यसाची भट्टाचार्य, हिन्दी अनुवाद तालेवर गिरि, प्रकाशक- नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण २००५ से लिए गए हैं।

‘गीतांजलि’ : अनुवाद की समस्याएँ

रणजीत साहा

‘गीतांजलि’ के अनुवाद में, अनुवादक जिस समस्या से सबसे अधिक रू-ब-रू हुए हैं, वह है इसकी गेयता की रक्षा। बाङ्गला में रक्षा, भिक्षा, प्रतीक्षा, परीक्षा को क्रमशः रक्खा, भिक्खा, प्रतीक्खा और परीक्खा उच्चारित किया जाता है। श, ष, स-‘श’ की तरह उच्चारित किया जाता है। यानी ‘देश’ और ‘निश्शेष’ और ‘दास’- की अन्त्य ध्वनि ‘श’ ही होगी।

सान्त्वना, यंत्रणा, सन्ध्या, हृदय, प्रार्थना, क्षण, असह्य, स्वप्न जैसे तत्सम शब्द ‘गीतांजलि’ में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं- और उनकी मुद्रित और मानक वर्तनी भी यही है। लेकिन इनके उच्चारित रूप, विशेषकर गेय रूप को, हिन्दी अनुवाद में और समरूप मात्रा में अंतरित कर पाना कष्टकर चुनौती है। इसलिए जिन अनुवादकों ने छन्द के आग्रह को हिन्दी अनुवाद में बनाए रखा है, वे असफल हुए हैं। यहाँ यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है कि ‘गीतांजलि’ के अधिकांश अनुवाद शब्दानुवाद और अधिक से अधिक छायानुवाद हैं। अनुवादकों को यह भी लगता रहा है कि मूल ‘गीतांजलि’ अपनी अर्थवान संश्लिष्टता, संक्षिप्तता, व्यंजना, सरलता, गेयता और प्रभावान्वित में एक अद्वितीय सर्जना है। पिछले सौ वर्षों में इसकी व्याप्ति, स्वीकार्यता और मान-गौरव में निरंतर वृद्धि होती चली गई है।

चूँकि बाङ्गला और हिन्दी भाषा की शब्द-संपदा संस्कृत के नाते एक ही है- इसलिए मूल बाङ्गला शब्दों को यथावत् रख देना अधिक सुविधाजनक है- दूसरे, मूल के निकट(तम) बने रहना अधिक सुरक्षित भी है। लेकिन ‘गीतांजलि’ में प्रयुक्त संस्त शब्द संसार यथा पूर्ण, आलोक, संचित, बहुवासना, वंचित, निष्ठुर, पुरातन, सान्त्वना, निस्पन्दित निरलस, द्युलोक, प्लावित, स्निग्ध, शुभ्र, उज्ज्वल, आश्वास, निकष ऊर्ध्व-शिरे, विपुल-भविष्यते, पुण्य आलोक-सम, वाक्य-राशि, आम्र-मुकुल-सौगन्ध्ये, गंध विधुर समीरणे, शयने-स्वपने- जैसे पद-बंध ‘रवीन्द्र संगीत’ (निर्धारित

एवं स्वीकृत स्वर लिपि) में अपनी गेयता के नाते कर्णप्रिय हैं- वहाँ हिंदी में ये अप्रिय और अरुचिकर प्रतीत होते हैं।निविड़, वृक्ष, ज्योत्स्ना, व्यवधान अजस्र, आवर्जना, मिथ्या, नीरव, चूर्ण, निखिल, वृष्टि आदि तत्सम शब्द 'गीतांजलि' में बहुधा व्यवहृत हैं।

बान, डांगा, पुठ, फाँक, हिया, झाँटा, मुठा, डाला, खेद जैसे देशज और स्थानीय शब्द भी गीतांजलि में यथास्थान प्रयुक्त हैं। पर अनुवादकों को, निस्सन्देह ऐसी युक्ति अपनानी पड़ेगी, जिससे एक ओर कविता का मर्म अधिकाधिक सुरक्षित रहे और दूसरे- वह आज के पाठक की संवेदना को भी स्पर्श कर सके। पिछले सौ वर्षों में न केवल बाङ्गला भाषा के बल्कि हिन्दी भाषा के शब्द संसार और इसकी प्रयोग-प्रति में अंतर आया है बल्कि पाठक वर्ग की मानसिकता और ग्रहीताक्षमता में भी गुणात्मक परिवर्तन आया है।

स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अच्छी तरह जान-बूझकर ही, बाङ्गला 'गीतांजलि' के अंग्रेज़ी अनुवाद में पर्याप्त रचनात्मक स्वतंत्रता लेते हुए - इसे 'अनुसर्जन संज्ञा' से अभिहित किया था। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि मूल बाङ्गला पद्य का समुचित पद्यानुवाद निर्बन्ध रूप में संभव नहीं। इसलिए अपने गानों (गीतों) का उन्होंने गद्यानुवाद किया। 'गीतांजलि' के केन्द्रीय भाव और आंतरिक मर्म निवेदन को यथासंभव अक्षुण्ण रखते हुए, उन्होंने गद्यानुवाद प्रस्तुत किया। वह इस बात को भली भाँति जानते थे कि उनके द्वारा अनूदित अंग्रेज़ी गद्यानुवाद का पाठक अंग्रेज़ीदां है और उसकी सम्मिलित मानसिकता का स्तर क्या है। अनुवाद प्रक्रिया में यथासंभव स्वतंत्रता लेते हुए भी विषम एवं विजातीय भाषा अंग्रेज़ी में मूल गानों का स्वर मूल के सर्वथा अनुरूप था- भाषा की विशिष्टता एवं आग्रह के कारण गानों का बाह्य स्वरूप भले बदल गया हो।

भाषिक जटिलता के साथ अलग-अलग भाषा की भाषिक संरचना की बाध्यता या विवशता नहीं होती तो रवीन्द्रनाथ 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी अनुवाद गद्य में नहीं करते।

बहुतों के लिए यह हैरानी भरी सूचना होगी कि सुप्रसिद्ध हिन्दी कथाकार गोपाल राम गहमरी ने रवीन्द्रनाथ की नृत्यनाटिका 'चित्रांगदा' का अनुवाद १९८५ ई में ही किया था। इससे उन्नीसवीं सदी के अंत तक युवा कवि रवीन्द्रनाथ के बढ़ते प्रभाव का पता चल जाता है।हिन्दी में कवि रवीन्द्रनाथ की स्वीकार्यता 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा वर्ष १९०१ ई से लेकर इसके अंत तक बनी रही। छिटपुट अनूदित एवं प्रकाशित होने वाली रचनाओं के बाद वर्ष १९१३ ई में 'गीतांजलि' को नोबेल पुरस्कार मिलने के साथ ही, न केवल हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं में बल्कि अंग्रेज़ी फ्रांसीसी, रूसी, चीनी, जापानी, कोरियाई आदि विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में 'गीतांजलि' तथा कवि की अन्यान्य कृतियों के अनुवाद बहुत तेज़ी से होने लगे। इनमें अधिकांशतः जहाँ स्वान्तः सुखाय थे वहाँ विश्व कवि के रूप में उपलब्ध प्रथम एशियाई और भारतीय के रचना सान्निध्य से प्राप्त प्रसन्नता का आग्रह भी कम नहीं था। वर्ष १९१० में रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रणीत बाङ्गला कृति 'गीतांजलि' और इसी का स्वयं कवि द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित 'गीतांजलि' वर्ष १९१३ में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित रचना है। भारत में नहीं, भारत के बाहर संपूर्ण विश्व के सुधी पाठकों के लिए यह सर्वथा अनिवार्य एवं पठनीय काव्य सर्जना है। विश्व की लगभग सभी समादृत भाषाओं में इसके एकाधिक अनुवाद हो चुके हैं। कहना न होगा, भारतीय भाषाओं में भी, न केवल समर्थ एवं समर्पित अनुवादकों द्वारा बल्कि प्रतिष्ठित रचनाकारों द्वारा भी 'गीतांजलि' के अनुवाद, भाषान्तर एवं भाष्य तैयार किए गए हैं।

काव्य विधा के संबंध में, अनुवादक को मूल के भाव, भाषा, शैली और प्रभाव को लक्ष्य भाषा में अंतरित या संप्रेषित करने में सफलता तभी मिल सकती है जब उसकी भाषा-क्षमता को उसकी

रचना-मनीषा का साथ मिले। 'गीतांजलि' के मामले में मूल गानों के पद-विन्याास, उसमें निहित लय, कवि का मर्म एवं अनुरोध एक दूसरे में इस तरह रचे-बसे हैं कि किसी एक कारक से अनुवादक का ध्यान हटता है तो दूसरा या तीसरा कारक भी अपना संतुलन या प्रभाव खो बैठता है। ऐसे में किसी भी अनुवादक की योग्यता प्रश्नांकित हो जाती है।

प्रसिद्ध अनुवादविद् न्यूमार्क द्वारा अनुवाद के पाँच प्रमुख चरणों के निकष पर 'गीतांजलि' के गानों की पहचान की जा सकती है। मूलनिष्ठता, पठनीयता, बोधगम्यता, संप्रेषणीयता और प्रयोजनसिद्धि के आधार पर 'गीतांजलि' के हिन्दी अनुवादों और स्वयं रवीन्द्रनाथ द्वारा इसके अंग्रेज़ी गद्यानुवाद के बारे में विद्वानों और शोधार्थियों ने चर्चा की है। अनुवाद को 'अनुसृजन' का पद देकर रवीन्द्रनाथ ने अनुवादकों को 'सर्जक' की श्रेणी में बिठाने का सम्मान तो प्रदान किया ही, साथ ही एक सर्जक के नाते मूल पाठ के प्रति निष्ठवान रहते हुए, थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता देने और लेने की वकालत भी की है। 'वन हंड्रेड पोएम्स ऑव कबीर' का अनुवाद करते हुए उन्होंने इस मामले में पर्याप्त छूट ली है। बात 'गीतांजलि' तक सीमित रखें तो इन गीतों की अनुगेयता- हिन्दी में-बहुत बड़ी चुनौती है। क्योंकि ऐसे बहुत ही कम गीत हैं, जो मूल की स्वर लिपि या रवीन्द्र संगीत की स्वीकृत कसौटी पर खरे उतरे हैं।

'गीतांजलि ' का अनुवाद मोटे तौर पर यदि पाठाधारित होगा तो निश्चय ही छायानुवाद तक सीमित रहेगा- भावानुवाद के निकष पर गीतों को लक्ष्य भाषा में प्रस्तुत करते हुए, मूल में संरक्षित कवि के आत्म-निवेदन तथा आतंरिक समर्पण पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

... 'तुम मुझे पुकार लो'

आत्मसम्मान और जातिसूचक पहचान

केशुभाई देसाई

मनुष्य ही क्यों प्राणी मात्र आत्म सम्मान की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है। पालतू कुत्ता हो चाहे पिंजरे में बंद तोता-मैना : सभी को सम्मान अच्छा लगता है। बच्चों को, पशु पंछियों को लाड़ प्यार और सम्मान के बीच भेद करना न भी आता हो पर सामने बैठे व्यक्ति की वाणी के आरोह-अवरोह से, उसके हावभाव से उन्हें शीघ्र पता चल जायेगा कि वह हमें अपेक्षित सम्मान नहीं दे रहा। भ्रूकुटि तन जाने से बच्चा मायूस हो जायेगा। संभव है, रोना भी शुरू कर दे। उसी बच्चे को प्यार से पुचकार लो- वह फूल की तरह खिल उठेगा। बच्चन का नायक यही तो चाहता है:

इसी लिए खड़ा रहा
कि तुम मुझे पुकार लो ...

आदमी चाहता है कि उसे प्यार से, सद्भावपूर्ण शब्दों से पुकारा जाय। उसे हीन भाव से न देखा जाय। दुत्कार या फटकार सुनना किसी को अच्छा नहीं लगता। चाहे वह छोटा हो या बड़ा। चाहे रंक हो चाहे राय। सुधी जन तो जीव मात्र को समदृष्टि से देखते हैं :

'शुनिके च श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'
- बुद्धिमान पंडित तो श्वान और चांडाल को भी समादर देते हैं।

'आत्मवत् सर्व भूतानि यः पश्यति सः पश्यति।'- यह है हमारा स्वीकृत दर्शन। संस्कृत-cultured व्यक्ति वही है जो किसी का तिरस्कार न करे।

परंतु व्यवहार में कुछ अलग ही परिदृश्य देखने को मिलता है। परंपरा से वर्ण और जाति में बंटा भारतीय समाज मानवाधिकार किंवा आत्मसम्मान के प्रति पूर्ण रूपेण उदासीन रहा है। मनुष्य को

जात पांत के आधार पर ऊंच-नीच करार दिया गया है। इस व्यवस्था के मूल में शायद वर्णाश्रम प्रथा से भी पुराना आर्य-अनार्य का खयाल पड़ा हुआ है। आर्यत्व के नाम पर हज़ारों साल बाद जर्मन तानाशाह अडोल्फ हिटलर ने जो नृशंस नरसंहार किया उससे आदमी की आदमियत पर प्रश्नचिह्न लग गया था। संस्कृत विश्व में वहशियत के ऐसे उदाहरण एक या दूसरे नाम से बार-बार दृष्टिगत होते रहे हैं। गुजरात तो नरसिंह मेहता, दयानंद सरस्वती और गांधी जैसे वैष्णवजन पैदा करने वाली भूमि है। यहां भी क्या क्या हो गया! बल्कि पूछिए- क्या नहीं हुआ?

मनुष्य को सबसे प्यारा है उसका अस्तित्व। जीने के लिए वह बाकी सभी मुद्दों पर समाधान कर लेता है। आत्म सम्मान भी ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है जिसे वह युगों से दांव पर लगाता रहा है। यद्यपि दिल से तो वह सम्मानपूर्ण जीवन ही जीना चाहता है। पर उपलब्ध समाज व्यवस्था में यदि आत्म सम्मान संजो कर टिक पाना कठिन या दुष्कर है तो वह शीघ्र ही मन के साथ समाधान कर लेगा। आत्म सम्मान के पीछे शहीद होने से बेहतर है कि परिस्थिति के साथ अनुकूल हो कर अपने घर-परिवार की छोटी-सी दुनिया में जिंदगी बसर की जाय। इस विवश मानसिकता से हमारे 'पिछड़े' लोग हज़ारों साल तक कुत्ते-बिल्लियों की जिंदगी जीते रहे। उनकी तो यह दशा थी :

हम आह भी भरते हैं
तो हो जाते हैं बदनाम
वो कत्ल भी करते हैं
तो चर्चा नहीं होता!

कालक्रम में उच्च वर्णों ने कथित निम्नवर्गों के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्दों को तोड़ मरोड़ कर उनमें स्पष्ट अवमान-बोध डाल दिया। जाति सूचक शब्दावली ने इन निचले स्तर के श्रमजीवी जन समूहों को ठीक उसी तरह निकाल बाहर किया जैसे शुरू से शूद्र वर्ण की बस्तियों को नगर वासियों से दूर, सीमान्त में बसाया जाता था। ग्राम या नगर से उनका केवल निर्धारित गंदे कामों का नाता रहता था। किसान के यहां मवेशी मर जाता तब चमार की जरूरत पड़ती थी। जुलाहे कपड़ा बुनते थे पर उन्हें सवर्ण जाति के घरों में प्रवेश नहीं मिलता था। चमार और जुलाहा दोनों अस्पृश्य समझे जाते थे। दोनों के लिए गांव से कुछ दूर बस्ती बना दी जाती थी। उनसे भी बदतर हालात थे भंगी- मेहतर समाज के। अस्पृश्य माने जाने वाले चमार-बुनकर भी उन्हें नहीं छूते थे। गुजराती में एक मुहावरा प्रचलित थाः 'ढेड़ न ढेड़ भंगी।' वाल्मीकि जाति के ये सफाई कामदार लोग अछूतों में भी अछूत गिने जाते थे।

'ढेड़' शब्द का मूल 'स्थविर' में ढूंढा जा सकता है। पाली और प्राकृत में यह 'थेर' हो गया और 'थेर' से 'ढेड़'। आम्बेडकर विदेश से उच्च शिक्षा प्राप्त कर स्वदेश लौटे तब वडोदरा नरेश श्रीमंत सयाजी राव गायकवाड़ ने उन्हें मेहसाना प्रान्त के विसनगर कस्बे में राजस्व अधिकारी के तौर पर नियुक्त कर दिया। एक 'ढेड़' अफसर के नीचे काम करने के लिए चपरासी तक राजी नहीं था। परिस्थिति भांप कर आम्बेडकर ऊल्टे पांव वापस लौट गए थे। इस घटना से 'हरिजन'- अंत्यज वर्ग की दुर्दशा की तीव्रता का अंदाजा लगाया जा सकता है। 'हरिजन' शब्द तो कितना सुरुचिपूर्ण था! नरसिंह मेहता और दयाराम जैसे भक्त कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त यह शब्द महात्मा गांधी ने ढेड़-चमार-भंगी जैसे तुच्छतावाचक शब्दप्रयोग के एवज में किया तब पूरे देश में उसका स्वागत हुआ था। आम्बेडकर ने उस पर आपत्ति की थी। बाद में स्थिति इस हद तक पहुंची कि 'हरिजन' शब्द का

सार्वत्रिक विरोध हुआ। मायावती जैसी दलित नेत्री एवं कांशीराम जैसे मुखर नेता ने राष्ट्रपिता से खुली खिलाफ़त करते हुए कहा- हम दलित उनके मुताबिक ईश्वर की औलाद हैं तो वे (सवर्ण) शयतान की औलाद हैं क्या?

गुजरात गांधी की भूमि है। साबरमती आश्रम का एक नाम हरिजन आश्रम भी है। गांधीजी भंगी कॉलोनी में रहते थे- जिसे वे 'हरिजन कॉलोनी' पुकारते थे। स्वयं दलित समाज के बुनकर-चमार आदि चूंकि अपने को भंगी जाति से ऊंचा समझते थे इसलिए उन दिनों भी 'हरिजन' शब्द के प्रयोग से कुछ लोग अंदर ही अंदर कतराते थे। बात यहां तक बढ़ गई कि आये दिन 'हरिजन' शब्द वर्जित हो चुका है। ललित साहित्यिक कृतियों में भी इस शब्द पर आपत्ति की जाने लगी है। दलित साहित्यकार यूं तो ठेठ भाषा में समाज की पीड़ा का चित्रण करते रहते हैं फिर भी वे 'ढेड़' या 'हरिजन' जैसे शब्द प्रयोगों को अपमान-सूचक मान कर उनका प्रयोग टालते रहते हैं। मानवाधिकार धर्मी लेखक भी ऐसे शब्दों से परहेज रखने लगे हैं। यद्यपि मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के परहेज से कोई विशेश लाभ नहीं होता। 'ढेड़' या 'भंगी' के एवज में 'हरिजन' कितना सुसंस्कृत शब्द लगता था! गांधी जैसे तपस्वी द्वारा प्रयुक्त होने के बावजूद कालातिक्रम में वह भी फीका पड गया। उसके साथ भी वही अछूत का वर्णाश्रम द्योतक संकेत- stigma लग ही गया। यहां तक कि उस शब्द से पीछा छुड़ाने के लिए राजनेताओं ने देशव्यापी मुहिम चला दी।

गुजरात में एक पिछड़ी जाति है- वाघरी। हिन्दी भाषी प्रदेशों में 'बागड़ी' या 'बहेलिया' जैसे नामों से प्रसिद्ध इस जाति को कभी विमुक्त भटकती (nomadic tribe denotified tribe) जाति के रूप में वर्गीकृत किया गया था। बड़ी मेहनतकश जाति है। दातुन बेचना, जंगल से मधु उतार लाना, पुराने कपड़े बेचना आदि छोटे मोटे काम कर गुजारा करने वाले वाघरी मूलतः शिकारी व्याघ हैं। 'वाघरी' या 'बागड़ी' मूल 'वागुरिक' का अपभ्रंश है। 'वागुरिक' माने जाल बिछाने वाला- बहेलिया। दिल्ली में बसे गुजरातियों की कुल आबादी के ५० प्रतिशत से अधिक इस जाति के लोग हैं। ये छोटा मोटा व्यापार कर लेते हैं। इनकी महिलाएं बड़ी तेज तर्रार होती हैं। जनपथ और करोल बाग में कपड़ों एवं हस्तकला का कारोबार करने वाली ये महिलाएं विक्रय कला में विश्वविक्रम हासिल कर चुकीं हैं। क्या मजाल है कि ग्राहक उपभोक्ता उनके दरवाजे से बिना कुछ खरीद किए वापस लौट पाए! अनपढ़ महिलाएं विदेशी टूरिस्टों से इस हद तक उलझ जाएंगी कि भाषा का माध्यम विक्रेता और उपभोक्ता उभय के लिए पूर्णतया अप्रस्तुत बन कर रह जाता है।

इस विशेष जाति को 'वाघरी' शब्द बड़ा अपमानसूचक लगता था। गुजराती भाषा में किसी को नीचा दिखाने के लिए उसे 'वाघरी' पुकार दिया जाता है। अतः इस जाति के कार्यकर्ताओं ने तत्कालीन केशुभाई पटेल सरकार के समक्ष इस मुद्दे पर गुहार लगाई। सरकार ने इस बात पर गंभीर विचार विमर्श करने के बाद उनके लिए नया नाम ढूंढ निकाला : 'देवीपूजक'। चूंकि ये लोग देवी मां को बलि चढ़ाते हैं और बात-बात में देवी की कसम खा लेते हैं, उन्हें यह नई पहचान अच्छी लगने लगी। परन्तु चारण-गढवी जाति जो अपने को 'देवीपुत्र' कहलवाने में गौरव महसूस करती है वह तो लगातार इसी ताक में रही कि कहीं 'देवी-पूजक' जाति अपने नये परिचय की बदौलत हमारी बिरादरी में शामिल न हो जाय!

'रावल' शब्द बड़ा सम्मानसूचक है। राजपूतों में और ब्राह्मणों में भी यह कुलनाम प्रचलन में है। राजपूत अपनी अलग राजवंशी पहचान प्रस्थापित करने के हेतु से 'राओल' या 'राओलजी' लिखना पसंद करते हैं। ब्राह्मण 'रावल' लिखने का आग्रह रखते हैं। गुजराती में 'रावल' और 'रावळ'

समानार्थी शब्द हैं तथापि 'रावळ' जाति के पिछड़े लोगों के लिए 'रावळिया' जैसा अपमानसूचक प्रयोग होता रहा- सिर्फ उन्हें अलग पहचान देने के हेतु से। मध्यकाल में जातिवाचक शब्द पूर्ण रूपेण स्वीकृत थे। मांगने वाले, प्रेत भोजन के भोगी दरिद्र 'रावळ' के पास भी वही तंबूर रहता था जो किसी संत-भजनिक या संगीतज्ञ के पास। मीराबाई के भजन में भाग्य की चर्चा करता हुआ यही दृष्टांत मिलता है। एक ही बाड़ी के दो तुम्बड़े हैं- एक मंदिर में है। दूसरा 'रावळिया' के घर में! अपना अपना भाग्य! पाठ्यपुस्तक से यह पद हटवाने के लिए रावळ-योगी जाति ने आंदोलन किया था। यह सर्वथा अ-साहित्यिक मांग थी फिर भी मान्य कर दी गयी थी।

गुजरात के 'रावळ' समाज को रावळ/रावळिया शब्द प्रयोग अपमानसूचक लगने लगा तो अपने लिए उन्होंने नया कुलनाम ढूंढ लियाः रावळ-योगी। ये लोग अपने को शंकर की औलाद मानते हैं। भला इससे अन्य लोगों को क्या एतराज हो सकता था। मन मनाने के लिए नये शब्द अवश्य शाताकारक लगते होंगे। परंतु कालक्रम में वे भी वही पुराना संदर्भ धारण कर लेते हैं। संविधान ने नागरिक को यथेच्छ नाम-कुलनाम धारण करने का अबाधित अधिकार दे रखा है। किन्तु उससे वह सामाजिक दुराव थोड़ा ही मिटता है? नया कुलनाम धारण करने पर कुछ समय के लिए केवल मानसिक संतोष भर होता है। कुछ देर तक जाति की असलियत छिपाई भी जा सकती है। पर यह कोई योग्य समाधान नहीं लगता। जातिप्रथा के प्रति आस्था रखने वाले भारतीय समाज में जातिवाचक कुलनाम नहीं लिखने वाले अग्रणियों को भी हम ठीक उनकी जाति के प्रतिनिधि ही समझते आये हैं। चरण सिंह इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उन्हें जाट नेता के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा। जयप्रकाश नारायण कुलनाम नहीं लिखते थे। तथापि उनके कायस्थ होने के बारे में शायद ही कोई अनजान होगा।

गुजरात में 'देसाई' कुलनाम प्रतिष्ठासूचक है। असल में यह पेशवाओं के समय से प्रचलित है। कृषि, व्यापार आदि क्षेत्रों से जुड़े विभिन्न जाति समुदायों में पेशवा ने राजस्व वूसली के लिए 'देसाई' गिरी दी थी। पर गुजरात की ग्वाला जाति जिसे आम लोग 'रबारी' कह कर पुकारते हैं, शुरु से अपने लिए 'देसाई' कुलनाम का प्रयोग करती है। मोरारजी देसाई अनाविल ब्राह्मण थे; हितेन्द्र देसाई नागर थे; धर्मसिंह देसाई और दरबार गोपालदास देसाई पाटीदार थे। लेखक स्वयं कृषकपुत्र है। रबारी 'देसाई' ऐसे नामी-गिरामी देसाइयों में नहीं गिने जाते। यहां पटेल और चौधरी आदिवासी भी होते हैं। पूर्व मुख्यमंत्री अमरसिंह चौधरी आदिवासी थे। लेखक रघुवीर चौधरी उत्तरी गुजरात के आंजणा पाटीदार हैं। 'वाघेला' कुल नाम धारी प्रादेशिक नेताओं में शंकर सिंह वाघेला राजपूत हैं पर फकीरभाई वाघेला दलित हैं। राजपूतों के बहुत सारे कुलनाम दलितों में और दरजी-मोची जैसी जातियों में प्रचलित हैं।

मैं समझता हूँ- जातिसूचक कुलनाम या शब्द को हटा देने भर से कोई सार्थक बात नहीं बनती। सैकड़ों वर्षों से हम जाति प्रथा के संकीर्ण खयाल ढोते रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद भी हमने एक या दूसरे स्वरूप में जाति-प्रथा को जीवित रखने का ही पाप किया है- चाहे वह राजनीति के वोट बैंक के रूप में हो चाहे वंचितों को आरक्षण देने के शुभ हेतु से। जाति प्रथा समाप्त होने की बात तो दूर रही, उसे विशेष प्रोत्साहन मिलता हुआ नज़र आता है। ऐसे विकट कालखण्ड में शत सहस्र जातियों में बंटा भारत विश्व सत्ता के रूप में उभर रहा है यह कोई कम आश्वासन नहीं है। संत और सती की भूमि होने के कारण यहां मनुष्य मात्र को उच्चतर ईश्वरीय चेतना के अंश के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। अध्यात्म की लौ जलती है तब धर्म, संप्रदाय, जात-पांत यहां तक कि स्त्री-पुरुष तक का

भेदभाव लुप्त हो जाता है। यह एक विशिष्ट ऊंचाई की स्थिति है जो भारत के ठेठ देहाती को भी हासिल है। वहां कोई रंक या रईस नहीं; कोई ऊंच या नीच नहीं। राज घराने की मीरा रैदास चमार को अपना गुरु कर सकती है। कबीर और तिरुवल्लुवर अपनी बेबाक बानी में तथाकथित धर्माध्यक्षों और राजे-महाराजों की हंसी उड़ा सकते हैं।

हां, यह बात जरूर है कि किसी नेत्रहीन को 'सूरदास' कहकर पुकारा जाय तो तत्काल एक मंगलमय वातावरण का निर्माण होता है। हालांकि स्वयं उस नेत्रहीन व्यक्ति को पता होता है कि सूरदास भी अंधे थे। शब्द बदलने से यदि आदमी की आत्मा गौरवान्वित होती हो तो फिर वचनेशु किं दरिद्रता?

लेखकों के पते

नामवर सिंह, 32-ए शिवालिक अपार्टमेंट, अलकनंदा, दिल्ली-110019

विजेन्द्र नारायण सिंह, गली न. 1, सराय सैयद अली, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार) मो. 09430061479

शंभुनाथ, 389 जी.टी. रोड, हावड़ा-711106 म0. 9007757887

रविभूषण, 204 रामेश्वरम अपार्टमेंट, साउथ ऑफिस, पारा, दोरंडा,रांची, झारखंड

रामशरण जोशी, 105 समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार-1, नई दिल्ली-110091

गिरीश मिश्र, एम-112 साकेत, नई दिल्ली-110017 मो. 09811265654

हितेन्द्र पटेल, रवींद्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकता

कर्मेन्दु शिशिर, 38/9 न्यु पुनाईचक, दुर्गा मिल वाली गली, पटना-23 मो. 9431221073

आलोकधन्वा, आवासीय लेखक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

एकान्त श्रीवास्तव, द्वारा श्रीमती मंजुल श्रीवास्तव, एल. आई.सी ऑफ़ इंडिया सी,बी.ओ.-21, चौथा तल, हिंदुस्तान बिल्डिंग एनेक्सी, 4 चित्तरंजन एवेन्यु, कोलकता-700072 मो.09433135365

बोधिसत्त्व, श्री गणेश कोऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, सेक्टर न.3, प्लॉट न. 233, चारकोप, कांदीवली (प.), मुम्बई-400067 मो. 09820212573

हरि भटनागर, 197 सेक्टर-बी, सर्वधर्म कॉलोनी, कोलार रोड, भोपाल-42

प्रभाकर श्रोत्रिय, ए-601, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाज़ियाबाद-201012, मोबाइल : 9717266220

अरुण कमल, मैत्रेयी शांति सदन, बी.एम.दास रोड, पटना-1

अनिल राय, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

विनोद तिवारी, रीडर, हिंदी , दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, दूरभाष : 011-27240496

रणजीत साहा, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110067

केशुभाई देसाई, 13-ऐश्वर्य-1. प्लॉट 132, सेक्टर 19, गांधी नगर-382019 मो. 09879543132